परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला 81

मेदपाटमहाराणाकुम्भाकर्णाश्रितसूत्रधारश्रीमण्डनविरचितम्

प्रासादमण्डनम्

(देववास्तुशास्त्रम्)

सान्वय-मूलपाठव्याख्योपेतम्

संपादक एवं व्याख्याकार-
डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्ति नगर
दिल्ली - ११०००७
दूरभाष : २३८४ ५४५६, ५५४४ १५१६

प्रथम संस्करण २००५

ISBN : 81-7110-270-0

मूल्य - ५५० रुपये

मुद्रक:
तरुण ऑफसेट प्रेस,
मेन यमुना विहार, मुख्य मार्ग,
मौजपुर, दिल्ली - ११००९२

Sūtradhāra Maṇḍana's

PRĀSĀDAMAṆḌANAM

(An Indian Treatise on the construction of temple Building)

With text, translation and commentaries

By

Dr. ShriKrishan 'Jugnu'

PARIMAL PUBLICATIONS
DELHI (India)

Published by :
Parimal Publications
27/28, Shakti Nagar,
Delhi-110007
Ph. : 011-23845456, 55441516
Fax : +91-11-27862183
E-mail : parimal@ndf.vsnl.net.in
URL : www.parimalpublication.com

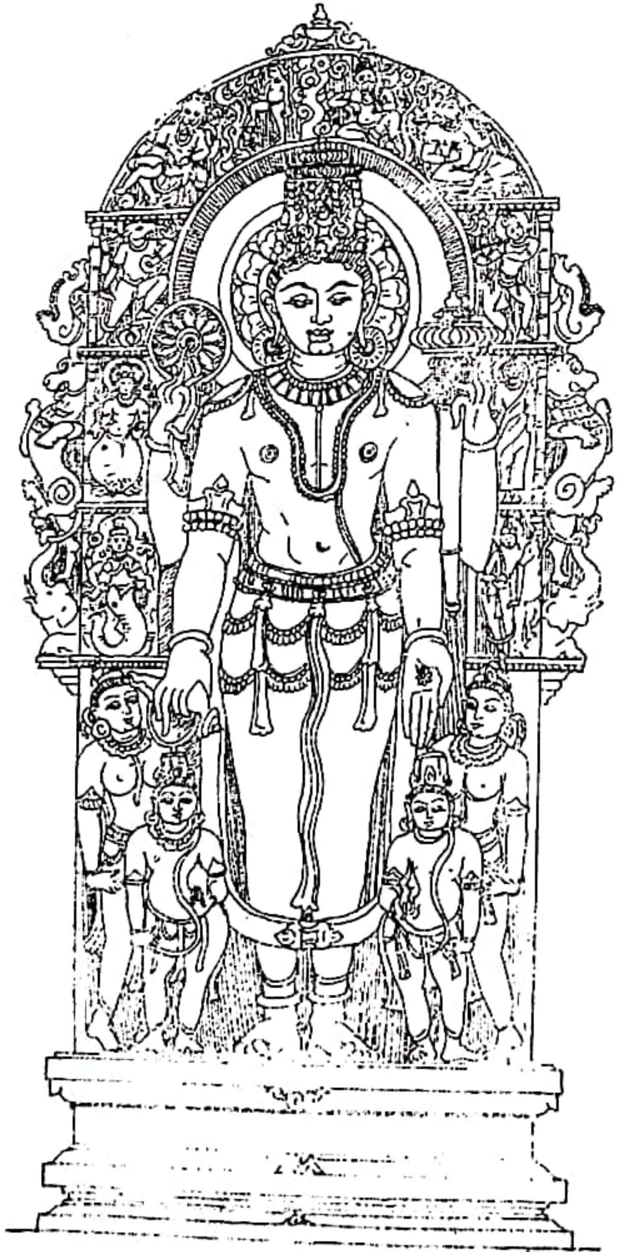
First Edition : 2005

ISBN : 81-7110-270-0

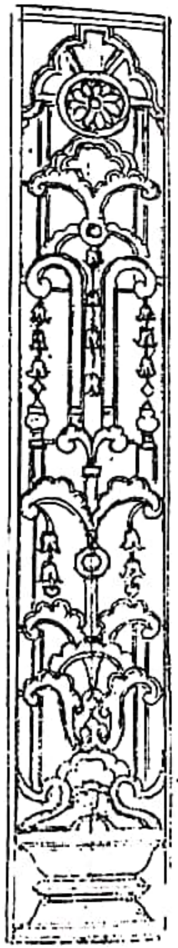
Price : Rs. 550.00

Printed at :
Tarun Offset Printers
Maujpur, Delhi

परम श्रद्धेय पिताश्री व सद्गुरु नित्यलीलालीन
पण्डिततुल्य श्रीमद्मोहनलालजी चौहान
की पुण्यस्मृति में.... ।



नारायण



दशावतार सह विष्णु

उपोद्घात

धार्मिक आस्था के केंद्र में मन्दिर की प्रधानता कब हुई, स्पष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता किंतु इसने जनमानस के बीच एक संस्था से कम रूप नहीं ले रखा है। भारत ही नहीं, विश्व के कई देशों में देव-संस्कृति के प्रसार के साथ ही श्रद्धा और भक्ति के केंद्र के रूप में मन्दिरों का निर्माण हुआ है। ये निर्मितियां वृहत्तर भारत की पहचान देती हैं। मन्दिर वस्तुतः भारतीय जीवन एवं दर्शन की आधारशिला है। ये किसी भी ग्राम, कस्बा, नगर, पुर-पत्तन, राजधानी से लेकर तीर्थों की पहचान हैं। कई शैलियों और स्थापत्य शास्त्रीय अभिकल्पनाओं के साथ देवालयों का निर्माण हुआ। आत्मशक्ति के साथ परशक्ति का अद्भुत सामंजस्य देवालयों के दरबार में ही देखा जा सकता है। ईश्वर को देवालयों में देखने के आकाङ्क्षाभाव ने इनका इतना महत्वपूर्ण बना दिया कि हर आस्थावान् व्यक्ति इनके समक्ष नतमस्तक होता रहा है।

देवालयों के निर्माण की कई विशेषताओं में एक तथ्य यह भी रहा कि यदि किसी राजवंश ने अपनी ओर से कोई देवालय बनवाया तो उससे श्रेष्ठ, आकर्षक और अविस्मरणीय देवालय के निर्माण का विचार अन्य राजवंश के मन में जागा। स्थपतियों ने नाना प्रयोग किए, गणित के विभिन्न सिद्धांतों का सहारा लेकर कभी तृण, कभी मृत्तिका, कभी पाषाण, कभी धातु तो कभी रत्न तक से देवालयों के निर्माण के प्रयोग किए, उनके लाभालाभ निर्धारित किए- *यश्च देवालयं कुर्यात् स्वर्लोके लभते ध्रुवम्। क्रीडा सह सुरस्त्रीभिर्मानवो देवता लभेत्॥* पुराणकारों ने भी इस दिशा में कम योगदान नहीं दिया तो वास्तुविदों का तो कहना ही क्या! स्मृतिकारों ने इसे इष्टापूर्त कर्म के रूप में देखा और फलाफल निर्धारित किए- *इष्टापूर्तादिभिर्यज्ञैयावत् कुर्वन्ति मानवाः। अग्निष्टोमादिपशुभिरिष्टं यज्ञं प्रकीर्तितम्॥ वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। स्वर्गस्थितिं सदा कुर्यात्तद्दानं पूर्वसंज्ञितम्॥ देवानामालयः कार्यो द्वयमप्यत्र लभ्यते। सलिलोद्यानयुक्तेषु कृतेष्वकृकेषु च। स्थानेष्वेतेषु सान्निध्यमुपगच्छन्ति देवता॥*

महाभारत, रामायण जैसे महाकाव्यों, मत्स्यपुराण, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, नारदपुराण, वायुपुराण, शिवपुराण, भविष्यपुराण प्रभृति पुराणों में देवालयों का माहात्म्य, विधान मिलता है। इन विधानों को विस्तृत रूप महाराजा भोज के शासनकाल में मिला जबकि स्थापत्य के विभिन्न अंगों पर व्यापक अनुसंधान हुआ और 'समराङ्गणसूत्रधार' जैसे ग्रंथ का प्रणयन हुआ। उत्तर गुप्तकाल, राजपूतकाल और

मध्यकाल में अगस्त्यवास्तु या सकलाधिकार, काश्यपशिल्पम् या अंशुमद्भेदागम्, प्रासादतिलक, विश्वकर्माप्रकाश, मयमतम्, मानसार सहित विश्वकर्मीय अन्य ग्रंथों में ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, क्षीरार्णव, वृक्षार्णव, वास्तुविद्या, जयपृच्छा, जैसे ग्रंथों में देव स्थापत्य के विभिन्न नियमों का निरूपण हुआ। इस क्रम को यहीं विराम नहीं लगा। बारहवीं सदी के प्रारंभ में, 1130 के लगभग दक्षिण राजस्थान किंवा गुजरात में भुवनदेवाचार्य ने विश्वकर्मापतों का पुनः अनुसंधान किया तथा भारतीय विज्ञान तथा कलाओं पर वृहद्तम ग्रंथ 'अपराजितपृच्छा' की रचना की।

इस्लाम के आक्रमण के दौर में भारतीय कलाओं को करारा झटका लगा। ऐसे में जिन भारतीय राजाओं ने विरासत को संरक्षण देने के लिए बहुतेरे प्रयासों की नींव डाली, उनमें महाराणा कुंभकर्ण का नाम अग्रगण्य हैं। दक्षिण राजस्थान के मेवाड़ देश के शासक कुंभकर्ण या कुंभा ने चित्तौड़गढ़ में उत्तर भारतीय शैली के वास्तुसिद्धांतों की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए कई स्थपतियों की नियुक्ति की। ये ऐसे स्थपति थे जिन्हें देशभर के विभिन्न वास्तु नियमों, सिद्धांतों का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुभव था। सूत्रधार खेता, जयता ऐसे स्थपति थे जिन्हें इस क्षेत्र में कई निर्मितियों के सृष्टा होने का श्रेय दिया जा सकता है।

सूत्रधार खेता के पुत्रों में सूत्रधार मण्डन आर सूत्रधार नाथा ने क्रमशः महाराणा कुंभा और उसके उत्तराधिकारी महाराणा रायमल के आश्रय में कुंभलगढ़ जैसे दुर्ग की नींव डाली तथा विभिन्न मन्दिर बनवाए। यही नहीं, वास्तु व शिल्पशास्त्र के कई ग्रंथों का प्रणयन भी किया। मण्डन के लगभग नौ ग्रंथ हैं, इनमें से सात ग्रंथों के संपादन का मैंने संकल्प किया था। उसके 1. देवतामूर्तिप्रकरणम् अपरनाम रूपावतार, 2. रूपमण्डनम्, 3. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् या राजवल्लभमण्डनम्, 4. वास्तुसारमण्डनम्, 5. आयतत्त्वम् और 6. वास्तुमण्डनम् के बाद प्रस्तुत 'प्रासादमण्डनम्' पर कार्य पूरा करते हुए मुझे हार्दिक प्रसन्नता है कि देव वास्तुविषयक यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है।

स्मरणीय है कि यह ग्रंथ 1948 ई. में मूल रूप से कलिकाता संस्कृत सीरिज में प्रकाशित हुआ था। चालीस वर्ष पूर्व प्रसिद्ध वास्तुशास्त्रोद्धारक पण्डित भगवानदास जैन ने इसे अर्थ सहित जयपुर से प्रकाशित कराया। उन्होंने ही सर्वप्रथम इसका गुजराती अनुवाद किया था, मातृभाषा गुजराती होने से इसका अर्थ तद्नुकूल नहीं हुआ था, फिर जो संस्करण गुजराती का था वह सीमित क्षेत्र तक का होकर रह गया जबकि इस ग्रंथ की मातृकाओं की देशभर में प्राप्ति यह सिद्ध करती है कि यह

रचनाकाल से लेकर अब तक लगभग पाँच सौ वर्षों से लोकप्रिय है। कई शिल्पियों के पास प्रासादमण्डन की पाण्डुलिपियाँ आज तक विद्यमान हैं। प्राच्य विद्या प्रतिष्ठानों में भी इसकी मातृकाएँ मिलती हैं। इन्हीं में से कुछ मातृकाओं का जब मैंने पठन किया तो इस ग्रंथ के पुनर्संपादन और अनुवाद की प्रबल आकाङ्क्षा जागृत हुई। यह भी लगा कि बहु हिंदी भाषी समाज को ही नहीं, कला रसिकों, समीक्षकों सहित वास्तुविदों के निमित्त भी यह ग्रंथ उपलब्ध कराया जाना अति आवश्यक है।

मैंने प्रासादमण्डनम् के उक्त प्रकाशित दोनों पाठों की पुरानी मातृकाओं के पाठ से तुलना की और पाया कि पर्याप्त पाठभेद है, कलिकाता पाठ तो बहुत त्रुटिपूर्ण था। यही स्थिति जयपुर पाठ में भी थी। मैंने इसके एक-एक शब्द का पुनर्शोधन किया। मण्डन द्वारा प्रतिपादित और प्रयुक्त प्रत्येक सिद्धांत, गणित एवं नियम पर विचार किया। पूर्वसूरियों के आलोक में उसकी अध्ययन और संपादन क्षमता को पहचानने का उपक्रम किया और इस संक्षिप्त किंतु महत्वपूर्ण ग्रंथ को प्रस्तुत आकार देने का विनम्र प्रयास किया है। सम्मान्य पण्डित श्रीभगवानदास जैन, श्रीपोपटभाई अंबाशंकर मंकड सहित स्वनामधन्य वास्तुविद् पद्मश्री प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा के दीपार्णवादि ग्रंथों के आधार पर इसे नवीकृत रूप देना चाहा है। इसीलिए मण्डन के श्लोकों के उत्सकारक अपराजितपृच्छा, दीपार्णव आदि सभी ग्रंथों के एतद्विषयक सूत्रों, सन्दर्भों को तुलनात्मक रूप से भी इसमें स्थान दे दिया गया है। कई जानकारियाँ नवीन भी हैं।

मण्डन ने प्राचीन देवालयों के पुनरूद्धार का तो पुण्य लिखा है किंतु प्राचीन ग्रंथोद्धार के लिए नहीं लिखा, मैंने नहीं जानता कि इस प्रयास का क्या फल मिलेगा तथापि मेरा सोचना है कि जब तक देवालयों का निर्माण होता रहेगा, प्रासादों के नींव से लेकर शिखर तक के अङ्गों-उपाङ्गों के निर्माण-निरूपण विधियों, जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा आदि के सम्बन्ध में यह ग्रंथ आधारभूत बना रहेगा। मण्डन ने इसमें पूर्व सिद्धांतों के साथ ही युगापेक्षानुरूप में अपने सिद्धांत भी दिए हैं, जो शिल्पियों के लिए प्रासङ्गिक बने रहेंगे। यों भी मण्डन की यश रूपी काया को कभी जरावस्था या मरणजन्यभय नहीं सता सकता है, जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है- *जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः। नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥*

मण्डन की कर्मभूमि चित्तौड़गढ़-मेवाड़ क्षेत्र मेरी जन्मभूमि रहा है। मण्डन की साधना के स्थायी रूपक-आकारों को मैंने देखा, उनका स्पर्श किया; अपनी पत्रकारिता-शिक्षण आजीविका के बीच मैंने उन निर्मितियों के बारे में एक नहीं,

अनेक बार लिखा। इसी से मुझे मण्डन की कृतियों पर क.र्य करने में रुचि जागृत हुई और मैं इस दिशा में कृतसंकल्प हुआ। विद्वज्जनों को मेरा यह प्रयास रुचिकर लगेगा तो मैं अपना प्रयास सफल हुआ समझूंगा। देवालय जैसे गंभीर विषय पर मेरा विशेष कोई ज्ञान नहीं, मैं तो यही कहूँगा कि- *कवि न होऊं नहिं चतुर कहाऊं, मति अनुरूप रामगुन गाऊं, कवित्त विवेक एक नहिं मोरे सत्य कहऊं लिखि कागद कोरे... ।*

इस ग्रंथ के सम्पादन, अनुवाद में सहधर्मिणी पुष्पा, पुत्री आयुष्मती अनुभूति एवं अनुकृति तथा अनुज श्रीअरविंद चौहान ने पूरा सहयोग किया है। अरविंद और अनुभूति यदि ग्रंथ के संपादन और अनुवाद का श्रीगणेश नहीं करते तो शायद मैं प्रमाद से ही घिरा रहता, किंतु उन्होंने बल दिया। इसके अनुवाद ही नहीं, तुलनात्मक अध्ययन के लिए कई सहायक ग्रंथ क्रय करने पड़े। मैं गुजराती पाठ के लिए सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद के संचालक श्री हीराभाई तथा मातृकाओं के लिए प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर के वरिष्ठ शोधसहायक श्रीरतनदास कामड़ एवं डॉ. श्रीराजेन्द्रनाथ पुरोहित का आभारी हूँ। विषय को विश्लेषित करने के लिए चित्रों, रेखाचित्रों को दिया गया है। जिन उपयोगी रेखाचित्रों को अन्य ग्रंथों से लिया गया, उनके प्रकाशकों के प्रति भी आभार।

यह ग्रंथ परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली के संचालक श्रीकन्हैयालालजी जोशी के सद्प्रयत्नों से आलोकित हो रहा है, वे धन्यवादार्ह है। पाठ संपादन में पर्याप्त सावधानी बरती गई है तथापि त्रुटि होना स्वाभाविक है। विद्वज्जन, गुणीजन सारतः स्वीकार करेंगे और मुझे भी सूचित करेंगे- *भग्नपृष्ठिकटिग्रीवाबद्धमुष्ठिरधोमुखम्, कष्टेन लिखितम् शास्त्रम् यत्नेन परिपालयेत्। यादृशं पुस्तके दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया, यदि शुद्धमशुद्धम् वा मम दोषो मदीयतां॥* श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

विदुषां वशंवदः

श्रीकृष्ण 'जुगनू'

४३, राजश्री कॉलोनी, विनायक नगर,

उदयपुर (राजस्थान)

विषयानुक्रमणिका

४. प्रतिमादृष्टिपदस्थानशिखरध्वजकलशलक्षणाधिकारख्य: चतुर्थोऽध्याय:

प्रासाद निर्माण विधि एवं सूत्रधार मण्डन

भारतीय देववाद की धारणा के विकास के साथ ही उनके निवास और प्रतिष्ठास्थलों के सम्बन्ध में भी धारणा का विकास होता चला गया। देवता के रूप, लक्षण, दिशा, प्रकृति और भावधारा आदि ने इस अवधारणा को विकास के विभिन्न सोपान दिए। इतिहासकारों के अनुसार गुप्तकाल में देववास्तु का स्पष्ट रूप सामने आ गया था किंतु उसका उद्भव इस काल से बहुत पहले ही हो चुका था। कभी गह्वर गुहागृहों में देव निवास को कल्पित किया गया तो कभी चैत्य, चत्वरों और वृक्षों तक में देवस्थान की परिकल्पना की गई।

वैदिक युग में उषा का वर्णन इतना मनोहारी हुआ है कि लगता है तब मानव मन ने प्रकृति चितेरी की विचित्र लीलाओं को साश्चर्य देखा और आनंद सरोवर में निमग्न हो गया था। भौतिक जगत की उथल-पुथल को सरलीकृत रूप में समझने के लिए मानव मन ने ऐसे अनेकानेक देवताओं की अभिकल्पना की जो सृष्टि संचालन में अपना योगदान देते हैं। मानव ने हर गतिविधि के मूल में किसी न किसी शक्ति को जानने का प्रयास किया, यह देववाद उसी विचार की उपज है जिनके लिए प्रतीकों की आवश्यकता जानी गई।

प्रतीक-विकास व देवालय-

संस्कृति के उषःकाल के रूप में खोजे गए प्रमाणों में जो प्रतीक मिले हैं, वे देवस्वरूपों, अर्चाओं, प्रतिमाओं के रूप में पहचाने गए हैं किंतु तब उनकी प्रतिष्ठा, स्थापना के लिए क्या परंपरा थी, इसका खुलासा नहीं हो सका है। यदि वे अर्चाएं चल थी तो स्थान की अवधारणा नहीं थी और यदि अचल थी तो जरूर कोई न कोई प्रतिष्ठा स्थल अवश्य बनाया जाता रहा होगा किंतु जॉन मार्शल प्रभृति विद्वानों का यह अवश्य कथन है कि सिंधु घाटी क्षेत्र से प्रतिमाएँ मिली हैं, वे वहाँ के निवासियों के मूर्तिपूजक होने का संकेत देती हैं।

यह स्वीकारा गया है कि आत्मवाद के साथ ही परमात्मा की सर्वोच्चता की स्वीकारोक्ति ने देवालयों को भी सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् सिद्ध करने के लिए समाज के उर्वर कल्पनाकारों, स्थपतियों को नियुक्त किया जिन्होंने देवरूप, कार्य और प्रकृति के साथ ही स्थानीय लोक मानसिकता, धार्मिकता, अनुयायियों के विचारों और

देशाश्रित प्रकृति के अनुरूप देवालयों का परिकल्पित किया। पुरुष के आकार की भाँति ही परमपुरुष को विराट देवपुरुष के रूप में देखा और देहायतन की तर्ज पर देवालय का विधान किया।

यदि वैदिक युग के प्रमाणों पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि तब प्रार्थना पद्धति से देवताओं की उपासना, आराधना की जाती थी। देवालय का सर्वप्रथम उल्लेख 'शतपथब्राह्मण' में मिलता है जबकि दो मण्डप युक्त मन्दिर बनाए जाते थे और ये मण्डप स्तम्भों व बल्लों पर आश्रित होते थे। इन पर छत या छतिस् डाली जाती थी।[१] धरन् द्वारा छत को आश्रय दिया जाता था जिसे प्राचीन काल में वंश कहा गया है।[२]

ये छतें और भित्तियां प्रायः नरकट की पट्टियों एवं चटाई से आच्छादित की जाती थी।[३] किंतु, अद्यावधि शतपथब्राह्मण के काल का कोई अवशेष नहीं मिला और न ही परवर्ती काल के किसी ग्रन्थ में देवालय निर्माण विषयक कोई स्पष्ट प्रमाण मिलता है। कुषाणकाल तक चैत्य एवं विहारों का निर्माण हुआ। बाद में जबकि गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरूद्धार हुआ, तब स्पष्ट रूप से मन्दिरों का निर्माण होने लगा। यद्यपि इस काल के मन्दिरों का वास्तु-विन्यास बौद्ध-विहारों से अनुप्राणित था और उनमें गर्भगृह के साथ ही चिपटी छतें होती थीं। गर्भगृह के सामने ही स्तम्भाश्रित लघु या वृहद् अलिंद या बरामदा (षण) बनाया जाता था।

प्रासादों की कोटियाँ-

उक्त कालावधि के साथ ही देव प्रासादों के विकास का जो क्रम शुरू हुआ तो मन्दिरों की तीन कोटियां सामने आई-

1. नागरप्रासाद- जो नगरों में नागरकों द्वारा बनाए जाते थे। ये अष्टाङ्ग होते थे। ये अष्टाङ्ग थे- मूल या आधार, मसूरक, जङ्घा, कपोत, शिखर, ग्रीवा, वर्तुलाकार आमलक तथा कलश। इनको उत्तर भारतीय शैली के नाम से भी जाना जाता है।

2. द्राविड़प्रासाद- द्रविड़ शैली के मन्दिर जिनका आधार भाग समचतुरस्र होता है। पर्याप्त ऊंचाई वाले इन देवालयों का प्राङ्गण भी सुविस्तृत होता है तथा प्रवेशद्वार गोपुरम् युक्त होते हैं। दक्षिण में तुङ्गभद्रा नदी से कुमारी अन्तरीप तक इस शैली का विकास हुआ है।

---

१. शतपथब्राह्मण 3, 5, 3, 9
२. वही 3, 1, 1, 6
३. वही 3, 5, 3, 9

3. वेसरप्रासाद- ये मिश्रक मन्दिर भी कहे जाते हैं। इनमें उपर्युक्त दोनों ही शैलियों का मिश्रण माना जाता है। इनका विन्यास द्वितीय (द्रविड़) कोटि का किंतु रूप सज्जा प्रथम (नागर) कोटि की होती है। नामानुरूप ही इनकी आंचलिक विशेषता यह भी है कि भारत में उत्तर व दक्षिण के संधि स्थल पर इनका निर्माण हुआ है। विंध्यपर्वतमाला से कृष्णा नदी तक इनका प्रसार मिलता है। किंतु, यहाँ स्मरणीय है कि आरंभिक विकास के साथ ही मध्यकाल तक इन तीनों ही शैलियों में मन्दिर यत्र-तत्र बनने लगे थे।

इसी आधार पर शिल्पशास्त्र का बहुत कुछ विकास गुप्त और उत्तर गुप्तकाल में ही माना जाता है। प्रारम्भिक मान्यताओं के अनुसार देवालयों की रचना मानव यष्टि की समान ही बनाई गई अर्थात् मानव देह की भांति ही पद से लेकर सिर तक के भाग देवालय में मूल या आधार तथा शिखर कहलाए।

हमारे यहाँ देवालयों के निर्माण जो धारा-परंपरा देखने में आती है, वह पूर्वोक्त तीन कोटियों के साथ ही स्थानीयता से भी अनुप्राणित रही है। इसीलिए राजस्थान के स्थापत्य, उड़ीसा, चंदेल, ग्वालियर, गुजरात-काठियावाड़, ब्रज, काश्मीर, चालुक्य, होयसल, पल्लव, चोल, राष्ट्रकूट, पाण्ड्य, विजयनगर, मदुरै आदि के स्थापत्य में यदि कहीं समानता हैं तो कहीं विभिन्नताएँ भी हैं।

देवालयों के कई पर्याय हैं- प्रासाद, देवायतन, देवालय, देवनिकेतन, देवदरबार, देवकुल, देवागार, देवरा, देवकोष्ठक, देवस्थान, देवगृह, ईश्वरालय इत्यादि। इन सबके मूल में देवावास की कल्पना ही प्रेरित लगती है।

हमारे देश के विभिन्न क्षेत्रों और वृहत्तर भारत ही नहीं, अन्यत्र भी इस कल्पना को आकार मिला है। वस्तुतः एक देवालय किसी पुरुष देहयष्टि की संरचना से कम नहीं हैं। पत्थर, शिला, धातु, रत्नादि इस देवालय-देह की अस्थियाँ हैं जिनसे इसके अङ्ग-उपाङ्ग बनते हैं। पैरों की भाँति ही देवालय की पीठिका बनती है। जङ्घा, स्कन्ध, नासिका, सिर, शिखा- सभी कुछ तुलनात्मक रूप से समसूत्र में जान पड़ते हैं। जिस प्रकार देहयष्टि को सुंदर दिखाया जाता है, उसकी प्रकार देवालय को सौंदर्य बोध के रूप में कलात्मक अङ्कन, प्रतिमाओं के भास्कर्य और उत्कीर्णन के साथ विकसित किया जाता है। जीवित शरीर में जिस तरह हृदय में आत्मा का निवास माना

जाता है, उसी प्रकार देवालय के गर्भगृह में आत्मरूप परमात्मा की अवस्थिति कही गई है। क्षीरार्णव जैसे ग्रंथ में यही अवधारणा प्रस्तुत की गई है।

विश्वकर्मा के अनुसार नींव की शिला को पद के रूप में, गर्भगृह को उदर, नींव को जङ्घा, स्तम्भ को जानु, घण्टा को जिह्वा, दीप को प्राण, प्रणाल को गुदा, देव के ब्रह्मस्थान को नाभि, पीठिका को हृदय, प्रतिमा को पुरुष, पद को अहङ्कार, ज्योति को चक्षु, ऊर्ध्वभाग को उसकी प्रकृति, प्रतिमा को आत्मा, द्वार के कुम्भी के तल के निम्न भाग को लिङ्ग, शिखर के शुकनास को नासिका, झरोखों को कर्ण, शिखर की कायापाली को स्कन्ध और आमलसार के कण्ठ को ग्रीवा, कलश को मस्तक एवं निखिल प्रासाद के भित्ति लेप को मज्जादि का रूप समझना चाहिए-

प्रासादो देवरूपः स्यात् पादौ पाद शिलास्तथा।
गर्भश्चैवोदरं ज्ञेयं जङ्घा पादोर्ध्व मुच्चते॥
स्तम्भाश्च जानवो ज्ञेया घण्टा जिह्वा प्रकीर्तिता।
दीपः प्राणः रूपो ज्ञेया ह्यपाने जल निर्गतः॥
ब्रह्मस्थानं यदैतच्च तन्नाभिः परिकीर्तिता।
हृदयं पीठिका ज्ञेया प्रतिमा पुरुषः स्मृतः॥
पादचारस्त्वहङ्कारो ज्योतिस्तच्चक्षुरुच्यते।
तदूर्ध्व प्रकृतिस्तस्य प्रतिमात्मा स्मृतौ बुधैः॥
तलकुम्भादधोद्वारं तस्य प्रजननं स्मृतम्।
शुकनासा भेवत्रासा गवाक्षः कर्ण उच्चते॥
कायापाली स्मृतः स्कन्धे ग्रीवा चामलसारिका।
कलशस्तु शिरोज्ञेयो मज्जादित्पर संयुतं॥ क्षीरार्णव 1, 1-7

देववास्तु ग्रंथों की परंपरा-

इस प्रकार देवालयों के विकास के मूल में मानव मन का प्रतिष्ठापूर्ण वह सोच है जिसमें उर्वर कला की कल्पना के साथ ही सृष्टि के साहचर्य और परमपुरुष के प्रति नम्य-प्रणम्य भाव की आस्था के बंध भी हैं। अथर्ववेदीय वास्तुसूत्रोपनिषद् की टीका में षट्शिल्प विचार नाम से प्रारंभिक शिल्प विद्या प्रर्वत्तकों का स्मरण किया गया है और तापनीयों का नामोल्लेख किया गया है-

आथर्वणाङ्गिरस शिल्पकाश्यपो होवाच पिप्पलादमहामतिम्। षोडशतापिनी मध्ये वास्तुस्थापकविद्येयम्। य एनां वेद। आथर्वणीये होताद्रातृभिः शिल्पश्रोतृभिः, वास्तोष्पतिर्ज्ञेय इति॥ 1.1

प्रारंभिक और परवर्ती पुराणों में इन विचारों का सुन्दर परिपाक मिलता है। इनमें मत्स्यपुराण, वायुपुराण, वराहपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, अग्निपुराण, गरुडपुराण, भविष्यपुराण सहित उप पुराणों में विष्णुधर्मोत्तर, भविष्योत्तर, शैवधर्मोत्तर, लिङ्गपुराण, कालिकापुराण, नरसिंहपुराण, सूर्यपुराण प्रभृति प्रमुख हैं। महाकाव्यकाल और स्मृति-नीति काल में इस विद्या का विकास हो चुका था और विश्वकर्मा ही नहीं, प्रजापति, नारद, वैश्रवण, पिप्पलाद, मनु, मत्स्य, काश्यप, भारद्वाज, अत्रि और मय आदि स्थापत्यशास्त्रियों या वास्तुविद्या विशारदों के मतों का प्रचार हो चुका था। बहुत संभव है कि वास्तु के सिद्धांतों का प्रारंभ भी देवायतनों के निर्माण सिद्धांतों के ही आधार पर हुआ हो, शुल्बसूत्रम् तो यज्ञ वेदियों की परंपरा को दोहराते हैं जबकि गृहसूत्रों में वास्तु विषयक प्रविधियों का आगमन आरंभ होता है।

विश्वकर्मा, मय की तरह ही वास्तुशास्त्र के 18 उपदेष्टाओं की चर्चा मत्स्यादि में हुई है-

भृगुरत्रिर्वसिष्ठ विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः॥
ब्रह्माकुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती॥ 251, 2-3

इसी परंपरा का विकास बृहत्संहिता और मानसारम् में हुआ है। वराहमिहिर (505 ई.) ने पूर्ववर्ती आचार्यों में गर्ग, मय, विश्वकर्मन, वसिष्ठ, नग्नजित् भास्कर और मनु- इन नामों का स्मरण किया है। लगभग दसवीं शताब्दी में सङ्गृहीत अग्निपुराण में 25 आचार्यों की सूची हो गई और 12-13 वीं सदी में लिखित मानसारम् में इन आचार्यों की सूची 32 तक जा पहुंची। इसी प्रकार की सूची मयमत में भी मिलती है जिनको अपराजितपृच्छा, सनत्कुमारवास्तुशास्त्र आदि ग्रंथकारों ने भी स्वीकार किया है। विद्वानों ने इन सूचियों को भ्रष्ट और काल्पनिक कहा है। इन सूचियों में पुनरुक्ति दोष भी कहा है। यहां यह स्मरणीय है कि चूंकि भिन्न-भिन्न कालों में इन ग्रंथों का लेखन-संग्रह हुआ है इसलिए उस काल तक जो-जो भी आचार्य प्रसिद्ध हो गए उनका नाम इन ग्रंथ सूचियों में संलग्न होता चला गया।

अलेक्जेण्डर कनिंघम, प्रसन्नकुमार आचार्य, स्टेला क्रेमरिश, एच. कोजेंस, आनंद के. कुमारस्वामी, जे. बर्जेस, डीआर भण्डारकर, एसके सरस्वती, केवी सौंदरराजन, वी.ए. स्मिथ, बीएस उपाध्याय, कृष्णदेव वाजपेयी, द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, ब्रुनो डेगेंस जैसे विद्वानों ने इस सम्बन्ध में पर्याप्त विमर्श किया है। अस्तु।

देवस्थापत्य के इस भेदाभेद के गणित ने शास्त्रों को व्यापक फलक दिया है। पुरा महर्षियों के मतों के अनुयायियों ने अपनी परंपरा में जो ग्रंथ लिखे गए, उनमें इन भेदों को लेकर भी प्रकीर्णक हैं। इन शास्त्रों में मयमतम्, मयवास्तु, मत्स्यपुराण, गरुड, भविष्य, अग्निपुराण, लक्षणसमुच्चय, समराङ्गणसूत्रधार, काश्यपशिल्पम्, विश्वकर्मन्त्रवास्तुशास्त्रम्, तन्त्रसमुच्चय, ज्ञानरत्नकोश, वृक्षार्णव, क्षीरार्णव, जयपृच्छा, चतुवर्गचिंतामणि, विश्वकर्माप्रकाश, शिल्परत्नम्, वास्तुविद्या, सच्छिल्पतंत्र, शुक्रनीति, बृहत्संहिता, प्रासादतिलक, वास्तुसारप्रकरणम्, आत्रेयवास्तु, वास्तुप्रकरणम्, प्रमाणमञ्जरी, राजसिंहवास्तुराज, विश्वकर्मामतम्, वास्तुकौतुक, सुखानंदवास्तु, वास्तुशिरोमणि, शिल्पशास्त्रम्, सूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश अथवा अपराजितपृच्छा, वास्तुविधयः, नारदीयशिल्प, वास्तुशास्त्रकारिका, अगस्त्यसकलाधिकार, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, सुप्रभेदागम, कामिकागम, किरणागम, विवेकविलास, वास्तुमञ्जरी, कलानिधि, उद्धारधोरिणी प्रभृति ग्रंथ मुख्य हैं। इनमें से कुछ तो शुद्ध रूप से देववास्तुविषय पर आधारित हैं तो कुछ में प्रतिमा, प्रतिष्ठा, तालमानादि पर विशेष विषय हैं।

महाराणा कुंभा एवं सूत्रधार मण्डन-

उक्त ग्रंथों की कोटि में ही 'प्रासादमण्डनम्' ग्रंथ है जो शुद्ध रूप से देववास्तु विषयक ग्रंथ माना जाता है। सूत्रधार मण्डन को इसकी रचना का श्रेय है। मण्डन सम्प्रति दक्षिण राजस्थानान्तर्गत मेवाड़ (उदयपुर अंचल) के शासक महाराणा कुंभकर्ण जिसे राणा कुम्भा भी कहा जाता है, के दरबार का प्रमुख स्थपति था। उसका जीवनकाल 1433 से 1467 ई. माना जाता है, यही अवधि कुम्भा का राज्यकाल थी। महाराणा कुम्भा ने अपने राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए कई युद्ध लड़े और अक्षय यश के लिए कई प्रासाद, दुर्ग, महल-हर्म्यादि भी तैयार किए थे। इतिहास की अनुश्रुति हैं कि मेवाड़ में कुम्भा ने 32 दुर्गों का निर्माण करवाया। चित्तौड़गढ़ का पुनरूद्धार, यहां रामपोल सहित अन्य सात द्वारों का निर्माण, वजीरियों या बुर्जियों का निर्माण करवाया। नगरी गाँव में क्षतिग्रस्त हुए आदिवराह मन्दिर का

पुनरूद्धार करवाया। कुंभलगढ़, वसंतगढ़ की नींव डाली तथा मालवा आक्रमण के दौरान क्षतिग्रस्त माण्डलगढ़ का जीर्णोद्धार भी करवाया।

स्वयं कुंभा ने भी कीर्तिस्तम्भों के निर्माण की परंपरा को अक्षण्णु रखने के लिए एक ग्रंथ (संभवतः 'स्तम्भराज' नाम था) की रचना कर उसे शिलोत्कीर्ण करवाया और चित्तौड़गढ़ स्थित कीर्तिस्तम्भ या विजयस्तम्भ की जगती के चतुर्दिक स्थापित करवाया। आज इस ग्रंथ की एक ही शिला अवशेष है। शिला पर उत्कीर्ण शिल्पशास्त्र का यह एक मात्र प्रयास कहा जा सकता है। इसका अवशेष मूलपाठ यहाँ अप्रासङ्गिक नहीं होगा-

स्वस्ति श्रीमत्सकलकविताकदलीकदम्बवन्धुः कोमुल्लासः स्फुरतु सुकवेश्चारु सङ्गीतदेव्याः। सान्द्रानन्दं दिशतु शोचिश्च वि...क्र मूर्तिर्लक्ष्मीवक्षस्यल कमलिनी कोशदेश द्विरेफः॥ 1॥ श्रीविश्वकर्मा(ख्य)महार्यवीर्यमाचार्यगुत्पत्तिविधावुपास्य। स्तम्भस्य लक्ष्मातनुते नृपालः श्रीकुंभकर्णे जय भाषितेन॥ 2॥ जयपराजित मुखैर्भणितस्य त्रिधा यथा। इन्द्रस्य ब्रह्मणाश्चापि विष्णोर्नामभिरङ्कितः॥ 3॥ पञ्चषष्टि करोच्छ्रायः शक्रस्तम्भो विधीयते अष्टोत्तरं शतं हस्ता विष्णुस्तम्भसमुच्छ्रय... द्वयोर्मध्यनं मानं ब्रह्मस्तम्भस्य तन्मत्रं उन्तमादिभिदायोगात्स प्रत्येकं त्रिधामवेत्। (...) उत्तमं भेदामारूढो ब्रह्मस्तम्भोयमिष्यते। अमुष्योत्तमताप्रोक्ता मुख्यमान समाश्रयात्॥ 4॥ मे(घ)मानं विभजेच्यतुर्दश विभा(जियेत् तथा?)। एक भागमितं पक्षे चेकस्मिन्मीमा(न् भवे?)त॥ 5॥ चतुर... स्थिरं। तारकासंज्ञकं तस्या तत्रैव ... रपत्रीत्यनुक्रमात्। विमान छंदसा....यां दिशि तद्वारमाद्य भूपो प्रकल्पये... भाग.... क॥ 8॥ भमन्ते नमितंत्यमद्ये कर्म्म मनोहरम्॥ 9॥ मेरो पृ[१]...

इसके कुछ और अंश मुझे मिले हैं जिनमें श्लोकों में वही मत है जो कि 'अपराजितपृच्छा' और 'ज्ञानप्रकाशदीपार्णव' के स्तम्भ निर्माण निर्देशों के सम्बन्ध में कहा गया है। बहुत संभव है कि जयता अथवा मण्डन ने ही इस ग्रंथ का प्रणयन किया हो और इसको नृपैच्छा से उत्कीर्ण किया गया हो। इसको उत्कीर्णकर्ता पोमा रहा होगा जिसकी मूर्ति कीर्तिस्तम्भ के पञ्चमखण्ड में इस अभिलेख के साथ विद्यमान है- स्वस्ति श्री संवत् 1510 वर्षे श्रावणसुदि सोमवारे कीर्तिस्तम्भ राणा कुंभकरणं

---

१. हैण्डबुक टू विक्टोरिया हॉल म्यूजियम उदयपुर, राजस्थान राज्य पुरातत्वविभाग, जयपुर 1961, पृष्ठ 11 क्रमांक 38 व शिलालेख संख्या 10

कारापितं सूत्रधार जइता पुत्र नापा भूमि चूथी। भविष्य में इस अज्ञात विषय पर कार्य करने की अभिलाषा लिए हूँ।

इस प्रकार कुम्भा का शासन शिल्प-वास्तुविद्या के पुरजोर पुनरूद्धार का काल माना जा सकता है। कारु व चारु दोनों ही कलाओं को इस काल में महत्व मिला। कुंभाकाल के काल में लिखे गए लगभग सौ ग्रंथ मिलते हैं, इतना लेखन संभवत: किसी भारतीय नृप के शासनकाल के नहीं मिलेंगे। इस काल में सर्वाधिक किलों, महलों का निर्माण हुआ, जीर्णोद्धार हुआ। प्रचलित सिद्धांतों की युगापेक्षा के अनुसार पुनर्व्याख्या हुई, उनमें तत्कालीन व्यावहारिकता का समावेश हुआ। समकालीन निर्माण इसके जीवंत साक्ष्य हैं। अजेय कुम्भलगढ़ और चितौड़गढ़ के कीर्तिस्तम्भ की प्रशस्तियां इन कालजयी निर्माण कार्यों और निर्माता की उदारता से यशोगान करती हैं-

असौ शिरोमंडनचंद्रतारं विचित्रकूटंकिल चित्रकूटं।
स्वरामकरोन्महीन्द्रो महामहाभानुरिवोदयाद्रिं॥
सरांसि यत्रातितरान्महति वहंति नीलारुणसारसाली।
विभाति तीरागतमानिनीनां मुखारविंदप्रतिमाभिवात्र।
कैलाशाचलसुन्दर हिमगिरिप्रख्य च सर्वकषं-
नानाहेमघटावतसकिरर्मेरोर्हसंत श्रियं।
सर्वोर्वीतिलकोपम मुकुटवच्छीचित्रचले
कुम्भस्वामिन आलयं व्यरचयच्छ्रीकुम्भकर्णोनृप:॥
कैलाशस्य प्रतिनिधिरिदं शङ्करस्याट्टहास
ज्योत्स्नाराशि: किमु हिमवत: कार्णिका भूधरस्य।
इत्थं नाना विषयम् चित्रकूटस्य शृङ्गे
रम्यं हर्म्यं व्यरचयदिलाधीश्वरचक्रपाणै:॥
तदांतिके देवगृहान्महोचानलङ्कृतान् हेमघटावतंसै:।
अकारयच्चादिवराहगेहमनेकधाश्रीरमणस्य मूर्ति:॥
रामकुण्डमराधिपचापप्राज्यदीधितिमनोहरगेहं।
दीर्घिकाश्च जलयन्त्रदर्शनव्यग्रनागरिकदत्तकौतुका:॥

कीर्तिस्तम्भमकारयत्सरणधीरभ्रंलिहाग्रं समाधीशा
सर्वसुपर्वराजहरिति क्रीडानिवासं श्रिय:।
यत्रागत्यसुराङ्गना: सकलभूसाम्राज्यलीलानिधे-
रस्येन्द्रस्य नितम्बिनीजनकृतान् पश्यन्ति लीलारसान्॥
भानु: स्वं रथमेकचक्रमकरोन्मेरोस्तटे पर्यटन्
नवासौ रथचक्रयुग्मसरणिं कर्तुं समर्थोभवत्।
उच्चैर्मैरुगिरेर्नवोदिनकर: श्रीचित्रकूटाचले
भव्यां सद्रथपद्धतिं जनसुखायाचूलमूलं व्यधात्...॥

इस प्रकार एक निर्माता के रूप में कुम्भा ने जिन कार्यों को करवाया, वह सिद्ध करता है कि उसके दरबार में एक नहीं, अनेकानेक शिल्पियों को आश्रय था। कीर्तिस्तम्भ में ही जइता (जेत्र), भूमि (भौम), चूथी (चौथमल), पूंजा, नापा, रेवा, मोडाराम, मदणसी (मदनसिंह), षीमराज (क्षेमराज) जैसे नाम उत्कीर्ण मिलते हैं। जइता के परिवार में ही नारद जैसा शिल्पज्ञ भी था जिसका नामोल्लेख संवत् 1495 के एक लेख में हुआ है। इससे एक वर्ष पूर्व नागदा-कैलाशपुरी (उदयपुर) के अद्भुतजी की प्रतिमा पर सूत्रधार मदन का नाम मिलता है। संभवत: यह मदन और कीर्तिस्तम्भ में नामोल्लिखित मदणसी एक ही हों। नागदा का लेख उसके पिता का नाम धरणा बताता है।

दूसरी ओर कुंभलगढ़ में देपाक का नाम व मूर्ति हैं। इन शिल्पियों के लिए आचार्य तुल्य स्थान सूत्रधार लाषा के बाद मण्डन को ही प्राप्त रहा होगा। ऐसा जान पड़ता है कि शास्त्रीय सिद्धांतों में निष्णात् मण्डन पर ही यह दायित्व था कि पुष्कल मात्रा में हो रहे निर्माणकार्यों में लगे शिल्पियों, सूत्रधारों के लिए निर्देश ग्रन्थ, निर्देशन-रेखाएं (गाइडलाइन) तैयार करे, मण्डन ने यह दायित्व भली प्रकार निभाया। उसने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का अवलोकन कर समकालीन आवश्यकताओं के अनुसार जो ग्रन्थ तैयार किए, वे अलग-अलग स्थानों पर उसके ही ग्रन्थ तुल्य सम्मान पा गए।

प्रसिद्ध पुरातत्वविद् श्रीरत्नचंद्र अग्रवाल ने मण्डन के योगदान को रेखाङ्कित करते हुए लिखा है कि मेवाड़ का कुम्भलगढ़ नामक विशाल दुर्ग महाराणा कुम्भा के आदेशानुसार सूत्रधार मण्डन की अध्यक्षता में बनाया गया- यह इतिहासकारों का मत है; यद्यपि मण्डन द्वारा इस बृहत्कार्य को करने का प्रामाणिक आधार तो अद्यावधि

अप्राप्य ही है। कुम्भलगढ़ दुर्ग पर संवत् 1515-16 (तद्नुसार 1458 ई.) में कुछ महत्वपूर्ण प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा हुई तथा ये कृतियां मण्डन विरचित 'रूपमण्डन' नामक ग्रंथ में वर्णित वृत्तानुरूप ही उत्कीर्ण की गई थी।[१]

श्री अग्रवाल की मान्यता है कि एकलिङ्गजी के विशाल परकोटे के अन्दर 15वीं सदी ई. की कला के प्रतिनिधि स्वरूप विष्णुमन्दिर के बाहर तीन प्रधान ताकों में तीन मुखों एवं क्रमशः 8, 12 एवं 16 हाथों वाली विष्णु प्रतिमाएं तो 'रूपमण्डन' (अध्याय 3) द्वारा प्रतिपादित वैकुण्ठ, अनन्त एवे त्रैलोक्यमोहन स्वरूपों को चरितार्थ करने में पूर्णतया समर्थ हैं।[२]

ऐसा लगता है कि यह विष्णु मन्दिर भी राणा कुम्भा के राज्यकाल में तथा सूत्रधार मण्डन की अध्यक्षता में निर्मित हुआ था। इस शिल्पी ने शिल्प एवं वास्तु विज्ञान विषयक कतिपय ग्रंथों को संस्कृत में लिखा तथा 17वीं सदी ई. तक तो वह अखिल भारतीय ख्याति का महापुरुष बन चुका था। गुजरात में 1661 ई. में लिखित मुहूर्तदीपक में महादेव दैवज्ञ ने मण्डन कृत राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् के श्लोक उद्धृत किए हैं। मण्डन के 200 वर्ष उपरांत उसके सभी ग्रंथ बनारस के प्रमुख पण्डित कवीन्द्राचार्य के पुस्तकालय में विद्यमान थे।[३]

उत्तर भारत, गुजरात तथा राजस्थान के सोमपुरा सहित अन्य सभी सूत्रधारों ने मण्डन के ही निर्देशों को अपने स्थापत्य निर्माण की आधार रेखा माना, वे मण्डन की परंपरा का अनुकरण कर आत्म गौरव की अनुभूति करते हैं। उनकी कृतियों का स्फूर्तिस्रोत तो मण्डन द्वारा संपादित ग्रंथ ही स्वीकारे जाते हैं। वास्तुविज्ञान में ऐसा शायद ही कोई विषय होगा जिसे मण्डन ने नहीं छुआ हो। हेरिटेज कंजरवेशन या विरासत के संरक्षण की आज विकसित अवधारणा को मण्डन ने भलीभांति महत्व दे

१. शोधपत्रिका 8, 3, पृष्ठ 1-11

२. उपर्युक्त 9, 1, पृष्ठ 7-19

३. इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, कोलकता वर्ष 16, 1940 पृष्ठ 306-319; जर्नल गुजरात रिसर्च सोसायटी, मुम्बई 1(4) भगवानलाल इन्द्रजी स्मारक ग्रंथ, 1939, पृष्ठ 39-60; हरविलास सारडा- महाराणा कुम्भा, पृष्ठ 167, गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा- राजपूताने का इतिहास, भाग 2, पृष्ठ 627, तथा, थियोडोर आफ्रे ख्ट-केटलॉग्स केटलॉगरम, लीपजिग भाग 1, 1891 पृष्ठ 730 आदि

दिया था, उसके स्वयं के जीवन में मन्दिरों, दुर्गों, महलों, द्वार तथा जलस्रोतों का अनुरक्षण होने लगा था।

विभिन्न सूचीपत्रों के अनुसार मण्डन के ग्रंथों को विषयानुसार निम्न भागों में बांटा जा सकता है-

शिल्पशास्त्र विषयक ग्रन्थ-

1. रूपमण्डन् एवं 2. देवतामूर्तिप्रकरणम् अथवा रूपावतार

जनवास्तुशास्त्र विषयक ग्रन्थ-

1. वास्तुमण्डनम् 2.वास्तुसारमण्डनम् 3. भूपतिवल्लभ अथवा राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम् 4. वास्तुशास्त्र एवं 5. आयतत्त्वम्

देववास्तु विषयक ग्रन्थ-

1. प्रासादमण्डनम्

इसी प्रकार सूत्रधार मण्डन की कतिपय अन्य रचनाएं भी मेरे देखने में आई जिनके विषय हैं ज्योतिष, शाकुन तथा चिकित्सा। इन ग्रंथों के नाम हैं-

1. ज्योतिषमण्डनम् तथा

2. शाकुनमण्डनम्।

मण्डन ने फुटकर रचनाएं भी कीं, उसकी डायरी रचनाओं का संग्रह 1649 ई. तक देखा गया था। उसके वंशज सूत्रधार हमीर ने इसका पुनर्लेखन किया था। इसमें एक 'बन्दीस्तोत्र' भी था। हमीरकृत यह खण्डित मातृका मेरे देखने में आई। इसमें बंदी स्तोत्र के अन्तिम श्लोक इस प्रकार हैं-

'... ह करितः सर्प्याग्नितोयोद्भवं।
राक्षस्तस्कर वैरिभीविहरणं त्वं नाम मात्रं शिवे ॥ 7 ॥
सर्वापद्‌ग्रह शाकिनी प्रमथनं दुःस्वप्न विध्वंसनं।
बंदी प्रीतिकरं महाक सुखकरं स्तोत्र पठित्रं परं ॥ 8 ॥
बंधष्टकं मण्डन सूत्रधार विनिर्मितं श्रीगिरिकुंभ(ल)मेरौ।
पठंति भक्त्यापुरुषाय एव, मुच्यंति ते बंधनतःक्षणेन ॥ 9 ॥

इति श्रीसूत्रधारमण्डनकृत बंदी स्तोत्र संपूर्ण। संवत् 1706 वर्षे मार्गसिर सूदि 13 गुरौ लिखितं सूत्रधार हमीर उदेपुर मध्ये ॥'

मण्डन के पुत्र गोविन्द ने चिकित्सा विषयक ग्रन्थ 'सारसमुच्चय' की रचना की थी। कहते हैं कि इस ग्रंथ का प्रवर्तन मण्डन ने किया था किंतु इसे पूर्ण गोविंद ने किया था। यह, अपेक्षाकृत विस्तृत ग्रन्थ है और इसमें विभिन्न व्याधियों के निदान व उपचार की विधियां दी गई है।[१]

उदयपुर के पण्डित स्व. नाथूलाल व्यास की मान्यता है कि मण्डन ने ही 'कलानिधि' का लेखन भी आरंभ किया था तथा अवशिष्टांश उसके पुत्र गोविंद ने महाराणा कुम्भा के उत्तराधिकारी महाराणा रायमल के राज्यकाल में पूरा किया। पण्डित व्यास ने इस सम्बन्ध में निम्न पङ्क्तियां उद्धृत की है–

भुवनेश्वर मानस्य तत्प्रणीताद्यतंत्रत: ।
विधियते सुरागारशिखरार्थ कलानिधि: ॥ 1 ॥
बहुधा शिखराणिस्फेरकस्या पित्तलस्य हि ।
प्रासाद जातयो नामान्यत ऊर्ध्वानुसारत: ॥ 2 ॥
... ...
प्रासादमण्डन इतिश्री सूत्रधार मण्डन विरचितं
या कलानिधी रेषार्णवनिर्णय प्रकाश: ॥ 2 ॥

इति श्रीसूत्रधारगोविंदविरचितायां कलानिधिप्रासादोद्धर्वनाम निर्णयप्रकाश: ॥

किंतु, इस सम्बन्ध में कहते हुए अतिशयोक्ति नहीं है कि उक्त आधार पर यह कह दिया जाना कि इस ग्रंथ को मण्डन ने शुरू किया था, पर्याप्त नहीं है। मैंने 'कलानिधि' की तीन प्रतिलिपियों के आधार पर पाया कि उसमें उक्त पङ्क्तियों की अपेक्षा 'प्रसादमण्डनम्' से कतिपय श्लोक उद्धृत किए गए हैं, जैसे कि अपराजितपृच्छा, भोजकृत समराङ्गणसूत्रधार, दीपार्णव, विवेककल्पलता, क्षीरार्णव, जयपृच्छा आदि से भी श्लोक लिए गए हैं। पण्डित व्यास की उक्त पाण्डुलिपि संवत् 1681 में तैयार की गई थी जिसे देखकर रत्नचंद्र अग्रवाल ने लिखा था कि इसमें भाषा सम्बन्धी बहुत त्रुटियां विद्यमान हैं।[२]

---

१. राजस्थान ऑरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट उदयपुर कलेक्शन, केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, पृष्ठ 316, ग्रंथाङ्क 2826 प्रथम, 490

२. सम्मेलन पत्रिका- कला अङ्क पृष्ठ 293

इस मातृका को लेकर मैंने श्री अग्रवाल से पत्राचार किया और उनका कहना था कि उनके पास इस मातृका के विषय में अब कोई जानकारी नहीं है। उदयपुर के साहित्य संस्थान में जहां कि श्री व्यास ग्रंथ संग्रह उपलब्ध बताया गया है, वहां पर भी सम्पर्क किया किंतु कोई पता नहीं लगा। भण्डाकर ऑरियंटल इंस्टीट्यूट, पूना, द एशियाटिक सोसायटी, कोलकता, गायकवाड ऑरियंटल इंस्टीट्यूट, बडौदा, एलडी ऑरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, अहमदाबाद, आचार्य श्रीकैलाशसागर सूरि ज्ञानमन्दिर, कोबा से भी पत्राचार किया किंतु सफलता नहीं मिली।

मण्डन अपने जीवनकाल में बहुत सम्मान्य था। उसे प्राप्त सम्मान की अभिव्यक्ति स्वयं उसके शब्दों में इस प्रकार है- कार्य पूरा हो जाने के बाद सूत्रधार की पूजा की जाती है। गृहपति अपनी शक्ति के अनुसार भूमि, स्वर्ण, वस्त्रालङ्कार आदि प्रदानकर सूत्रधार सहित अन्य समस्त शिल्पी, सहशिल्पियों का बहुमान करते हैं। जिस मन्दिर में शिला या काष्ठ द्वारा निर्माण कार्य में संलग्न होने वाले शिल्पीजन ससम्मान आहार लेते हैं वहां भगवान शिव अन्य देवगणों के साथ बिराजमान होते हैं। सूत्रधार ही ईष्टापूर्तकर्म से प्राप्य पुण्य को देने वाला होता है, अत: निर्माता को इसके लिए उसी से प्रार्थना करनी चाहिए, सूत्रधार को शुभाशीष देना चाहिए–

इत्यनन्तरत: कुर्यात् सूत्रधारस्य पूजनम् ।
भूवित्तवस्त्रालङ्कारैर्गोमहिष्यश्ववाहनै: ॥
अन्येषां शिल्पिनां पूजा कर्त्तव्या कर्मकारिणाम् ।
स्वाधिकारानुसारेण वस्त्रताम्बूलभोजनै: ॥
काष्ठपाषाणनिर्माणकारिणो यत्र मन्दिरे ।
भुञ्जतेऽसौ तत्र सौख्यं शङ्करत्रिदशै: सह ॥
पुण्यं प्रासादजं स्वामी प्रार्थयेत्सूत्रधारत: ।
सूत्रधारो वदेत् स्वमिन्नक्षयं भवतात्तव ॥[१]

निश्चय ही मण्डन अपने जीवन में बहुसम्मान्य व्यक्तित्व का धारक था। जब तक महाराणा कुम्भा जीवित रहा, उसके सम्मान में कमी नहीं आई किंतु कुम्भा की उसके ही पुत्र उदयकर्ण ने हत्या कर दी थी और लगभग पाँच सालों तक शासन किया, ऐसी

---

१. प्रासादमण्डनम् 8, 82-85

स्थिति में संभवतः मण्डन के साथ क्या व्यवहार हुआ- यह कहने के लिए कोई आधार नहीं मिला।

मैंने सूत्रधार मण्डन के निधन पर चिताशेष धातुओं पर बनने वाले चैत्य-चत्वर या छतरी की खोज की दिशा में कुंभलगढ़ तथा मण्डन को दत्त में मिले गांव गुन्दाली (सम्प्रति उदयपुर जिलान्तर्गत गोगुंदा तहसील) आदि की यात्रा की, अन्य भी बहुतेरे प्रयास किए, किंतु अद्यावधि सफलता नहीं मिली। ऐसा ज्ञात होता है कि कुम्भा के रहते हुए ही मण्डन का निधन हो गया था जैसा कि मण्डन ने अपनी अन्तिम रचना 'राजवल्लभवास्तुशास्त्रम्' में कुम्भा के दरबार में अपनी स्थिति को दर्शाया है, उदयकर्ण के शासनकाल में लिखी उसकी कोई रचना नहीं मिली, तथापि 'बंदीस्तोत्र' से यह भी बोध होता है कि क्या वह तत्कालीन राजनीतिक षड्यंत्रों का शिकार होकर बंदी तो नहीं बना लिया गया और उसकी मृत्यु को गुप्त रखा गया।

यह भी विचारणीय है कि कुंभा के काल के शिल्पियों में सूत्रधार नाथा की उसके पुत्रों सहित मूर्ति विजयस्तम्भ में और सूत्रधार देपाक की प्रतिमा रणकपुर के मन्दिर मे स्थापित की गई है, वहीं मण्डन जैसे महत्वपूर्ण स्थपति की मूर्ति, छत्री कहीं नहीं मिलती किंतु उसकी मूर्ति बनी अवश्य होगी जिसे बाद में नष्ट कर दिया गया हो। हालांकि इस दिशा में निश्चय पूर्व कहने के लिए अन्य कोई स्रोत नहीं है।

पाँच ही साल बाद जब कुम्भा का दूसरा पुत्र रायमल (1472–1533 ई.) मेवाड़ का शासक बना तो मण्डन के अनुज नाथा को उसने अपना दरबारी सूत्रधार नियुक्त किया तथा मण्डन के पुत्र गोविंद व ईश्वर भी स्थापत्य शास्त्री तुल्य रहे। बाद में, मण्डन के पौत्र छीतर, प्रपौत्र राजा आदि को भी बहुमान बराबर रहा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि सूत्रधार खेता से भंगोरा भारद्वाज परिवार की वंशावली उपलब्ध है। सूत्रधार खेता के दो पुत्र हुए- 1 मण्डन और 2. नाथा। इसमें से मण्डन की वंशलता आगे चली, दो पुत्र हुए- 1. गोविंद एवं 2. ईश्वर। ईश्वर का पुत्र छीतर हुआ। गोविन्द का पुत्र राजा हुआ। राजा का भाणजी हुआ। भाणजी के तीन पुत्र हुए 1. अचला 2. मुकुंद तथा 3. भूधर। मुकुंद के क्रमशः 1. हीरा 2. सगर 3. भदा व हमीर हुए। सूत्रधार हमीर के तीन पुत्र हुए 1. वाघा 2. पुंजा व 3. सार्दुल। (राजसमन्द की राजप्रशस्ति में सूत्रधार वाघा के पिता का नाम मुकुंद दिया गया है) सार्दुल का पुत्र कान्हा हुआ। वाघा के क्रमशः 1. भवानीदास 2. किसोरदास 3. देवीदास 4. रणछोड़ या रघुनाथ हुए। भवानीदास के 1. चतुर्भुज व 2. गंगारामजी हुए

जबकि गंगाराम के पुत्रों के नाम शंभु व शिवराम थे। शंभु के कालूजी व शिवराम के केरिंगजी हुए। केरिंग का गणेशराम व देवजी हुए। गणेशराम के उदेराम व उदेराम के नारायण व एकलिंगजी हुए। नाराणजी के नंदलाल व दिनेश हुए जिनका निधन कुछ वर्षों पूर्व हुआ। दूसरी ओर, शंभु पुत्र कालू के भेरजी, भगवान तथा रामेश्वर हुए। इनमें से रामेश्वर के नराणजी व तुलसीराम हुए। नराणजी के मोड़ीराम हुए। यह परिवार रियासती काल तक शिल्प सहित चित्रकला से जुड़ा रहा। अन्तिम शासक महाराणा भूपालसिंह (1930–48 ई.) तक इस परिवार के सदस्यों का सम्मान बना रहा। इस परिवार के बनाए चित्रों ने भी बहुत ख्याति अर्जित की है।

प्रासादमण्डन : उत्स एवं महत्व-

यह ग्रंथ सूत्रधार मण्डन के अन्य ग्रंथों के अन्त में प्रयुक्त 'मण्डन' संज्ञा लिए हुए है। मेरा मानना है कि जिन दिनों चित्तौड़गढ़ में कुम्भा की आज्ञा से राजमहल के निकट ही शृङ्गारचंवरी (सम्प्रति प्रतिमा विहीन जिनालय), शिवालय और विष्णुप्रासाद (सम्प्रति मीराबाई का मन्दिर) का निर्माण प्रस्तावित हुआ था, तब सूत्रधार मण्डन ने इस ग्रंथ की रचना की क्योंकि इसमें इन तीनों के ही स्थापत्य का संकेत मिलता है। बाद में जबकि मण्डन को कुंभलगढ़ के निर्माण और जीर्णोद्धार का दायित्व सौंपा गया था, तब मण्डन ने इसकी पुनः रचना आरंभ की।

इस ग्रंथ की रचना दो स्तरों पर हुई लगती है। ग्रंथारंभ में भी वह मंगलाचरण करता है और पाँचवें अध्याय के आरंभ में भी इसे दोहराता है। यथा- ग्रंथारंभ में-

गणेशाय नमस्तस्मै निर्विघ्नसिद्धिहेतवे।
आदिगौरीसमुद्भूततेजसा सम्भूताय वै॥
महामायेति या गीता चिन्मयी मुनिसत्तमैः।
तनोतु वाग्विलसं मे जिह्वायां सा सरस्वती॥
सृष्ट्याद्यसूत्रधारस्य प्रसादाद् विश्वकर्मणः।
प्रासादमण्डनम् ब्रूते सूत्रधारेषु मंडनः॥ (1, 1–3)

पाँचवें अध्याय के आरंभ में वह लिखता है-

नानाविधमिदं विश्वम् विचित्रम् येन् सूत्रितम्।
सूत्रधारः श्रेयसेऽस्तु सर्वेषां पालनक्षमः॥
न्यूनाधिकं प्रसिद्धं च यत् किञ्चिन्मण्डनोदितम्।
विश्वकर्मप्रसादेन शिल्पिभिर्मान्यितां वचः॥ (5, 1–2)

इससे लगता है कि उसने क्रमिक रूप से यह ग्रंथ लिखा अथवा यह भी सम्भव है कि उसने दो ही क्षुद्र ग्रंथ लिखे और बाद में एक कर दिया गया हो। पाँचवें अध्याय से जबकि ग्रंथ का उत्तरार्द्ध आरंभ होता है, उसने विश्वकर्मामत के रूप में पूर्व ग्रंथों के उद्धरण अधिक दिए हैं और स्वीकार किया है कि उस समय तक प्रासादमण्डन का पूर्व भाग प्रसिद्ध हो चुका था- न्यूनाधिकं प्रसिद्धं च यत् किञ्चिन्मण्डनोदितम्। मण्डन के पुत्र गोविंद ने चूंकि इस ग्रंथ का नामोल्लेख किया है अत: प्रतीत होता है कि मण्डन ने ही इसे अपने जीवनकाल में संपादित, एकमेव कर दिया था।

कुल 435 श्लोकों वाले प्रासादमण्डनम् में आठ अध्याय हैं, पुरानी और नवीन मातृकाओं में भी अध्यायों का क्रम यही मिलता है-

1. मिश्रकलक्षणनाम: प्रथमोऽध्याय:
2. जगतीदृष्टिदोषायतनाधिराख्य: द्वितीयोऽध्याय:
3. भिट्टपीठमण्डोवरगर्भगृहोदुम्बरप्रमाणाख्य: तृतीयोऽध्याय:
4. प्रतिमादृष्टिपदस्थानशिखरध्वजकलशलक्षणाधिकारख्य: चतुर्थोऽध्याय:
5. वैराज्यादिप्रासादपञ्चविंशत्यधिकाराख्य: पञ्चमोऽध्याय:
6. केसर्यादिप्रासादजातिलक्षणपञ्चक्षेत्रपञ्चचत्वारिंशन्मेरुलक्षणाख्य: षष्ठोऽध्याय:
7. मण्डप-बलाणक-संवरणाधिकाराख्य: सप्तमोऽध्याय:
8. जीर्णोद्धारविधिदोषार्देवपुरराजपुराणिमण्डपस्यदिङ्निर्देशख्य: अष्टमोऽध्याय:

वह इस ग्रंथ की रचना में मुख्य रूप से भुवनदेवाचार्य के 'अपराजितपृच्छा' संज्ञक ग्रंथ पर आश्रित रहा। यही उसका मुख्य उपस्कारक ग्रंथ रहा है तथापि उसने अपने मतों को भी दिया है-

शिखरं त्वेकवेदैकं षट्त्रिवेदयुगद्वयम्।

तलेषु क्रमत: प्रोक्तो मूलसूत्रेऽपराजिते॥

तलेष्वष्टासु विहिता: प्रासादा: पञ्चविंशति:।

त्रयस्त्रय: क्रमेणैव चत्वारस्त्वष्टमे तले॥ (5, 15-16)

इसके बाद उसने अपना मत दिया है-

त्रीणि-त्रीणि स्वकीयानि द्वे-द्वे पर: परस्य च।

शिखराणि विधेयानि विश्वकर्मवचो यथा॥ [१]

विश्वकर्मीय मत के रूप में अपराजितपृच्छा के श्लोकों को उसने पुन: आठवें अध्याय में उद्धृत किया है और स्वीकारा है-

अथ साधारणोऽध्याय: सर्वलक्षणसंयुत:।

विश्वकर्मप्रसादेन विशेषेण प्रकथ्यते॥ (8, 1)

इसी प्रकार उसके अन्य उपस्कारक ग्रंथ निम्न रहे हैं-

1. विश्वकर्मीय क्षीरार्णव या नारदपृच्छा
2. विश्वकर्मीय ज्ञानप्रकाशदीपार्णव
3. विश्वकर्मीय वृक्षार्णव
4. धाराधिप भोजप्रणीत समराङ्गणसूत्रधार
5. लल्लाचार्यकृत रत्नकोश
6. श्रीपतिभट्टाचार्य प्रणीत ज्योतिषरत्नमाला एवं सिद्धांतशेखर
7. आचार्य जिनदत्तसूरिकृत विवेकविलास
8. आचार्य धनेश्वरसूरिकृत आचारदिनकर तथा
9. आचार्य वसुनंदीकृत प्रतिष्ठासार।

अन्य ग्रंथों में ही मण्डन के उक्त ग्रंथ मत उपजीव्य रहे हैं तथापि वह मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, लक्षणसमुच्चय, मयवास्तुशास्त्रम्, मानसोल्लास, वशिष्ठसंहिता आदि के मतों का भी जानकार था किंतु संभवत: उसे 'मानसारम्' की जानकारी नहीं थी। प्रस्तुत ग्रंथ में मण्डन के अध्ययन क्षेत्र और भ्रमरवत् उसकी सञ्चयन प्रवृत्ति की पुष्टि यथा स्थान सोदाहरण की गई है। मध्यकालीन रचनाकारों में सूत्रधारमण्डन ही ऐसा ग्रंथकार रहा है जिसके ग्रंथ उसी के नामांत से अभिधानित हैं- वास्तुमण्डनम्, रूपमण्डनम्, प्रासादमण्डनम् नाम इस ग्रंथकार के प्रति राजाओं तक से सम्मान्य भाव को अभिक्षित करते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में कहीं पूर्वोक्त ग्रंथों के मतों से प्रतिपाद्य को विस्तार देने का प्रयास किया गया है तो कहीं मण्डन के संकेतों को जानकार उसे सम्पूर्ण रूप से परिभाषित करने का उपक्रम किया गया है। इस प्रकार का विस्तृत

१. वही 17

प्रयास कदाचित पहली बार ही कहा जाएगा। यह इस ग्रंथ के संपादन, अनुवाद व समीक्षा की दृष्टि से आवश्यक भी था।

प्रस्तुत पाठ -

प्रासादमण्डनम् के प्रस्तुत पाठ के संपादन के लिए निम्न मातृकाएं मुख्य रूप से उपादेय रही-

1. उदयपुर की गुटका प्रति- यह 'क' संज्ञक मातृका है जो उदयपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में सुरक्षित है और इसका ग्रंथाङ्क 1751 हैं। इसमें तीसरे अध्याय में श्लोक संख्या 25 से 31 तक का पृष्ठ खराब हो गया है। इसे विभिन्न लिपिकारों ने लिखा होगा क्यों कि इसमें तीन प्रकार के अक्षर दिखाई देते हैं किंतु पाठ अपेक्षाकृत शुद्ध हैं। कहीं-कहीं इसमें 'श' के स्थान पर 'स' का प्रयोग किया गया है। श्लोकों पर उपशीर्षकों का अभाव हैं।

इसका आरंभिक श्लोक हैं- श्रीगणेशाय नमः। गणेशाय नमस्तस्मैर्निर्विघ्नसिद्धि हेतवे। आद्यगौरि समुद्भूते तेजसः संभवायवैः॥ इसमें समापन श्लोक त्रुटित हैं- श्रीविश्वकर्मगणनाथमहेशचण्डी...। प्रासादमण्डनमिदं रुचिरं चकार श्रीमण्डनो गुणवतां भुवि सूत्रधार॥ इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचितेवास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने अष्टमोध्यायः॥ इसमें लिपिकार की स्वीकारोक्ति है- संवत् 1805 वर्षे बहुधान्य नाम संवत्सरे लिखितम् पुरुषोत्तम भटेन सूत्रधार इन्द्रभानस्य पुस्तको परिदृष्टा यथा प्रतिरिति॥

इस प्रकार यह मातृका 1805 तद्नुसार सन् 1748 की है। इसके अन्तिम पृष्ठों पर वासुदेव, केशव, नारायण, माधव, पुरुषोत्तम, अधोक्षज, संकर्षण, गोविन्द, मधुसूदन, उपेंद्र, प्रद्युम्न, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, नरसिंह, अनिरुद्ध, हृषिकेश, पद्मनाभ, दामोदर, हरि, कृष्ण जैसी विष्णु की चतुर्विंशति मूर्तियों का रेखाङ्कन भी किया गया है। साथ कुछ मंत्र, स्वर्णक्रिया, केशवृद्धि, रोमनाश आदि की विधियाँ भी दी गई हैं।

2. उदयपुर के प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान में विद्यमान इस दूसरी मातृका का 'ख' संज्ञा से प्रयोग किया गया है। यह सुंदर अक्षरों में लिखित है किंतु पूरी नहीं है। यह मातृका प्रथम अध्याय के '...ह सर्त॥ 36॥ भूम्यारंभे तथा कूर्मे शिलायां सूत्रपात न षुरे द्वारोच्छ्रये स्तम्भपद्दे पद्मत्रिशिलाशु च॥ 37॥ श्लोक से आरंभ होती है। यह प्रति तृतीय अध्याय तक समाप्त होती है किंतु अन्तिम पृष्ठ की पुष्पिका उपलब्ध होने से इसका महत्व है।

इसमें लिपिकार की स्वीकारोक्ति है- श्लोक संख्या 551 संवत् 1821 शाके 1686 मिति श्रावण सुदी 2 सोमवारे, सोमे सूत्रधार राजा लिखितं लिखमीचन्द म्हातमा वासी नेवटा का रहत जैपुर मध्ये. पठनार्थं। श्री श्री श्री॥

इस प्रकार यह प्रति संवत् 1821 तद्नुसार 1764 की है। इसे एक ही लिपिकार ने किसी पुराने पाठ के आधार पर लिखा था। इसमें कई श्लोकों के बीच-बीच में गणना के क्रम में अंकों का प्रयोग करते हुए प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

3. कोलकता पाठ- कलिकाता संस्कृत सीरीज में 32 क्रम पर जुलाई 1948 ई. में के.वी. अप्पूराव द्वारा मेट्रोपोलिटेन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लि. से प्रकाशित यह पाठ राजवल्लभमण्डनम् के साथ है। एशियाटिक सोसायटी में विद्यमान दो मातृकाओं के आधार पर इसे तैयार किया गया था किंतु इसमें बहुत त्रुटियाँ हैं, कई जगह लगता है कि संपादक को संस्कृत का अभ्यास नहीं था। कुछ श्लोक अल्प पाठांतर के साथ दो-दो बार भी दे दिए गए हैं। इसमें केवल मूल पाठ हैं और संपादन का अभाव रहा है किंतु प्रथम प्रकाशित पाठ के रूप मे इसका महत्व हैं। इसकी पृष्ठ संख्या 50 हैं।

4. जयपुर पाठ- यह पाठ शिल्पविद्या के उद्धारक पण्डित भगवानदास जैन ने तैयार किया था। श्री जैन ने ठक्कर फेरू कृत 'वत्थुसार पयरण' के संपादन के बाद, 1963 ई. में जयपुर से बी.एस. शर्मा के प्रकाशनत्व में प्रासादमण्डन का पाठ न केवल संपादित किया अपितु अर्थ भी किया तथा जहां विषय कम प्रतीत हुआ वहाँ अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी दिए, किंतु इसमें श्री जैन का सांप्रदायिक आग्रह भी स्पष्ट प्रतीत होता है। इस ग्रंथ के विषयवस्तु के विश्लेषण की दृष्टि से यह एक सराहनीय प्रयास माना जाता है तथापि श्री जैन की मातृभाषा गुजराती होने से अनुवाद में कई भाषादोष विद्यमान है, प्रासादाङ्गों के नाम भी गुजराती हो गए हैं, इसे उन्होंने भी स्वीकारा है। इससे प्रस्तुत पाठ के संपादन व अनुवाद में यथेष्ठ सहायता ली गई है जिसके लिए विद्वदात्मन् के प्रति अनेकशः आभार।

5. गुजराती पाठ- श्री जैन ने ही इसका गुजराती अनुवाद भी किया था। इसमें मूलपाठ जयपुर पाठ के अनुसार ही है। सरस्वती पुस्तक भण्डार, अहमदाबाद ने इसे प्रकाशित किया है जिसका 1989 ई. का संस्करण मुझे इसके संचालक श्रीहीराभाई शाह ने उपलब्ध करवाया है।

इस प्रकार उक्त पाठों के आधार पर प्रस्तुत ग्रंथ के पाठ को शोधित कर सर्वाङ्ग अनुवाद का प्रयास किया गया है। मण्डन के संकेतों को जानकर अन्य ग्रंथों के उद्धरण भी दिए गए हैं तथा उसके श्लोकों के उपस्कारक ग्रंथों के पाठ को भी दिया गया है। इसी प्रकार पहली बार श्लोकों पर संस्कृत में उपशीर्षकों की पूर्ति की गई है। श्लोकानुक्रमणिका दी गई है तथा परिशिष्ट में शिलान्यासपद्धति, ध्वजारोहणविधि तथा वज्रलेपविधि जैसे उपयोगी विषयों की पूर्ति की गई है। यथास्थान चित्र, रेखाचित्र सहित मण्डन के काल, पूर्ववर्ती तथा परवर्ती मन्दिरों के चित्र भी संजोए गए हैं जो रुचिकर लगेंगे व शिल्पियों, शिल्प-देववास्तुशास्त्र के अध्येताओं के लिए बहुपयोगी सिद्ध होंगे।

♠♠♠

श्रीगणेशाय नमः। श्रीभानूराजते।

प्रासादमण्डनम्

नाम देववास्तुशास्त्रम्

श्रीमण्डनसूत्रधारविरचितः

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

मिश्रकलक्षणम्

तत्र ग्रंथकर्तृमङ्गलाचरणम्-

गणेशाय नमस्तस्मै निर्विघ्नं सिद्धिहेतवे।

आद्यगौरीसमुद्भूतः तेजसं सम्भवाय (शंभवाय ? सम्भूताय) वै॥ 1॥

ग्रंथकार (सूत्रधार मण्डन द्वारा सर्वप्रथम) आदि गौरी पार्वतीदेवी के नन्दन और अद्भुत तेज-प्रभाव से सम्पन्न गणनायक गणेश को नमस्कार। वे इस ग्रंथ के प्रणयन कार्य की निर्विघ्न सिद्धि के हेतु सहायक बने।

महामायेति या गीता चिन्मयी मुनिसत्तमैः।

तनोतु (करोति ?) वाग्विलासं मे जिह्वायां सा सरस्वती॥ 2॥

वह महामाया सरस्वती जिनकी प्रशस्ति और स्तुति में कई पुरातन ऋषि-मुनियों ने गीत-ग्रन्थादि की रचना की, वह वाग्देवी मेरी जिह्वा पर बिराजमान होकर वाणी एवं सृजन को विकास-विस्तार प्रदान करें।

सृष्ट्याद्य (श्रीसृष्टा ?) सूत्रधारस्य प्रासादा विश्वकर्मणा।

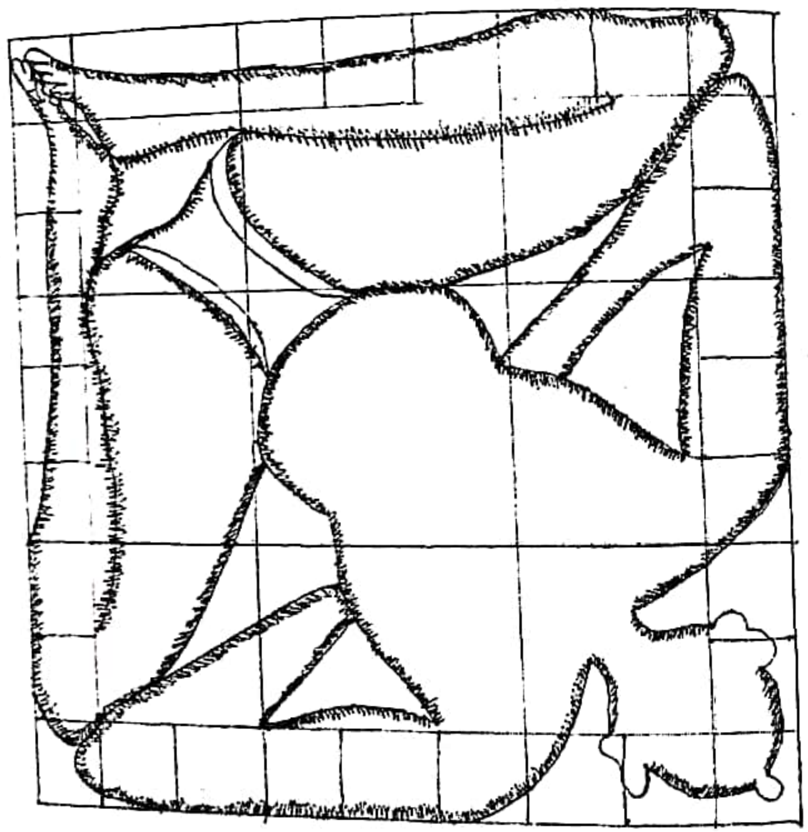
प्रासादमण्डनं ब्रूते (: ?) सूत्रधारेषु मण्डनः॥ 3॥

इस संसार के आद्य-सूत्रधार भगवान् विश्वकर्मा की कृपा से मैं सूत्रधारों में श्रेष्ठ सूत्रधार मण्डन इस 'प्रासादमण्डनम्' नामक ग्रन्थ का प्रणयन कर रहा हूँ।

अथ ग्रंथारम्भप्रयोजनमाह-

गृहेषु यो विधिः प्रोक्तो (प्रदोक्तो ?) विनिवेशप्रवेशने।

स एव विधिना (विदुषा ?) कार्यो देवतायतनेष्वपि(: ?)॥ 4॥



वास्तुपुरुष

गृह निर्माण और निर्माणोनन्तर उसमें प्रवेश किए जाने की जो पद्धति वास्तुशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों में कही गई है, मैं उसी के अनुसार यहां देवायतन निर्माण विषयक विधि का वर्णन करने जा रहा हूँ।

हिमाद्रेरुत्तरे पार्श्वे चारुदारुवनम् परम्। पावनं शंकरस्थानं तत्र सर्वैः शिवोऽर्चितः (शिवोदितः ?) ॥ 5 ॥

हिमगिरि के उत्तर में, पार्श्व में कल्पवृक्षों का एक सुन्दर वन है, वह भगवान् शङ्कर का परम पावन धाम है। इस वन खण्ड में ही सभी देव-आसुरों ने भगवान् शिव की आराधना की (और देवायतनों की नाना जातियों के ज्ञान के लिए उपक्रम किया)।

प्रासादानां जात्युद्देशः

प्रासादाकारपूजाभिर्देव-दैत्यादिभिः क्रमात्।

चतुर्दश समुत्पन्ना(:) प्रासादानां च जातयः (सुजातयः) ॥ 6 ॥

इन देव-आसुर आदिकों ने क्रमशः प्रासाद के विभिन्न आकारों के साथ भगवान् शिव की नाना प्रकारेण पूजा की। इसी के फलस्वरूप, चतुर्दश लोकों के देवों की आराधना से चौदह प्रकार के प्रासादों का स्वरूप उत्पन्न हुआ, जो सुजातीय था।

उत्तमजात्यष्टकम्-

नागरा-द्राविडाश्चैव भूमिजा-लतिनास्तथा सावन्धारा-विमानादि-नागराः पुष्पकाङ्क्षिताः (पुष्पकांतिताः) ॥7 ॥ प्रासादमिश्रकाश्चैवमष्टौ जातिषु चोत्तमाः।

इस प्रकार निष्पन्न चौदह जातियों के प्रासादों में आठ प्रकार के प्रासाद श्रेष्ठ स्वीकारे गए हैं- 1. नागर, 2. द्राविड, 3. भूमिज, 4. लतिन, 5. सांधार, 6. विमान-नागर, 7. पुष्पकाङ्क्षिता अथवा (विमानपुष्पक) और 8. मिश्र जाति प्रासाद।

सर्वदेवेषु कर्त्तव्याः शिवस्यापि विशेषतः ॥ 8 ॥

ये आठों जातियों के प्रासाद सब देवों के लिए निर्मित किए जा सकते हैं तथापि भगवान शिव के लिए विशेष रूप से इन सभी प्रासाद स्वरूपों का प्रयोग किया जाना श्रेयस्कर माना जाता है।

देशभेदानुसारजातयोभेदः

प्रासादानां च सर्वेषां जातयोर्देशभेदतः।

चतुर्दश प्रवर्त्तन्ते ज्ञेया लोकानुसारतः ॥ 9 ॥

इन सभी प्रासादों की जातियों को देश भेद के अनुसार जानकर देवों के निमित्त निर्मित करना चाहिए। ये चौदह प्रासाद जातियाँ लोक व्यवहार्य प्रणाली के अनुसार जानी जा सकती है।

अथ किं विधे प्रासज्ञानाह-

लक्ष्यलक्षणतोऽभ्यासाद् गुरुमार्गानुसारतः।

प्रासाद-भवनादीनां सम्यक् (सर्व ?) ज्ञानमवाप्यते ॥ 10 ॥

देवायतन और भवन निर्माण की विधियों, वास्तुज्ञान के लक्ष्य तथा लक्षणों को पर्याप्त अभ्यास और दक्ष गुरु की कृपा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अथ प्रासादारंभनियमाह-

सुलग्ने शुभनक्षत्रे पञ्चग्रहबलान्विते।

मास-संक्रान्ति-वत्सादि निषिद्धः (निषेधे ?) कालवर्जिते ॥ 11 ॥

प्रासाद निर्माण से पूर्व कर्ता को शुभ मुहूर्त, शुभ लग्न, उत्तम नक्षत्र और पाँच ग्रहों- 1. रवि, 2. सोम, 3. बुध, 4. गुरु और 5. शुक्र के बलशाली होने के योग को देखना चाहिए। इसके साथ ही मास, सङ्क्रान्ति और वत्स आदि के निषेधकाल का परित्याग कर प्रासाद निर्माण कार्य आरम्भ किया जाना चाहिए।

नारद का कथन है कि लग्न में स्थित सूर्य, चन्द्रमा, मङ्गल, राहु, केतु और शनि कर्ता की मृत्यु के कारण होते हैं और अन्य ग्रह धान्यादि सुखों को प्रदान करते हैं- लग्नस्थाः सूर्यचन्द्रारराहुकेत्वर्कसूनवः। कर्तुर्मृत्यु प्रदाश्चान्ये धनधान्यसुखप्रदाः ॥ [१]

नक्षत्रशुद्धि के सम्बन्ध में गर्ग का यह मत है कि तीनों उत्तरा, रोहिणी, पुष्य, मैत्र, हस्त, चित्रा, धनिष्ठा व पौष्ण नक्षत्र शुभ होते हैं - त्र्युत्तरेऽपि च रोहिण्यां पुष्ये मैत्रे करद्वये। धनिष्ठाद्वितीये पौष्णे गृहारंभः प्रशस्यते ॥ [२]

वृद्धनारद ने कालशुद्धि पर विचार करते हुए कहा है कि पुर, प्रासाद, गृहारंभ एवं समाप्ति देवोत्थान एकादशी के बाद एवं देवशयनी एकादशी से पूर्व करना

१. नारद संहिता 28, 10
२. बृहद्वास्तुमाला पृष्ठ 73

चाहिए- आरंभं च समाप्तिं च प्रासाद-पुर-सद्मनाम्। उत्थिते केशवे कुर्यात्र प्रसुप्ते कदाचन ॥

मण्डन के मतानुसार चैत्र में निर्माण से शोक, वैशाख में धनागम, ज्येष्ठ में मृत्यु, आषाढ़ में पशुहरण, श्रावण में पशुवृद्धि, भाद्रपद में शून्य, आश्विन में कलह, कार्तिक में भृत्यक्षय, मार्गशीर्ष एवं पौष में अन्नलाभ, माघ में अग्निकाण्ड एवं फाल्गुन में श्रीप्राप्ति होती है- चैत्रे शोककरं गृहादिरचितं स्यान्माधवेऽर्थप्रदं ज्येष्ठे मृत्युकरं शुचौ पशुहरं तद्वृद्धिदं श्रावणे। शून्यभाद्रपदे त्विषे कलिहरं भृत्यक्षयं कार्तिके धान्य मार्गसहस्योर्दहन-भीर्माधे श्रियं फाल्गुने ॥ [१]

पक्ष के सम्बन्ध में वशिष्ठसंहिता का मत है कि शुक्लपक्ष में प्रासादारम्भ करने से सर्वविध सुख, कृष्णपक्ष में तस्करभय होता है। यदि गुरु, शुक्र उदयावस्था में हो तो शुक्लपक्ष में दिन में गृहारंभ करें, रात्रिकाल निषिद्ध होता है- शुक्लपक्षे भवेत्सौख्यम् कृष्णे तस्करतो भयम्। गृहनिर्माणकार्येषु पक्षशुद्धिं विचिन्तयेत् ॥ गीर्वाणपूर्वगीर्वाण-मन्त्रिणोर्दृश्यमानयोः। शुक्लपक्षे दिवाकार्य न निर्माणञ्च रात्रिषु ॥ (39, 41- 42)

वत्सचक्र के लिए यह ज्ञातव्य है कि सम्पूर्ण वत्स के शरीर में सूर्य नक्षत्र से चक्रानुसार नक्षत्रों को रखें और उनका फलाफल जानना चाहिए। इसमें प्रारंभ के 7 नक्षत्र अशुभ व मध्य के 11 नक्षत्र शुभ तथा शेष त्याज्य होते हैं। धाराधिप भोज ने राजमार्तण्ड में वत्सचक्र इस प्रकार वर्णित किया है-

गृहारम्भेवत्सचक्रम

सूर्यनक्षत्राद्गणना साभिजित्

स्थानानि	नक्षत्र	फलानि
शीर्षे	3	अग्निभयं दाहः
अग्रपादे	4	शून्यमसत्
पृष्ठपादे	4	स्थिरतः
पृष्ठे	3	लक्ष्मीप्राप्तिः
दक्षिणकुक्षौ	4	लाभः सत्
पुच्छ	3	स्वामिनाशः

१. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् 1, 7

वाम कुक्षौ	4	निर्धनता
मुखे	3	पीडा असत्

मण्डन ने देवतामूर्तिप्रकरणम् में वत्सफल विचार करते हुए कहा है कि जिस दिशा में वत्समुख हो, उस दिशा में यात्रा नहीं करनी चाहिए। उधर नवीन वास्तु का द्वार रखना एवं उधर से मूर्ति को मन्दिर में लाने का कार्य वर्जित होता है-

वत्सेनात्रिमुखे कुर्याद् यात्राद्वारे च वास्तुनः। प्रवेशे: प्रतिमादीनां गुर्विणां विशेषत:॥ [१]

अथ भूमिनिरूपणम्-

सर्वदिक्षु प्रवाहं वा प्रागुदक्शङ्करप्लवाम्।

भुवं (भूमि?) परीक्ष्य (सं)सिञ्चेत पञ्चगव्येन कोविदः॥ 12॥

प्रासाद निर्माण के लिए भूमि परीक्षा आवश्यक है। वह भूमि श्रेष्ठ है जो चारों ओर से अवनत और मध्य से उन्नत हो अर्थात् जिस भूमि के चारों ओर पानी बह सकता हो; पूर्व, उत्तर अथवा ईशान कोण में जो भूमि अवनत हो अथवा इन तीनों दिशाओं में जल प्लाव हो सकता हो, वह प्रासाद के लिए उत्तम होती है। विद्वानों को परीक्षा के बाद चयनित भूमि को पञ्चगव्य-गौदुग्ध, दधि, घृत, गौमूत्र और गौमय छिड़ककर शुद्ध करना चाहिए।

अन्यकर्त्तव्यम्-

मणिना स्वर्णरूप्येण(रूपेण?) विद्रुमेण फलेन वा।

चतुःषष्टिपदैर्वास्तुं लिखेद्वापि शतांशकैः॥ 13॥

भूमि शुद्धीकरण के बाद मणि, स्वर्ण, रजत, विद्रुम अथवा मूंगा और फल आदि समर्पित कर उसकी पूजा करनी चाहिए। विद्वान को भूमि पूजन के बाद चौंसठ अथवा शतपद वास्तु मण्डल को लिखकर पूजन करना चाहिए।

वास्तुमण्डलार्थपदार्था:

पिष्टेन वाक्षतैः शुद्धैस्ततो(रूर्ध्वं ततो ?) वास्तुं समर्चयेत्।

पूर्वोक्तेन विधानेन बलि-पुष्पादि(पुष्पैश्च?) पूजनैः॥ 14॥

---

१. देवता. 1, 62

यह वास्तुमण्डल अन्न चूर्ण अथवा अक्षत से निर्मित करना चाहिए। बन जाने के बाद शुद्धयोपरान्त इस वास्तुमण्डल का पूर्वाचार्यों द्वारा निर्धारित किए गए बलि, पुष्प आदि से पूजन किया जाना आवश्यक है।

अथाष्टदिक्पाल:

इन्द्रो-वह्निः पितृपति-नैर्ऋतो-वरुणो-मरुत्।

कुबेर-ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्॥ 15॥

इस वास्तुमण्डल के अनुसार देवराज इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत्य, वरुण, मरुत, कुबेर और ईश ये क्रमानुसार पूर्वादि दिशाओं के स्वामी कहे गए हैं।

स्पष्टार्थचक्र

दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ईशान
दिक्पाल	इन्द्र	अग्नि	यम	नैर्ऋति	वरुण	वायु	कुबेर	ईश

आरंभावसरेपूज्यदेव:

दिक्पालाः (दिक्यलाः ?) क्षेत्रपालाश्च गणेशश्चण्डिका तथा।

एतेषां विधिवत्पूजां कृत्वा कर्म समारभेरत्(समाचरेत्)॥ 16॥

वास्तुपूजा के समय अष्ट दिक्पाल, क्षेत्रपाल, गणेश और चंडिका आदि की बहुप्रकारेण पूजा कर निर्माण कार्य आरंभ करना चाहिए।

अथ निषिद्धकालकथनम्-

धनु-मीनस्थिते सूर्ये गुरु-शुक्रेऽस्तगे विधौ।

वैधृतौ (ते?) व्यतिपाते च दग्धे नेष्टं (भेदस्थे ?) कदाचन॥ 17॥

प्रासादारंभ में निषिद्धकाल का ध्यान रखना चाहिए। यदि धनु और मीन की सङ्क्रान्ति का सूर्य हो, गुरु, शुक्र और चन्द्रमा अस्त हो, वैधृति और व्यतिपात योग हो तथा दग्धातिथि हो तो कभी भी नवीन निर्माण कार्य की शुरूआत नहीं करना चाहिए।

वत्समुखविचार-

कन्यादित्रि-त्रिगे सूर्ये द्वारं पूर्वादिषु त्यजेत्।

सृष्ट्या वत्समुखं तत्र स्वामिनो हानिकृद्यतः॥ 18॥

जिस समय कन्या आदि तीन-तीन राशि की संक्रांति पर सूर्य की अवस्थिति हो तब क्रमानुसार पूर्व आदि दिशाओं में द्वार स्थापना का कार्य निषिद्ध होता है क्योंकि सृष्टिक्रम के अनुसार इन दिशाओं में अर्थात् क्रमिक रूप से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में वत्समुख की स्थिति होती है। यदि वत्समुख विचार का परित्याग कर कार्य आरंभ किया जाए तो गृहस्वामी को नाना प्रकार की हानि होती है।

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में वत्समुखविचार किया गया है जो इस प्रकार है-

दिशासङ्क्रान्ति

उत्तर- मिथुन, कर्क एवं सिंह

पूर्व-कन्या, तुला एवं वृश्चिक

दक्षिण- धनु, मकर एवं कुम्भ

पश्चिम- मीन, मेष एवं वृष

उक्त सूर्य स्थिति के अनुसार मुख का द्वार निर्णय प्रशस्त होता है, विपरीत दिशा में हानिकर स्वीकारा गया है, किंतु यदि सूर्य, सिंह, वृष, वृश्चिक और कुंभस्थ हो तो सभी दिशा में गृह द्वार निर्माण शुभ होता है। यह मत ज्ञानप्रकाशदीपार्णवानुसार जान पड़ता है, जहां कहा गया है- सिंहे चैव तथा कुंभे वृश्चिके वृषभेदकौ। नैव दोषो भवेत्तत्र कुर्याच्चतुर्दिशं मुखम्।[१]

इसे श्रीपतिभट ने ज्योतिषरत्नमाला में स्पष्ट किया है- कर्किनक्रहरिकुम्भगतेऽर्के पूर्व पश्चिममुखानि गृहाणि। तौलिमेषवृषवृश्चिकयाते दक्षिणोत्तरमुखानि च कुर्यात्॥ अन्यथा यदि करोति दुर्यतिर्व्याधिशोकधननाशमश्नुते। मीनचापमिथुनाङ्गनागते कारयेन्न गृहमेव भास्करः॥ [२]

आयादिविचारः

आयो व्ययोर्क्षमंशस्य भित्तिबाह्ये सुरालये।

ध्वजायो देवनक्षत्रं व्ययांशौ प्रथमौ शुभौ॥ 19॥

देवालय के निर्माणकाल में प्रथमतः आय, व्यय, नक्षत्र और अंश की गणना भित्ति के बाह्यभाग से की जानी चाहिए। सुरालय के निर्माण में ध्वज आय, देव नक्षत्र

१. दीपार्णव 1, 18

२. ज्योतिषरत्नमाला 17, 14-15

और प्रथम व्यय तथा प्रथमांश ही शुभ स्वीकारा गया है।

वास्तुसारमण्डनम् के अनुसार ध्वज, धूम्र, सिंह, श्वान, वृष, खर, ध्वांक्ष- इन आठ आय को क्रमानुसार जानना चाहिए। इनमें से विषम आय क्रमशः चार वर्णों के लिए श्रेष्ठ होती है। देव, देवालय, छत्र, जलाशय, वस्त्राभूषण, यज्ञशाला के आयाम और विस्तार में ध्वज आय प्रशस्त है तथा धान्यशाला या भांडागार, भोजनशाला और अश्वशाला में वृष की आय स्वीकार्य है। आयुधशाला, राजगृह में सिंह आय प्रशस्त है, जबकि रानी के आवास में गज की आय, पर्यंक या पलंग, वाहन, यान अथवा पालकी, रथ और उनकी शाला पर भी गज की आय दी जानी चाहिए। धूम आय अग्नि से जीविकोपार्जन करने वालों के गृह तथा ध्वांक्ष आय साधु के मठ तथा शिल्पी आदि के गृह के लिए स्वीकार्य है, जबकि अंत्यज के गृह में श्वान आय, तथा वाद्य वादकों, गायकों के यहां और कुम्हार के यहां पर खर आय प्रशस्त है- ध्वजो धूमस्तथा सिंहः श्वानो वृषः खरो गजः। ध्वांक्षश्चेति क्रमेणैव वर्णानां विषमाः क्रमात्॥ देवे छत्रे जले वस्त्रे ध्वजो वेद्युच्छ्रये शुभः। धान्यभोजनशालायां तुरङ्गाणां गृहे वृषः॥ शस्त्रे राज्यालये सिंहः श्रेष्ठो हस्त्यंगनागृहे। पर्यङ्के वाहने याने तथा हस्तिगृहे गजः॥ अग्निजीवगृहे कुंडे धूमो ध्वांक्षो मठादिषु। धूमः श्वानोऽन्त्यजातीनां वाद्यांतजीविनां खरः॥ (17-20)

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में कहा गया है- छत्रे देवगृहे द्विजस्य भवने स्याद् वेदिकायां जले विस्तारोच्छ्रयवस्त्रभूषणमखगारेषु शस्तो ध्वजः। धूमो वह्न्युपजीविनामपि गृहे कुण्डे च होमोद्भवे सिंहद्वारनृपालयेऽस्त्रनिचये सिंहश्च सिंहासने॥ चांडाले शुनको विशां तृ वृषभो हर्म्ये हयानां हितो वाणिज्ये धनभोजनस्य भवनेऽथो वाद्यगेहे खरः। वादित्रे ख (स्व) रजीविनामपि गृहे शूद्रे गजो योजितो याने स्त्रीगृहवाहने च शयने शस्तो गृहे हस्तिनाम्॥ 3, 4-5

केषां च मरुतां गेहे वृष-सिंह-गजाः शुभाः।

हीनआयाव्ययः(द्व्यय ? आयादूनो) श्रेष्ठः पिशाचस्तु समोऽधिकः॥ 20॥

इसके साथ ही वृष, सिंह और गज आय को स्वीकारना भी देव प्रासाद में शुभ है। यदि आय से व्यय न्यून हो तो श्रेष्ठ व शुभ परिणामदायक जाने और बराबर व्यय हो तो पिशाच तथा अधिक व्यय हो तो राक्षस-व्यय समझना चाहिए।

मण्डन ने आय-व्यायादि गणितकर्म पर पृथक् से 'आयतत्त्वाधिकारम्' ग्रंथ की रचना की है, जो ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, वास्तुविद्या, क्षीरार्णव, समराङ्गणसूत्रधार आदि

वास्तुविषयक ग्रंथों के अनुसार ही है। पूर्वसूरियों में, वशिष्ठसंहिता, लल्लाचार्यप्रणीत रत्नकोशादि में आयादिकर्म पर विशेष विमर्श किया गया है।

अन्यान्याङ्गानि–

देवानां (देवतानां!) गृहे चिन्त्यमायाद्यङ्गचतुष्टयम्।
नवाङ्गं नाडिवेधादि स्थापकामरयोर्मिथः ॥ 21 ॥

देवायतन के निर्माण अवसर पर आय, व्यय, अंश और नक्षत्र इन चार अङ्गों का विचार करें। नवाङ्गों पर विमर्श भी आवश्यक है जिसके तहत देवालय की स्थापना करने वाले और स्थापित होने वाले देव के पारस्परिक नाडीवेध, योनि, गण, राशि, वश्य, तारा, वर्ग और राशिपति पर विचार अपरिहार्य है।

मण्डन कृत देवतामूर्तिप्रकरणम्, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् और वास्तुसारमण्डनम् में भी इन अङ्गों पर सम्यक् विचार किया गया है। वास्तुसारमण्डनम् में नक्षत्रमूलराशि के सम्बन्ध में कहा गया है कि घर की लंबाई, चौड़ाई का गुणा करके उसे आठ से गुणा करके उसमें सत्ताइस से भाग देने पर जो शेष रहे वह नक्षत्र की संख्या आठ (मूलराशि) जानना चाहिए। उस मूल राशि के अंक को आठ से गुणा करके फिर सताइस से भाग देने पर जो शेष रहे उसे अंक व्यय जानना चाहिए। व्यय से आय का अंक अधिक हो तो वह शुभ होता है॥ व्यय के नाम इस प्रकार हैं– शांता, प्रोढ़ा, प्रद्योत, श्रीयानंद, मनोहर, श्रीवत्स, विभव और चिदात्मक– पूर्ववद्गुणितेऽष्टघ्ने सप्तविंशतिभाजिते। व्योऽष्टाहते धिष्ण्यै रायाधिक्ये सुशोभनः ॥ 21

आयादि चिन्तनं भूमिलक्षणं वास्तुमण्डलम्।
मास-नक्षत्र-लग्नादि चिन्तनं पूर्वशास्त्रतः ॥ 22 ॥

आय-व्यायादि का चिंतन, भूमिलक्षण, वास्तुमण्डल, मास, नक्षत्र, लग्न विषयक विचार विभिन्न पूर्ववर्ती शास्त्रों में वर्णित किए गए है, जहां से इनका सम्यक् अध्ययन व अभ्यासकर निर्माणादि के अवसर पर इनको ज्ञात कर ही कार्यारम्भ करना चाहिए।

श्रीपतिभट का मत है– आयव्ययर्क्षांशकचन्द्रताराबलानि शास्त्रादवगम्य सम्यक्। आयुर्धनारोग्ययशोभिवृद्ध्यै गृहं गृहस्थोऽपि विधापयीत ॥[१]

नक्षत्राक्षर, राशि, वर्ण, वश्य, योनि, अधिपति, गण, नाडी, चंद्र व व्यायादि को निम्न चक्र से जाना जा सकता है–

१. ज्योतिषरत्नमाला 17, 1

नक्षत्र क्रम	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13
नक्षत्र	अश्विनी	भरणी	कृतिका	रोहिणी	मृगशिर	आर्द्रा	पुनर्वसु	पुष्य	अश्लेषा	मघा	पू.फाल्गुनी	उ.फाल्गुनी	हस्त
मूलराशि	17	7	24	14	4	21	11	1	18	8	25	15	5
गण	देव	मनुष्य	राक्षस	मनुष्य	देव	मनुष्य	देव	देव	राक्षस	राक्षस	मनुष्य	मनुष्य	देव
चंद्र	उत्तर	उत्तर	पूर्व	पूर्व	पूर्व	पूर्व	पूर्व	पूर्व	पूर्व	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण
राशि	मेष	मेष	मेष	वृषभ	वृषभ	मिथुन	मिथुन	कर्क	कर्क	सिंह	सिंह	सिंह	कन्या
राशि स्वामी	मङ्गल	मङ्गल	मङ्गल	शुक्र	शुक्र	बुध	बुध	सोम	सोम	सूर्य	सूर्य	सूर्य	बुध
व्ययांक	शांत	पौर	प्रद्योत	श्रीयानंद	मनोहर	श्रीवत्स	विभव	चिंतात्मक	शांत	पौर	प्रद्योत	श्रीयानंद	मनोहर
	1	2	3	4	5	6	7	8	1	2	3	4	5
नाडी	आद्य	मध्य	अंत्य	अंत्य	मध्य	आद्य	आद्य	मध्य	अंत्य	अंत्य	मध्य	आद्य	आद्य
नक्षत्रयोनि	अश्व	गज	अज	सर्प	सर्प	श्वान	विलाव	अज	विलाव	मूषक	मूषक	गाय	महिष
योनि वैर	महिष	सिंह	मर्कट	नकुल	नकुल	वानर	मूषक	मर्कट	मूषक	विलाव	बिलाव	बाघ	अश्व
नक्षत्र वैर	उ.फाल्गुनी	स्वाती	–	उत्तराषाढ	–	–	श्रवण	अश्लेषा	पुष्य	–	–	अश्विनी	चित्रा
नक्षत्रोत्पत्ति	5	4	3	2	1	5	4	3	2	1	5	4	3

नक्षत्र क्रम	14	15	16	17	18	19	20	21	22	23	24	25	26	27
नक्षत्र	चित्रा	स्वाती	विशाखा	अनुराधा	ज्येष्ठा	मूल	पू.षाढ	उ.षाढ	श्रवण	धनिष्ठा	शतभिषा	पू.भा	उ.भा	रेवती
मूलराशि	22	12	2	19	9	26	16	6	23	13	3	20	10	27
गण	राक्षस	देव	राक्षस	देव	राक्षस	राक्षस	मनुष्य	मनुष्य	देव	राक्षस	राक्षस	मनुष्य	मनुष्य	देव
चंद्र	दक्षिण	दक्षिण	दक्षिण	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम	पश्चिम	उत्तर	उत्तर	उत्तर	उत्तर	उत्तर
राशि	कन्या	तुला	तुला	वृश्चिक	वृश्चिक	धन	धन	धन	मकर	मकर	कुंभ	कुंभ	मीन	मीन
राशि स्वामी	बुध	शुक्र	शुक्र	मङ्गल	मङ्गल	गुरु	गुरु	गुरु	शनि	शनि	शनि	शनि	गुरु	गुरु
व्ययांक	श्रीवत्स	विभव	चिंतात्मक	शांत	पौर	प्रद्योत	श्रीयानंद	मनोहर	वत्स	विभव	चिंतात्मक	शांत	पौर	प्रद्योत
	6	7	8	1	2	3	4	5	6	7	8	1	2	3
नाडी	मध्य	अंत्य	अंत्य	मध्य	आद्य	आद्य	मध्य	अंत्य	अंत्य	मध्य	आद्य	आद्य	मध्य	अंत्य
नक्षत्रयोनि	बाघ	महिष	बाघ	मृग	मृग	श्वान	कपि	नकुल	कपि	सिंह	अश्व	सिंह	गाय	गज
योनि वैर	गाय	अश्व	गाय	सिंह	सिंह	कपि	श्वान	सर्प	श्वान	गाय	महिष	गज	बाघ	सिंह
नक्षत्र वैर	हस्त	भरणी	ज्येष्ठा	-	विशाखा	-	-	रोहिणी	पुनर्वसु	-	-	-	-	-
नक्षत्रोत्पत्ति	2	1	5	4	3	2	1	5	4	2	2	1	5	4

दिक्शोधनावश्यकत्वम्-

रात्रौ दिक्साधनं कुर्याद्दीपसूत्रध्रुवैक्यतः।

समे भूमिप्रदेशे तु शङ्कुना दिवसेऽथवा॥ 23॥

भवन व देवालयों के निर्माण में दिशा का ज्ञान आवश्यक है। दिशा ज्ञात करने के लिए रात्रि में दीप, सूत और ध्रुव तारे को एक सीध में लेकर दक्षिणोत्तर रेखा डाल दक्षिण व उत्तर के साथ ही पूर्व एवं पश्चिम दिशा ज्ञात की जा सकती है। दिन में इकसार भूमि पर शङ्कु स्थापित कर धूप में उसकी छाया के आधार पर रेखोत्पादन करते हुए दिशा ज्ञान किया जा सकता है।

ज्योतिर्निबन्ध में शूरमहाठ शिवराज ने वृद्धनारद के मतानुसार दिशा शोधन को आवश्यक बताते हुए स्पष्ट किया है कि प्रासाद, गृह, अलिन्द, द्वार, कुण्डादि में सम्यक् दिशाज्ञान नहीं होने पर कुल-परिवार का विनाश होता है- *प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषतः। दिङ्मूढेकुलनाशः स्यात्तस्मात्संशोधयेद्दिशः॥*[१]

मण्डन का उपर्युक्त मत 'सिद्धान्तशिरोमणि' के अनुसरणानुसार है- वृत्तेऽम्भः सुसमीकृतक्षितिगते केंद्रस्थशङ्कोः क्रमाद्भागं यत्र विशत्यपैति च यवस्तत्रापरेऽङ्घ्रौ दिशौ। तत्कालोपमजीवयोस्तु विवराद्भात्कर्णमित्याहताल्लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता॥[२]

रात्रिसाधन की विधि मण्डन ने राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में दी है। 'सिद्धान्ततत्त्व विवेक' में कहा गया है कि शिल्पी लोग चुम्बकयन्त्र के द्वारा भी दिशा का ज्ञान कर सकते हैं, पूर्वापर का जो ज्ञान किया गया है, वह सममण्डलीय होता है- सच्चुम्बकादेव सुशिल्पविज्ञाः कुर्वन्ति दिग्ज्ञानमितोऽन्यथैव। पूर्वापरा याऽत्र कृता प्रकारैर्ज्ञेया बुधैः सा सममेमण्डलीया॥[३]

अत्रैव खातविधिः

नागवास्तुं समालोक्य कुर्यात्खातविधिं सुधीः।

पाषाणान्तं जलान्तं वा ततः कूर्मं निवेशयेत्॥ 24॥

१. पृष्ठ 166 दिक्.2
२. सिद्धान्तशिरोमणि 3, 8-9
३. सि.त.वि. त्रि. प्रकरण 378

भूमि पर खात करने से पूर्व विद्वानों को नागवास्तु का अवलोकन करना चाहिए। नींव कार्य आरंभ करने के संदर्भ में यह विचारणीय है कि जब तक पानी या पत्थर नहीं आ जाए तब तक नींव को गहरी करते रहना चाहिए। इसके बाद गहराई पर कूर्म या रजत-कच्छप का निवेशन करना कर्तव्य है।

इस सम्बन्ध में माण्डव्य का मत शिवराज ने उद्धृत किया है कि क्षेत्र के शोधन के बाद ही खात, कार्यारम्भ किया जाना चाहिए– जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा। क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्॥ [१]

अथ कूर्माकारविचार:

अर्द्धाङ्गुलो $_{॥}$ भवेत्कूर्म एकहस्ते $_{1}$ सुरालये।

अर्द्धाङ्गुला $_{॥}$ ततो वृद्धिः कार्या तिथि $_{15}$ करावधिः ॥ 25 ॥

कूर्म के मान के संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि यदि निर्माणाधीन प्रासाद का विस्तार एक हाथ हो तो नींव में अर्द्धाङ्गुल कूर्म रखना चाहिए। इसी प्रकार दो से तिथि संख्या या पन्द्रह हाथ तक के प्रासाद में प्रत्येक हाथ मान के अनुसार आधा-आधा अङ्गुल बढ़ाते हुए कूर्म को स्थापित किया जाना चाहिए।

एकत्रिंशत्करान्तं $_{31}$ च तदर्द्धा वृद्धिरिष्यते।

ततोऽर्द्धापि शतार्द्धान्तं $_{50}$ कूर्मो मन्वङ्गुलोत्तमः $_{14}$ ॥ 26 ॥

इसी प्रकार सोलह से इकतीस हाथ पर्यन्त विस्तार वाले प्रासाद में प्रत्येक हाथ मान पर एक चौथाई अङ्गुल बढ़ाएँ। इससे अधिक, बत्तीस से पचास हाथ तक के देव भवन में प्रत्येक हाथ में कूर्ममान क्रमशः दो-दो सूत बढ़ाना चाहिए। इसी तरह पचास हाथ के विस्तार वाले प्रासाद में एक सूत न्यून अर्थात् चतुर्दश अङ्गुल मान का कूर्म स्थापित करना प्रशस्त होता है।

उक्त कूर्ममानादि का विवरण भुवनदेवाचार्य के मतानुसार है। अपराजितपृच्छा के ५२वें सूत्र में कूर्म के दो मान दिए गए हैं। विश्वकर्मीय क्षीरार्णव के 101वें अध्याय में स्वर्णशिला के पञ्चमांश का कूर्ममान निर्मित करने का निर्देश दिया गया है।

ज्येष्ठकनिष्ठमानञ्च-

चतुर्थांशाधिको ज्येष्ठः कनिष्ठो हीनयोगतः(योग्यतः ?)।

सौवर्णो(सुवर्णो ?) रूप्यको वापि स्नाप्यः पञ्चामृतेन हि ॥ 27 ॥

---

१. ज्योतिर्निबन्ध पृष्ठ १६५, १३

अब कूर्म के ज्येष्ठ एवं कनिष्ठमान कहे जा रहे हैं। कूर्म का जो मान प्रथमतः निकाला गया हो वह मध्यम मान होता है। इसमें यदि मान का चतुर्थांश बढ़ाया जाए तो ज्येष्ठ मान और यदि चतुर्थांश निकाला जाए तो कनिष्ठ अथवा हीन मान होता है। कूर्म को स्वर्ण अथवा चाँदी से बनाया जाना चाहिए। निर्माणोपरान्त इसे पञ्चामृत से स्नान कराएँ।

तिलै (तिथ्यै ?)र्यवैस्तथा होमं पूर्णां चैव प्रदापयेत्।

कूर्म की स्थापना करते हुए समय पञ्चामृत से स्नान के बाद तिल और यव (जौ) इत्यादि समिधा के साथ होम कर्म पूर्ण कराने का विधान है। [१]

अत्र कूर्मस्थापनक्रम-

ईशानाद्वग्निकोणाद्वा शिला स्थाप्याः प्रदक्षिणाः ॥28 ॥

मध्ये कूर्मशिला पश्चाद्गीत-वादित्र-मङ्गलैः।

शिला तथा कूर्म की स्थापना के समय ईशान अथवा अग्निकोण में पूजन करें तथा सर्वप्रथम नन्दा संज्ञक शिला की स्थापना करते हुए अन्य भद्रा, पूर्णा आदि शिलाओं की स्थापना करनी चाहिए। स्थापना में में सृष्टि क्रमानुसरण पालनीय है, विपरीत क्रम नहीं। मध्य में कूर्म शिला अथवा आधारकशिला रखें। इस प्रकार की विधि के संपादनावसर पर गीत, मंगलाचार हों तथा वाद्य-वादन भी किया जाना चाहिए।

बलिदानं च नैवेद्यं विविधान्नं घृतप्लुतम्।

देवताभ्यः सुधीर्दद्यात्कूर्मन्यासे शिलासु च ॥ 29 ॥

शिलान्यास और कूर्मन्यास के अवसर पर वास्तुशास्त्र की मान्यता के अनुसार देवताओं के लिए बलिदान तथा नैवेद्य, विविध अन्न तथा घृत से बने पुए भी अर्पित करने चाहिए।

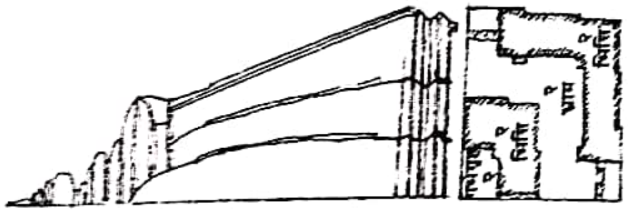
अथ सूत्रारम्भकालकथनम्-

सूत्रारम्भे(भो ?) गृहादीनामुत्तरायां करत्रये (यं ?)।

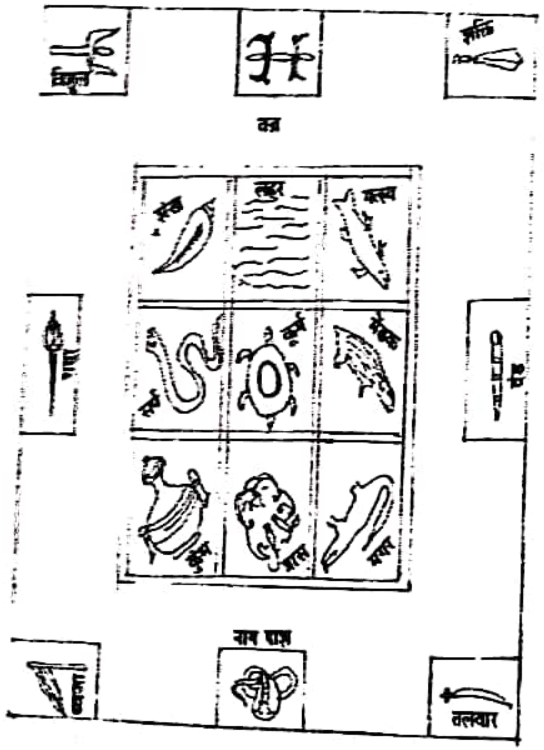
ब्राह्मे-पुष्ये-मृगे-मैत्रे-पौष्ण-वासव-वारुणे: ॥ 30 ॥

---

१. श्लोक की यह पङ्क्ति 'क' मातृका में नहीं है।



प्रासाद में शिखर रचना का तलछंद



कूर्मशिल्प प्रकल्पन

गृहादि के आरंभ में सूत्रकर्म के लिए शुभकाल का विचार करना चाहिए। सूत्रारंभ के लिए उत्तरात्रय, करत्रय या हस्त, चित्रा, स्वाति, रोहिणी, पुष्य, मृगशिरा, अनुराधा, रेवती, धनिष्ठा, शतभिषा नक्षत्र शुभ स्वीकारे गए हैं।

श्रीपति का मत है- पुष्यध्रुवमृदुस्त्रातिहस्तवासववारुणै। प्रशस्तावैश्मनां सूत्रप्रारंभो मुनिभिः स्मृतः ॥ (17, 28)

इसी प्रकार वशिष्ठसंहिताकार का कथन है- इज्योत्तरात्रयहीन्दु विष्णुधातृजलोडुपु। गुरुणा सहितेष्वेपु कृतं गेहं श्रियायुतम् ॥ (39, 32)

शिलान्यासकालः

शिलान्यासस्तु रोहिण्यां-श्रवणे-हस्त-पुष्ययोः।

मृगशीर्षे च रेवत्या-मुत्तरात्रितये शुभः ॥ 31 ॥

शिलान्यास कर्म के लिए शुभ नक्षत्रों में रोहिणी, श्रवण, हस्त, पुष्य, मृगशिरा, रेवती और उत्तरा त्रय नक्षत्र शुभ माने गए हैं।

देवमन्दिरस्थाननिर्वचनम्-

नद्यां-सिद्धाश्रमे-तीर्थे-पुरे-ग्रामे च गह्वरे।

वाटी-वापी-तडागादि स्थाने कार्यं सुरालयम् (: ?) ॥ 32 ॥

देवालयों के निर्माण के लिए कौनसा स्थान उचित है, इस संदर्भ में कहा गया है कि नदी के किनारे, सिद्धाश्रमों, तीर्थधामों, बड़े पुरों (राजधानी) अथवा नगरों, गांवों, पर्वत की गह्वर गुफाओं, वाटिका, वापी और जलाशय इत्यादि पवित्र स्थानों पर देवालयों का निर्माण किया जाना चाहिए।

देवालयनिर्माणपदार्थाः

स्वशक्त्या काष्ठ-मृत्-स्रेष्ट-शैल-धातुज-रत्नजम्।

देवतायतनं कुर्याद्-धर्मा-र्थ-काम-मोक्षदम् ॥ 33 ॥

अपने अर्थ सामर्थ्य के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को लकड़ी, मिट्टी, ईंट, पत्थर, धातु या रत्नों से देवालय का निर्माण करना चाहिए। देवालय निर्माण में यह ज्ञातव्य है कि काष्ठ से लेकर धातु-रत्न तक किसी का भी मंदिर बनवाएँ, उससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि होती ही है।

अधुना देवस्थापनफलम्-

देवानां(देवता ?) स्थापनं पूजा पापहृद्दर्शनादिकम्।

धर्मवृद्धिर्भवेदर्थः कामो-मोक्षस्ततो नृणाम्(: ?) ॥ 34 ॥

देवालयों, देवों की प्रतिष्ठा, पूजा और दर्शनादि से समस्त पापों का विनाश होता है तथा धर्म की अभिवृद्धि होती है जो लोगों के लिए अर्थ, काम और मोक्ष की साधना को सिद्ध करती है।

देवायतननिर्माणफलम्-

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृन्मये दशसंगुणम्। ऐष्टके(इष्टके ?) शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं स्मृतम् (शैलजेतु फलं ग्रहैः) ॥ 35 ॥

देवालय किस पदार्थ का हो और उससे कैसे फल प्राप्ति होती है, इस संदर्भ में कहा गया है कि तृण का देवालय बनाने से कोटि गुणा, मृण देवालय से दस कोटि, इष्टिका के देवालय से शत कोटि तथा पाषाण का देवालय बनाने से अनन्त गुणा फल की प्राप्ति होती हैं।

अथ पुण्याहसप्तकम्-

कूर्मसंस्थापने द्वारे पद्माख्यायां तु पौरुषे।

घटे ध्वजे प्रतिष्ठायां एवं (मेव ?) पुण्याहसप्तकम् ॥ 36 ॥

इस प्रकार देवालय के निर्माणारंभ से लेकर निर्माणोपरान्त देवप्रतिष्ठा तक सात कर्म होते हैं जिन्हें यथा विधि, निर्देश पूरा करना चाहिए। ये कर्म हैं- 1. कूर्म स्थापना, 2. द्वार स्थापना, 3. पद्मशिला स्थापना, 4. प्रासादपुरुष की स्थापना, 5. कलश, 6. ध्वजारोहण तथा 7. देवप्रतिष्ठा। इन सभी अवसरों पर वास्तुपूजन आवश्यक है। इससे कार्य निर्विघ्न, निरापद सम्पन्न होता है।

यही मत इस ग्रंथ के आठवें अध्याय में भी है- पूर्वोक्ता सप्तपुण्याह प्रतिष्ठा सर्वसिद्धिदा। रवौ सौम्यायने कुर्यात् देवानां स्थापनादिकम् ॥ (8, 37)

इसी प्रकार अपराजितपृच्छा के मिश्रकप्रासादसप्तपुण्याहमाहात्म्यसूत्र में भी इस सम्बन्ध में निर्देश किया गया है- कृते कूर्मप्रतिष्ठायाः खाते पूर्णे च संस्थितौ। भूमिलोके तथा राज्यं सर्वजन्मसु शाश्वतम् ॥ प्रतिष्ठायां शिलायास्तु दैवज्ञैस्सत्यमुच्यते। इच्छास्थाने स्वर्गलोके राज्यं जन्मनि जन्मनि ॥ द्वारे प्रतिष्ठामाने तु स्तम्भोच्छ्रयसमन्विते।

महापुरं च लभते काञ्चनं शतयोजनम् ॥ पद्मशिला प्रतिष्ठायां शिवालये भूमस्तके। एकच्छत्रं महाराज्यं जनलोके च प्राप्नुयात् ॥ पुरुषे स्थाप्य मानेत्वागमोक्तमंत्रतस्तथा। तपालोके ब्रह्मलोके क्रीडति त्रिदशैः सह ॥ प्रस्थाप्यमाने कलशे क्षीरार्णवसमुद्भवे। काञ्चने पुष्पविमाने सत्यलोके स गच्छति ॥ कृते महाध्वजारोपे पताकाध्वजचामरैः। स गच्छेद् ज्ञानलोके तु यत्र शम्भुश्च देवता। बलीवर्दाः कर्मकरा अपराश्च शिवालये। ते यान्ति परमं लोकं यत्र देव उमापतिः ॥ मृत्काष्ठलोहशैला वा ये लग्नाश्च शिवालये। दिव्यमूर्तिधराः सर्वे शिवलोक व्रजन्ति ते ॥ (114, 11-19)

शांतिपूजादिचरणे-

भूम्यारम्भं तथा कूर्मे शिलायां सूत्रपातने।

खुरे(पुरे ?) द्वारोच्छ्रये स्तम्भे (कुम्भे ?) पट्टे पद्मशिलासु च ॥ 37 ॥

1. भूम्यारम्भ अथवा भूमि का चयन, 2. कूर्मन्यास, 3. शिलान्यास, 4. सूत्रपात या आरेखन, 5. खुरशिला स्थापना, 6. द्वार, 7. कुम्भ या स्तम्भ स्थापना, 8. पट्यारोहण, 9. पद्मशिला-

शुकनासे च पुरुषे घण्टायां कलशेस्तथा।

ध्वजोच्छ्रायेण(ध्वजोच्छ्राये च!) कुर्वीत शान्तिकानि चतुर्दशः ॥ 38 ॥

10. शुकनासिका, 11. प्रासादपुरुष की स्थापना, 12. घंटिका या आमलक, 13. कलश स्थापना और 14. ध्वजारोहण- ये चौदह अवसर है, जबकि स्थापक को शांतिकर्म का विधान अवश्य ही करना चाहिए।

अत्रैव प्रासादप्रमाणम्-

एक, हस्तादिप्रासादो(दाद् ?) यावद्धस्तशतार्द्धकम् ₅₀।

प्रमाणं कुम्भके मूले-नासिके भित्तिबाह्यतः ॥ 39 ॥

प्रासाद के प्रमाण के संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि एक से पचास हाथ पर्यन्त विस्तारयुक्त प्रासाद का प्रमाण दीवार के कुंभक की मूलनासिका अथवा कोने तक परिगणित किया जाना चाहिए।

मण्डोवरादिस्थावराणाम्-

कुम्भादिस्थावराणां च निर्गमः समसूत्रतः।

पीठस्य (श्च ?) निर्गमो वाह्ये (व्राह्ये ?) तथैवच्छाद्यकस्य च ॥ 40 ॥

कुंभक के मूलनासक से लेकर छाद्य के तल तक जितने स्तरों का निर्माण किया जाए, वहाँ तक सभी स्तरों अथवा थरों का निर्गम या वाहरी हिस्सा समसूत्र में रखा जाना चाहिए। पीठ और छाद्यों का निर्गम अन्य स्तरों से आगे निकाला हुआ हों।

प्रासादस्याङ्गसंख्या:

त्रि$_3$पञ्च$_5$सप्त$_7$नवभिः$_9$ फालनाभिर्विभाजयेत्।

प्रासादमङ्गसंख्या (संख्येति ?) च वारिमार्गान्तरस्थिता:(ति ?) ॥ 41 ॥

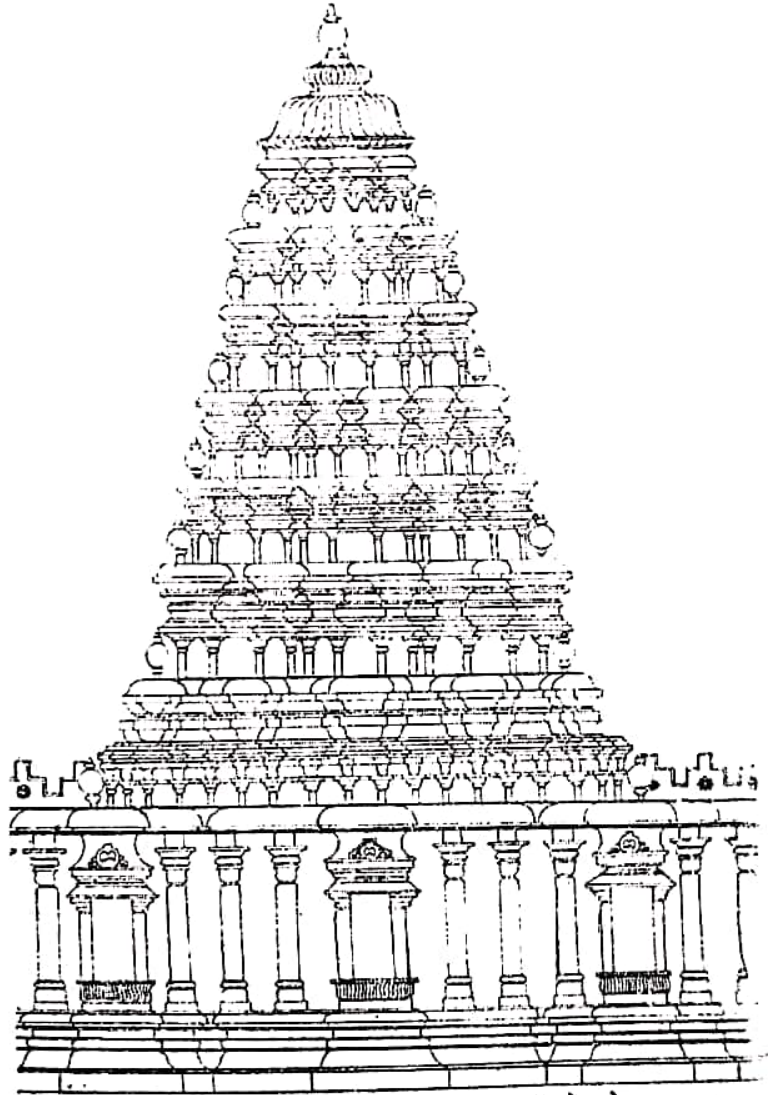
प्रासादों की अंग संख्या के संदर्भ में ज्ञातव्य है कि उन्हें जल मार्ग के अन्तराल में अथवा नाली से बाहर तक निकलती हुई रखें। कर्ण, प्रतिकर्ण और नन्दी आदि फालनाएँ भाग क्रमशः 3, 5, 7 अथवा 9 की संख्या में होती हैं। ये ही प्रासाद की अङ्ग संख्याएँ होती हैं।

फालना कर्णतुल्या स्याद्भद्रं तु द्विगुणं हितं (समम्!)।

सामान्योऽयं विधिस्तुल्यो हस्ताङ्गुलविनिर्गमः(त् ?) ॥ 42 ॥

उक्त कर्ण और फालनाओं को समतुल्य रखना चाहिए। भद्र को कर्ण से दो गुना रखें यह सामान्य विधि है। फालनाओं को उतना ही अङ्गुल रखा जाना चाहिए जितना हाथ किसी प्रासाद का विस्तार होता है।

इति सूत्रधारमण्डनविरचिते प्रासादमण्डने वास्तुशास्त्रे
मिश्रकलक्षणे प्रथमोऽध्यायः ॥ 1 ॥



आंध्र, कर्नाटक की प्रासाद शैली (कुलपालजी जैन हैदरावाद)
शिखर और मंडोवर

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

जगतीदृष्टिदोषायतनाधिकारः

अथ जगतीस्वरूपम्-

प्रासादानामधिष्ठानां(नं ?) जगती सा(शा ?) निगद्यते।

यथा सिंहासनं राज्ञः(ज्ञा ?) प्रासादस्य तथैव सा(: , च ?)॥ 1 ॥

जो प्रासाद की मर्यादित या चयनित भूमि हो, उसको 'जगती' के नाम से जाना जाता है। राजा के सिंहासन के लिए उपयुक्त भूमि के निर्धारण तरह ही प्रासाद निर्माण हेतु उपयुक्त भूमि का निर्धारण एवं चयन किया जाना चाहिए।

चतुरस्रा$_4$यताष्टा$_8$स्रा वृत्त(र्त्तर ?)वृत्तायता तथा।

जगती पञ्चधा$_5$ प्रोक्ता प्रासादस्यानुरूपतः ॥ 2 ॥

प्रासाद में जगती पाँच प्रकार की यथा- 1. समचोरस, 2. लम्ब चोरस, 3.अष्ट कोण वाली, 4. गोलाकार तथा 5.लम्ब गोलाकार होती है। प्रासाद को अनुरूप जगती का निर्माण किया जाना चाहिए।

यह भुवनदेवाचार्य कृत अपराजितपृच्छा के 'जगत्यङ्गसमुदाय सूत्र' के श्लोक का ही एक रूप है- चतुरश्रा तथायता वृत्ता वृत्तायता तथा। अष्टाश्रा च तथा कार्या प्रासादस्यानुरूपतः ॥ [१]

प्रासादमानभेदन जगत्या मानभेदः

प्रासादपृथुमानोच्च त्रिगुणा च चतुर्गुणा।

क्रमात् पञ्चगुणा प्रोक्ताः ज्येष्ठा-मध्या-कनिष्ठिका(कनीयसी ?)॥ 3 ॥

प्रासाद के विस्तार मान से तीन, चार अथवा पाँच गुणी जगती का निर्माण किया जाना चाहिए। मान से तीन गुणी जगती को ज्येष्ठ, चार गुणी मध्यमा तथा पाँच गुणी जगती को कनिष्ठ जगती कहा जाता है।

---

१. सूत्र 115, 7

यह मत भुवनदेवाचार्य से तुलनीय है- प्रासादपृथुमानेन द्विगुणा चोत्तमा तथा। मध्यमा चतुर्गुणा याधमा पञ्चगुणोच्यते ॥ [१]

कन्यसे कन्यसा ज्येष्ठे (कनिष्ठे ज्येष्ठा कनिष्ठा ?) ज्येष्ठा मध्ये च मध्यमा।

प्रासादो जगती कार्या स्वरूपा लक्षणान्विता ॥ 4 ॥

ज्येष्ठा जगती को कनिष्ठ मान के प्रासाद में रखना चाहिए। मध्यम मान की मध्यम प्रासाद तथा ज्येष्ठ मान वाले प्रासाद में कनिष्ठ मान की जगती का निर्माण करें। जगती को प्रासाद के स्वरूप और लक्षणानुसार ही बनाना चाहिए।

यह मत भुवनदेवाचार्य के मतानुसार है। तुलनीय है- ज्येष्ठा कनिष्ठप्रासादे मध्यमे मध्यमा तथा। ज्येष्ठे कनिष्ठा व्याख्याता जगती मानसंख्यया ॥ [२]

रस$_6$सप्त$_7$ गुणा ख्याता जिने पर्याय संस्थिता(ते ?)।

द्वारकायां च कर्त्तव्या तथैव पुरुषत्रये ॥ 5 ॥

पञ्चकल्याणक यथा-च्यवन, जन्म, दीक्षा, ज्ञान तथा मोक्ष वाले जिन प्रासाद में, द्वारिका प्रासाद में तथा त्रिपुरुष यथा ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव वाले प्रासाद में छह अथवा सात गुणी जगती का निर्माण किया जाना चाहिए।

आचार्य भुवनदेव का भी यही मत है। तुलनीय है- षटसप्तगुणाख्याता च युक्तिपर्यायसंस्थिता। यत्र त्रिपुरुषा यद्वा द्वारिकायां निगद्यते ॥ [३]

मण्डपस्यजगत्या-

मण्डपानुक्रमेणैव सपादांशेन$_{11}$ सार्द्धतः$_{111}$।

द्विगुणा$_2$ वायता कार्या साहस्त्रायतनावधिः$_{1000}$ (ने विधिः!)॥ 6 ॥

प्रासादों में मण्डपानुक्रम से सवा अंश, डेढ़ या दुगुनी लम्बी जगती का निर्माण होना चाहिए। इसके अतिरिक्त सहस्त्रों प्रासादों में इसी विधि का प्रयोग किया गया है।

अथ भ्रमण्या-

त्रि$_3$द्वेय$_2$क$_1$भ्रमसंयुक्ता ज्येष्ठा मध्या कनिष्ठिका (कनीयसी!)।

उच्छ्रयस्य (:) त्रिभागेः भ्रमणीनां समुच्छ्रयः(या ?)॥ 7 ॥

---

१. वही 18

२. वही 8

३. वही 11

अब जगती में भ्रमणी विषय में कहा जा रहा है। तीन भ्रमणी वाली जगती ज्येष्ठा, दो वाली मध्यमा तथा एक भ्रमणी वाली को कनिष्ठा नाम से जाना जाता है। भ्रमणी की ऊँचाई जगती से तीसरे भाग की रखनी चाहिए।

भुवनदेव ने कदाचित इस सर्वप्रथम स्पष्ट किया है– कनिष्ठे भ्रमणी चैका मध्यमे भ्रमणीद्वयम्। ज्येष्ठे तिस्रो भ्रमण्यश्च साङ्गोपाङ्गिकसङ्ख्यया॥ [१]

तत्र जगत्याकर्णाः

चतुःकोणैस्तथा$_4$ सूर्य$_{12}$कोणैर्विंशति$_{20}$कोणकैः।

अष्टाविंशति$_{28}$षट्त्रिंशत्$_{36}$कोणैः स्युः पञ्च फालनाः॥ 8॥

जगती पाँच फालना वाली होती है– चार, बारह, बीस, अट्ठाइस तथा छत्तीस ये पांच कोणे जगती के लिए होते हैं।

यह श्लोक अपराजित. के श्लोक का ही परिवर्तित रूप है– चतुरश्रा सूर्यकर्णा विंशकर्णाष्टविंशतिः। तथा षट्त्रिंशत्कर्णा च भ्रमण्यः पञ्चकीर्तिताः॥ [२]

जगत्योदयमानाः

प्रासादार्द्धा$_{॥}$र्क$_{12}$हस्तान्तं त्र्यंशा (त्रिशे ?) द्वाविंशती$_{22}$ च सा(करे!)।

द्वात्रिंशति$_{32}$ चतुर्थांशो$_4$ भूतांशोच्चा$_5$ शतार्द्धके$_{50}$॥ 9॥

एक हाथ से बारह हाथ तक विस्तार के देवायतन की जगती प्रासाद के आधे भाग की ऊंचाई तक, तेरह हाथ से बाइस हाथ तक होने पर जगती प्रासाद के तीसरे भाग की ऊंचाई तक, तेइस से बत्तीस हाथ होने पर चौथे भाग की बनाएँ। इसी प्रकार तैतीस से आगे पचास हाथ के प्रासाद होने पर की जगती को पाँचवें भाग की ऊंचाई तक बनाया जाना चाहिए।

पुनश्चयोक्ति–

एकहस्ते$_1$ करे$_1$णोच्चा सार्द्ध$_{2॥}$द्व्यंशाश्च (साध्यर्धं सा ?) चतुःकरे$_4$।

---

१. वही 9

२. वही 14

सूर्य$_{12}$जैन$_{24}$ शतार्द्धान्तं क्रमाद् द्वि$_2$त्रि$_3$युगांशकैः$_4$॥ 10॥[१]

एक हाथ विस्तार के प्रासाद की जगती एक हाथ, दो हाथ वाले की डेढ़ हाथ, तीन हाथ प्रासाद की जगती दो हाथ, चार हाथ प्रासाद की जगती ढाई हाथ ऊंची बनाएँ। पांच से बारह हाथ वाले प्रासाद की जगती दूसरे भाग की, तेरह से चौबीस हाथ वाले प्रासाद की जगती तीसरे भाग की तथा पच्चीस से पचास हाथ वाले प्रासाद की जगती चौथे भाग के समान ऊंची बनाना चाहिए।

अपराजितपृच्छा में भी यही मान दिया गया है– एकहस्ते तु प्रासादे जगत्या उच्छ्रयः समः। द्विहस्ते हस्तसार्धस्तु त्रिहस्ते तु द्विहस्तकः॥ सार्धं द्विकरमुत्सेधः प्रासादे वेदहस्तके। चतुर्हस्तस्योपरिष्ठाद् यावद् द्वादशहस्तकम्॥ प्रासादस्यार्द्धमानेन त्रिभागेन ततःपरम्। चतुर्विंशतिहस्तान्तं कारयेत्तद्विचक्षणः॥ पादेनैवोच्छ्रयं तावद् यावत् पञ्चाशद्धस्तकम्। एवमन्यश्च कर्तव्यो जगतीनां समुच्छ्रयः॥ [२]

अथ जगत्योदयेन थरमान–

तदुच्छ्रायं भजेत् प्राज्ञस्त्वष्टाविंशतिभिः$_{28}$ पदैः।

त्रिपदो$_3$ जाड्यकुम्भश्च द्विपदं$_2$ कर्णकं (कणकं ?) तथा॥ 11॥

अब जगती के उदय के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। विद्वान को उदय के अट्ठाईस भाग कर लब्धि में से तीन भाग का जाड्यकुम्भ और दो पद की कर्णिका अथवा कणी बनानी चाहिए।

पद्मपत्रसमायुक्ता त्रिपदा$_3$ सिरपत्रिका(शीर्षपत्रिका!)।

द्विपदं$_2$ खुरकं कुर्यात् सप्तभागं$_7$ च कुम्भकम्॥ 12॥

जगती में पूर्व मान विभाजितानुसार तीन पद पर पद्मपत्र और शीर्ष पत्रिका या ग्रासपट्टिका, दो पद का खुरा और सात भाग का कुम्भक बनाना चाहिए।

कलशस्त्रिपदः$_3$ प्रोक्तो भागे$_1$नान्तरपत्रकम्।

कपोतालिस्त्रिभागे$_3$ च पुष्पकण्ठो युगांशकः$_4$॥ 13॥

---

१. 'ख' संज्ञक मातृका में इस श्लोक का पूर्वार्द्ध नहीं है।

२. वही 23–26

उक्त क्रम से ही तीन भाग का कलश, एक भाग का अन्तरपत्रक, तीन पद की कपोताली अथवा केवाल और चार पद का पुष्पकण्ठ रखना चाहिए।

पुष्पकाज्जाड्यकुम्भस्य(श्च ?) निर्गमश्चाष्टभिः$_8$ पदैः(प्यदैः ?)।

कर्णेषु च दिशापालाः प्राच्यादिषु प्रदक्षिणाः ॥ 14 ॥

जगती में पुष्पकण्ठ से जाड्यकुम्भ का निर्गम आठ पद रखना चाहिए। साथ कर्ण में प्राच्यादि अर्थात् पूर्व से दक्षिण क्रमानुसार दिक्पालों की रचना करनी चाहिए।

उक्त मत अपराजित से तुलनीय है- तथोच्छ्रयं भजेत्प्राज्ञ अष्टाविंशपदैरधः। जाड्यकुम्भं च त्रिपदं कर्णकं द्विपदं तथा॥ पद्मपत्रसमायुक्ता त्रिपदा शीर्षपत्रिका। क्षुरकं द्विपदं प्रोक्तं कुम्भकं सप्तभिः पदैः॥ त्रिपदः कलशः प्रोक्तः पदं चान्तरत्रिकम्। कपोताली च त्रिपदा पुष्पकं युगसङ्ख्यया॥[१]

जगत्याभूषणाङ्गानि-

प्राकारैर्मण्डिता कार्या चतुर्भिर्द्वारमण्डपैः।

मकरैर्जलनिष्कासैः सोपानैस्तोरणादिभिः ॥ 15 ॥

प्रासादादि निर्माणों में जगती संरचना को चारों दिशाओं में द्वार-मण्डप इत्यादि युक्त प्राकार से आवेष्टित किया जाना चाहिए। उनमें जल की निकासी के लिए मकरमुखी प्रणाल या नालियाँ बनवाएँ। उन पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ अथवा सोपान तथा सुन्दरता के लिए तोरणों का प्रावधान भी किया जाना चाहिए।

मण्डपाग्रे प्रतोल्यग्रे सोपानं शुण्डिकाग्रतः(शुण्डिकाकृतिम्!)।

तोरणं कारयेत्तस्य पदं पदानुसारतः(पट्टं पट्टानुसारत!) ॥ 16 ॥

मण्डप तथा प्रतोली के अग्र भाग में सीढ़ियां बनाई जाने। इसके दोनों ओर हाथी बनाएँ। इसी प्रकार वहाँ पदानुसार (पट्टानुसार ?) तोरण भी बनाने चाहिए।

भुवनदेव ने अग्रभाग में तीन प्रकार के तोरण का निर्देश दिया है- गण्डाग्रे शुण्डिकाग्रे च प्रतोल्यग्रे तथैव च। तोरणं त्रिविधं ज्ञेयं ज्येष्ठमध्यकनिष्ठकम्॥[२]

१. वही 27-30

२. वही 39

तोरणविधिः

तोरणस्योभय(वो ?)स्तम्भ-विस्तरं(रो ?) गर्भमानतः।

भित्तिर्गर्भप्रमाणेन तयोर्मध्येऽथवा (समानेन वा!) भवेत् ॥ 17 ॥

तोरण के उभय स्तम्भों के बीच का आयाम प्रासाद के गर्भगृह के मान, या दीवार के मध्यमान या फिर प्रासाद के मान अनुसार निर्धारित किया जाना चाहिए।

अपराजितपृच्छा में इसकी विधि इस प्रकार दी गई है- जगतीपृथुमानेन तत्रान्तरं निगद्यते। अधिकं षोडशं चैव विभक्तं नवधा पुनः॥ त्रिधा ज्येष्ठमिति ख्यातं त्रिधा मध्यं कनिष्ठकम्। ब्रह्मस्थानादिगर्भे च स्तम्भगर्भे च तोरणम्॥ स्तम्भगर्भे भित्तिगर्भे तन्मध्ये च विचक्षणः। तोरणस्य च स्तम्भस्य विस्तरः कथितो मया॥[१]

वेदिका पीठरूपैश्च शोभाभिर्बहुभिर्युतां(तं ?)।

विचित्रं तोरणं कुर्याद्दोला देवस्य तत्र च(: ?) ॥ 18 ॥

जगतीरूप वेदिका प्रासाद की पीठरूप होती है। इसको बहुत प्रकार से और विचित्र तोरणों से सुसज्जित किया जाए। तोरण, झूलों के अंदर देवताओं की आकृतियां बनाई जाएँ।

अपराजितपृच्छा में जगती की उपमा सिंहासन में मणि के सदृश्य की गई है- यथा सिंहासने राजा शोभते मणिदीप्तिभिः। तथा जगत्यां प्रासादं पीठकर्मोपशोभितः॥ वही 33, इसके साथ ही 116वें सूत्र में चौसठ प्रकार की जगतियों के गुणदोषों पर भी विचार किया गया है।

बिम्बवाहनविधानम्-

प्रासादाद्वाहनस्थाने करणीया चतुष्किका।

एक$_1$ द्वि$_2$ त्रि$_3$ चतुः$_4$ पञ्च$_5$ रस$_6$ सप्त$_7$ पदान्तरे ॥ 19 ॥

प्रासाद में देवताओं के लिए निर्धारित स्थान पर चौकी बनाएँ। इसे प्रासाद से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह या सात पद के अन्तराल पर बनाया जाना चाहिए।

१. वही 40-42

भुवनदेवाचार्य का भी यही मत है। तुलनीय है- पट्टं पट्टानुसारेण चेलिकावलनैर्युतम्। वाहनं यस्य देवस्य तदग्रे च प्रदापयेत्॥ एकद्वित्रिचतुः पञ्चषट्सप्तानुक्रमेण तु। चतुष्किका च कर्तव्या सर्वकामफलप्रदा॥ [१]

मण्डन ने देवतामूर्तिप्रकरणम् में कहा है कि जिस देवता का जो वाहन हो, वह उस देवता के आगे एक, दो, तीन, चार पाँच, छह या सात पद के अन्तर से स्थापित किया जाना चाहिए- वाहनं यस्य देवस्य तत्तस्याग्रे प्रकल्पयेत्। एकद्वित्रिचतुःपञ्च वा षट्सप्तपदान्तरै॥ (6, 168)

त्रिविधवाहनोदयमाह-

अर्च्चायामे नवांशे तु पञ्च$_5$ षट्$_6$ सप्त$_7$ भागिकः।

गुह्यनाभिस्तनान्तं वा त्रिविधो वाहनोदयः॥ 20॥

मूर्ति के उदयमान को नौ से विभाजित करें और लब्धि में से पांच, छह या सातवें भाग के मान का वाहन का उदय रखा जाना चाहिए। प्रकारान्तर से गुह्याङ्ग, नाभि या स्तनपर्यन्त भी वाहन का उदयमान रखा जा सकता है। इस प्रकार यहाँ तीन प्रकार का वाहनोदय वर्णित किया गया है।

वृषभादीनां वाहनस्यदृष्टिस्थानानि-

पादं-जानु (पादुयान ?)-कटी-यावदर्च्चायां वाहनस्य दृक्।

वृषस्य विष्णुभागान्ते सूर्ये व्योमस्तनान्तकम्॥ 21॥

प्रतिमा के पद, जानु अथवा कटि पर्यंत उसके वाहन की दृष्टि रखी जाएँ। शिवालय के प्रसङ्ग में शिववाहन वृषभ की दृष्टि शिवलिङ्ग के विष्णुभाग* तक तथा सूर्यायतन में उसके वाहन अश्व की दृष्टि को वहाँ प्रतिष्ठापित रवि प्रतिमा के स्तन भाग तक रखी जानी चाहिए।

उक्त मत भुवनदेवाचार्य के मतानुसार ही है। तुलनीय है- मूर्तिस्थाने तु कर्तव्या मूलस्तम्भैश्चतुष्किका। वृषस्य चोच्छ्रयः कार्यो विष्णुभागान्त-दृष्टिकः॥ पादं जानु कटिं यावदर्चाया वाहनस्य दृक्। गुह्यनाभिस्तनान्तं वा सूर्ये व्योमस्तनान्तकम्॥ विलोमे कुरुते पीडामधोदृष्टिः सुखक्षयम्। स्थानं हन्यादर्ध्वदृष्टिः स्वस्थाने मुक्तिदायिका॥ वही सूत्र

१. वही 43-44

208, 18-20 मण्डनकृत देवतामूर्तिप्रकरणम् में यही श्लोक इस रूप में है- पादं जानु कटिं यावन्मूर्तौ वाहनदृक्शुभा। स्थाननाशं करोत्यूर्ध्वोऽधोदृष्टिश्च प्रजाक्षयम्॥ (6, 170)

* *शिवलिङ्ग में आधारभाग को ब्रह्मभाग, मध्य को विष्णु तथा शीर्षभाग को रुद्रभाग या शङ्करभाग कहा जाता है। आयाम के सन्दर्भ में भी यही मत है। मण्डन ने देवतामूर्तिप्रकरणम् में इसे स्पष्ट किया है- त्रिसप्तांशे कृत माने ब्रह्मांशे सूत्रमध्यमे। कृत्वा षडंशकं तच्च वामे द्व्यंशं व्यपोह्य च॥ तन्मानमग्रतो नीत्वा प्रागुदग्गत सूत्रकम्। तद्ब्रह्मसूत्र मित्युक्तं तत् सूत्र शिवमध्यगम्॥ मध्ये यद्ब्रह्मणः सूत्रं तस्य वामे शिवस्य च। तन्मध्ये वैष्णवं सूत्रं तत्सूत्रं सार्वदैवतम्॥* (3, 1-3)

अथ जिनालये मण्डपक्रमं-

जिनाग्रे संवसरणं(जिनाये संवरेणाग्रे, सोमसरणं ?) शुकाग्रे गूढमण्डपः।

गूढस्याग्रे चतुष्किकाद्यास्तदग्रे(चतुकाद्यास्तर्गे ?) नृत्यमण्डपः॥ 22॥

जिन प्रासाद के अग्रभाग में संवसरण, शुकनास के अग्रभाग में गूढ़मण्डप, तत्पश्चात चौकी या चतुष्किकामंडप और इसके अग्रभाग में नृत्यमंडप बनाएँ।

जिनालयेद्देवकुलिकाः

दिसप्तत्या$_{72}$ द्विबाणैर्वा$_{52}$ चतुर्विंशतितोऽपि$_{24}$ वा।

जिनालयैश्चतुर्दिक्षु सहितं जिनमन्दिरम्॥ 23॥

जिनालयों के निर्माण के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि निज मन्दिर के साथ ही जिनालय परिसर के चतुर्दिक बहत्तर, बावन अथवा चौबीस देवकुलिकाओं का निर्माण भी किया जा सकता है। (लोकजीवन में ऐसे जैन मन्दिरों के लिए चौबीसिया, बावन जिनालय और बोहत्तरिया मन्दिर जैसी संज्ञाएँ भी प्रचलित हैं, कहीं-कहीं सतबीस देवरी जैसे नामाभिधान भी हैं किंतु उनमें सत्ताईस मन्दिरों की अपेक्षा बावन देवकुलिकाएँ होती हैं। मेवाड़ में चित्तौड़ दुर्ग, ऋषभदेव-धूलेव, करेड़ा-पार्श्वनाथ जैसे जिनालय इसी कोटि के हैं। इनका निर्माण मण्डन के पूर्व और परवर्तीकाल में हुआ है। मण्डन के समकालीन सूत्रधार देपाक ने रणकपुर का प्रसिद्ध जिनालय बनाया था)।

अथाष्टापदत्रिशालादीनां-

मण्डपाद्गर्भ(गर्द ?)सूत्रेण वाम-दक्षिणयोर्दिशोः।

अष्टापदं प्रकर्त्तव्यं त्रिशाला वा बलाणकम् ॥ 24 ॥

प्रमुख जिनप्रासाद के गूढमंडप के उभयपार्श्व अथवा बाएँ तथा दाएँ अष्टापद, त्रिशाला या बलाणक का निर्माण भी किया जाना चाहिए।

अत्रैव रथशालामठञ्च–

अपरे रथशाला च मठं याम्ये प्रतिष्ठितम् (प्रकीर्त्तितम् ?)।

उत्तरे रथरन्ध्रं च प्रोक्तं श्रीविश्वकर्मणाः ॥ 25 ॥

भगवान् विश्वकर्मा का कथन है कि देवस्थान के पार्श्व में रथशाला और दक्षिण में मठ तथा उत्तर में रथरन्ध्र या रथ के लिए प्रवेशद्वार बनाना चाहिए।

मठादि के लिए अपराजितपृच्छा में विस्तार से विवरण है।

जगती तादृशी कार्या (कुर्यात् ?) प्रासादो यादृशो भवेत्।

भिन्नच्छन्दा न कर्त्तव्या प्रासादासनसंस्थिता ॥ 26 ॥

इति प्रासादजगती।

यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि प्रासाद के आकार के अनुसार जगती बनाएँ। भिन्न छंदाकार वाली जगती का निर्माण अनुचित है क्योंकि जगती ही वह आधार है जिस पर प्रासाद संस्थित होता है।

जगती के सम्बन्ध में भुवनदेव का कथन है कि यह सुरालय का विभूषण है, यह उसके निर्माता को भुक्ति-मुक्ति प्रदान करती है, सत्य संपदादायक है। यह धर्म की हेतु, देवों की क्रीडा हेतु है और कीर्ति, आयु, यश की वृद्धिकारक तथा राजाओं की कल्याणकारक है– सुरालयविभूत्यर्थं भूषणार्थे पुरस्य तु। नराणां भुक्तिमुत्यर्थे सत्यार्थे चैव सर्वदा॥ लोकानां धर्महेतुश्च क्रीडाहेतुका स्वर्भुवाम्। कीर्तिरायुर्यशोऽर्थे च राज्ञां कल्याणकारकः॥[१]

अन्यदप्याह–

अग्रतः पृष्ठतश्चैव वाम-दक्षिणतोऽपि वा(दक्षिणयोर्दिशोः)।

प्रासादं कारयेदन्यं (कारयेदन्तः) नाभिवेधविवर्जितम् ॥ 27 ॥

१. सूत्र 115, 3-4

देवालयों के निर्माण में यह ज्ञातव्य रहे कि प्रमुख प्रासाद के अग्रभाग, पृष्ठभाग, वाम तथा दक्षिणी दिशा में अन्य देवताओं के प्रासाद बनाने चाहिए किंतु इन सभी को वास्तुपदानुसार नाभिवेध को त्यागकर ही बनाना चाहिए।

देवास्य सम्मुखदेवविचार –

लिङ्गाग्रे तु न कर्त्तव्या अर्च्चारूपेण देवताः।

प्रभानष्टा न भोगाय यथा तारा दिवाकरे ॥ 28 ॥

शिवलिङ्ग के सम्मुख किसी भी अन्य देवता की प्रतिष्ठा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार सूर्य के तेज के समक्ष ताराओं का प्रभाव नष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह शिव के सम्मुख स्थापित देवता निष्प्रभावी हो जाते हैं। ऐसे देवायतन भोगादि सुखों को देने में सक्षम नहीं होते।

यह श्लोक देवतामूर्तिप्रकरणम् में ज्यों का त्यों है।[१]

शिवस्याग्रे शिवं कुर्याद्ब्रह्माणं ब्रह्मणोऽग्रतः।

विष्णोरग्रे भवेद्विष्णुर्जिनेजैनो रवेरविः ॥ 29 ॥

शिव के आगे शिव, ब्रह्मा के आगे ब्रह्मा, विष्णु के आगे विष्णु, जिनदेव के आगे जिनदेव (तीर्थङ्कर) तथा सूर्य के आगे सूर्यदेव की प्रतिमा को स्थापित किए जाने से किसी प्रकार का दोष नहीं होता।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में यह पाठ इस प्रकार है– शिवस्याग्रे शिवं कुर्याद्ब्रह्माणं ब्रह्मणोऽग्रतः। विष्णौ विष्णुं जिने जैनं सूर्ये सूर्यमनुक्रमात्॥ वही 19, यहां मण्डन का यह भी कहना है कि चण्डी प्रतिमा के सम्मुख मातृदेवी एवं यक्षों के सम्मुख क्षेत्रपाल या भैरव को स्थापित किया जा सकता है। इसी तरह सभी देवताओं को अपने-अपने स्थान पर अथवा जो-जो जिस-जिस देवता का हितावह हो, उसे वहाँ स्थापित करना श्रेयस्कर होता है– मातरश्चण्डिकाग्रे स्युर्यक्षाः क्षेत्रादिभैरवः। स्वे-स्वे स्थाने सुराः स्थाप्या ये यस्याऽपि हितावहाः॥ वही 20, इसी प्रकार कहा गया है कि– वाहनं मूर्तिलिङ्गं च मूल प्रासादमानतः। वृषभस्य विष्णवान्ते च लिङ्गे दृष्टां नियोजयेत्। सूर्यास्याग्रे भवेत् सोमस्तनसूत्रसमोदयः॥ (6, 169)

१. वही 18

यही मान्यता भुवनदेवाचार्य की भी है– शिवास्याग्रे शिवं कुर्याद्ब्रह्मणस्तथा। विष्णोरग्रे भवेद्विष्णुर्जैने जैनं रवेरविम्॥ [१]

दृष्टिवेधनिरूपणम्–

ब्रह्मा-विष्ण्वोरेकनाभिर्जिने(विष्णुरेकनाभिर्द्वाभ्यां!) दोषो न विद्यते।

शिवस्याग्रेऽन्यदेवस्य (शिवाग्रे चान्यदेवस्य ?) दृष्टिवेधे महद्भयम्॥ 30॥

(परस्पद दृष्टिभेद पर विचार करें तो) ब्रह्मा, विष्णु और जिन यदि एक नाभि अर्थात् सम्मुख दृष्टिवेध हो तो उसका दोष शून्य समझना चाहिए, परन्तु शिव के सम्मुख अन्य देवों का दृष्टिवेध हो तो महाभय का कारण बनता है।

यह श्लोक देवतामूर्तिप्रकरणम् के तीसरे अध्याय में 21वें क्रम पर है। मण्डन का यहाँ यह भी कहना है कि दृष्टिवेध के कारण जिन देवताओं की स्थापना में ध्यान रखना होगा, वे हैं– ब्रह्मा, विष्णु, चंद्रमा, सूर्य, इन्द्र, कार्तिकेय, अग्नि, दिक्पाल, लोकपाल,ग्रह तथा मातृगण। इस सभी देवताओं को शिवाश्रय या शिवालय में शिव दृष्टिवेध परिहारकर स्थापित किया जाना चाहिए– ब्रह्माविष्णुः शशी सूर्य इन्द्रः स्कन्दो हुताशनः। दिक्पाला लोकपालाश्च ग्रहा मातृगणास्तथा॥ ऐते शिवाश्रये स्थाप्या दृष्टिवेधविवर्जिताः। दृष्टियातहितं यच्च पुराघं न प्ररोहति॥ [२]

यही मत भुवनदेवाचार्य का है– ब्रह्मविष्णोरेकनाभिर्जिनेर्दोषो न विद्यते। शिवाग्रे चान्यदेवानां दृष्टिवेधे महद्भयम्॥ ब्रह्मा विष्णुः शिवः सूर्यश्चंद्रः स्कन्दो हुताशनः। दिक्पाला लोकपालाश्च ग्रहा मातृगणास्तथा॥ ऐते शिवाश्रये स्थाप्या दृष्टिवेधविवर्जिताः। दूरेऽपि नैव कर्तव्या शिवदृष्टिषु सर्वदा॥ [३]

दृष्टिवेधोपरिहारः

प्रसिद्धराजमार्गस्य प्राकारस्यान्तरेऽपि वा।

स्थापयेदन्यदेवाश्च(श्च ?) तत्र दोषो न विद्यते॥ 31॥

१. सूत्र 108, 5
२. वही 22-23
३. सूत्र 108, 7-9

शिवालय तथा दूसरे देवालय के मध्य यदि प्रसिद्ध राजमार्ग होता है अथवा कोई प्राकार किंवा चहारदीवारी हो तो किसी प्रकार का दोष नहीं होता।

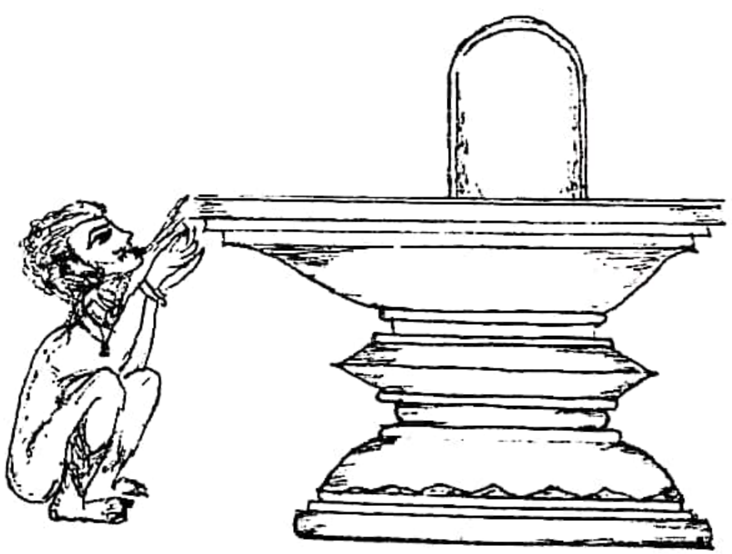
अपराजितपृच्छा के प्रासादसंस्थानोन्मानलक्षण संज्ञक सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि– ग्रामे राष्ट्रे पुरे तीर्थे नगरे तापसाश्रये। दृष्टिघातहतं यच्च न पुनस्तत् प्ररोहति॥ जिनेंद्रस्य तथा यक्षा देवाश्च जिनमातृकाः। आश्रयन्ति जिनं सर्वे ये चोक्ता जिनशासने॥ वर्जयेदर्हतः पृष्ठमग्रं तु शिवसूर्ययोः। पार्श्वं तु ब्रह्मविष्ण्वोश्च चण्ड्याः सर्वत्र वर्जयेत्॥ [१]

स्नानोदकनिर्गममार्गे विशेषः

शिवस्नानोदकं गूढमार्गं चण्डमुखे* क्षिपेत्।

दृष्टं न लङ्घयेत्तत्र(तत्तु ?) हन्ति पुण्यं पुराकृतम्(पुराक्रतं ?)॥ 32॥

शिवलिङ्ग के स्नानाभिषेक के उपरान्त जल गूढमार्ग से बहता हुआ चण्ड के मुख पर गिरना चाहिए। देवाभिषेक से गिरकर बहते हुए जल को कभी लांघना नहीं चाहिए। ऐसा करने पर पूर्ववत पुण्यों का नाश होता हैं।



देवतामूर्तिप्रकरणम् में मण्डन् यह भी कहा है कि शिवलिङ्ग की सम्मुख दिशा में,

१. वही 10-12

शिवतीर्थोदक में स्नान से महत्पुण्य की प्राप्ति होती है। प्रणालादि से निस्रत जल का उलङ्घन करने से महापाप लगता है- स्नानकृते महत्पुण्यं लिङ्गादिगु दिशं प्रति। लङ्घिते च महत्पापं शिवस्नानानोदके नृणाम्॥ (6, 125)

उक्त श्लोक अपराजितपृच्छा में इस रूप में है- स्नानोदकं गूढमार्गे तदा कुर्यात्प्रदक्षिणम्। दृष्टं न लङ्घयेत्स्नानं हन्ति पुण्यं पुराकृतम्॥ [१]

** चण्डमुख या चण्डगण का लक्षण भुवनदेवाचार्य ने इस प्रकार बताया है कि स्नानोदक को पीने वाला चण्डमुख पाद या पीठिका के आधार के बराबर बनाना चाहिए। वह स्थूलवदन, भीष्मानन तथा ऊर्ध्वासनस्थ हो तथा उसे पीठिका के उस मुख पर स्थापित करें जहाँ कि जलधारा गिरती है। वह दोनों हाथों से जल सिञ्चित कर उसे उदरस्थ कर लेता है। इस जल का लङ्घन दोषमुक्त माना जाता है- उच्छ्रेयचण्डकं कुर्यात् स्थूलं भीष्माननं तथा। पिबन्त च तथा मांक्ष विकृताननमूर्ध्वगम्॥ पिण्डिका (चण्डिका?)ग्रेकेशैश्चव निबद्धोपरि चण्डका (चण्डिका?)। हारकेयूरसम्यक्तं कङ्क-णाम्यामलङ्कृतम्॥* [२]

प्रदक्षिणनियम-

एकां चण्ड्या रवेः सप्त तिस्रो दद्याद्विनायके।

चतस्रो वासु(विष्णु ?)देवस्य शिवस्यार्द्धा प्रदक्षिणा(प्रदक्षिप्पा ?)॥ 33॥

चंडी देवी को एक, सूर्य को सात, गणेश को तीन, विष्णु को चार तथा महादेव की आधी प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा करने का विधान है।

यह श्लोक किञ्चित पाठान्तर के साथ देवतामूर्तिप्रकरणम् में मिलता है। तुलनीय है- एकां चण्ड्यां रवौ सप्त तिस्रो दद्यात् विनायके। चतस्रो विष्णुदेवस्य शिवास्यार्द्धा प्रदक्षिणाम्॥ 6, 126, इस श्लोक का उत्स अपराजितपृच्छा है। यह ज्यों का त्यों सूत्र 108 में क्रम 21 पर उपलब्ध है।

जैनदेवालये विशेष-

अग्रतो जिनदेवस्य स्तोत्र-मन्त्रा-र्चनादिकम्।

कुर्यान्न दर्शयेत्पृष्ठं(दर्शयेपृष्टं) सन्मुख द्वारलङ्घनम्॥ 34॥

---

१. सूत्र 198, 23

२. सूत्र 208, 2-3

जिनदेव के समक्ष स्तोत्र-स्तवन, मंत्र तथा पूजन करना चाहिए। बाहर आते व›कत पीठ नहीं दिखानी चाहिए। सम्मुख ही पिछले पैर चलकर द्वार का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में उक्त श्लोक इस रूप में उपलब्ध है- जैन देवाग्रसंस्थाने स्तोत्रमन्त्रार्चनादिकम्। नैव पृष्टिः(दृष्टि?)प्रदातव्या सन्मुखं द्वारलङ्घनम्॥ (6, 127) यह श्लोक अपराजितपृच्छा से है। [१]

प्रणालदिङ्नियम-

पूर्वापरामुखे द्वारे प्रणालं शुभमुत्तरे।

इति शास्त्र-विचारोऽयमुत्तरास्या(मुत्तरेशा ?) न देवताः॥ 35॥

(प्रतिमादि के स्नानोपरांत पड़ने वाले जल की निकासी के लिए) पूर्व तथा पश्चिम दिशा में द्वारयुक्त प्रासाद की नाली (पनाला) उत्तर दिशा में शुभ मानी गई है। उत्तर दिशा अथवा दक्षिणाभिमुख देव की स्थापना नहीं करनी चाहिए। यह शास्त्रों का मत है।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में यह निर्देश इस रूप में है- पूर्वापरे यदा द्वारं प्रणालम् चोत्तरे शुभम्। प्रशस्तं सर्वदवानामिति शास्त्रार्थ निश्चयः॥ 6, 128, अपराजितपृच्छाकार ने भी यही मत व्यक्त किया है- पूर्वापरे यदा द्वारं प्रणालं चोत्तरे शुभम्। प्रशस्तं शिवलिङ्गानाममिति शास्त्रार्थनिश्चयः॥ वही 24

मण्डपे ये स्थिता देवास्तेषां वामे च दक्षिणे।

प्रणालं कारयेद्धीमान् जगत्यां च चतुर्दिशम्॥ 36॥

मंडप में स्थित देव के स्थान से जल निकालने का मार्ग (नाली) बायीं तथा दायीं तरफ रखी जाए। जगती के चारों दिशा में नाली बनाई जानी चाहिए।

अपराजितपृच्छाकार ने स्पष्ट किया है कि मण्डप में जिस देवता की स्थिति हो, उनमें से मुख्य प्रतिमा के वाम भाग में स्थित देवों का प्रणाल वाम ओर तथा दक्षिणी ओर के देवों की नाली को दक्षिणी ओर बनाना शुभ होता है- अर्चानां मुखपूर्वाणां प्रणालं वामतः शुभम्। उत्तरास्या न विज्ञेया अर्चारूपेण देवताः॥ जैनमुक्ताः समस्ताश्च याम्योत्तरक्रमैः स्थिताः। वामदक्षिणायोगेन कर्तव्यं सर्वकामदम्॥ वामे वाम प्रकुर्वीत

---

१. सूत्र 108, 22

दक्षिणे दक्षिणं शुभम्। मण्डपादिषु प्रतिमा येषु युक्त्या विधीयते॥ जगतीकर्णे ये देवास्तान् कुर्याज्जगती स्थितान्। पृष्ठादग्रोभयोः पार्श्वे शास्त्रार्थैर्युक्तमुत्तमम्॥ ईशानमाश्रयेत् किञ्चिच्छिवलिङ्गेषु कामदम्। ईशाने मुक्तिदं प्रोक्तं भुक्तिदं चोत्तराश्रितम्॥[१]

देवतास्थापने दिङ्निर्णयः

पूर्वापरास्यं देवानां कुर्यान्नो दक्षिणोत्तरम्।

ब्रह्म-विष्णु-शिवा-र्के-न्द्र-गुहः पूर्वापरान्मुखाः ॥ 37 ॥

पूर्व तथा पश्चिम दिशाभिमुख वाले देवताओं का मुख उत्तर तथा दक्षिण दिशा में कभी नहीं रखे। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य इन्द्र तथा कार्तिकेय ये सभी देवतागण पश्चिमाभिमुखी होते है। इनका मुख हमेशा पूर्व या पश्चिम दिशा में रखना चाहिए।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में यह श्लोक इस प्रकार है- पूर्वापरास्य देवानां मुखं नो दक्षिणोत्तरम्। ब्रह्मा विष्णुः शिवार्केद्रा गृहः पूर्वपराङ्मुखः॥ वही 24, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में कहा है कि देवों का मुख पूर्व और पश्चिम या नगर के सामने शुभ होता है। देवालय के द्वार के संदर्भ में ऐसा करना श्रेष्ठ है, लेकिन उत्तर एवं दक्षिण मुखी श्रेष्ठ नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य एवं शिव का पृष्ठभाग यदि नगर के सामने हो तो नगर का विनाश होता है- पूर्वापरास्याः पुरसम्मुखाश्च देवाः शुभा नोत्तरदक्षिणाश्च। भङ्ग पुरस्यापि पराङ्मुखास्ते कुर्वन्ति धातार्कजनार्दनेशाः॥ (4, 12)

अथ पुराद्देवालयमुखः

नगराभिमुखाः श्रेष्ठां मध्ये बाह्ये च देवताः।

गणेशो-धनदो-लक्ष्मीः पुरद्वारे सुखावहाः ॥ 38 ॥

किसी भी नगर के बीच तथा बाहर स्थित देवताओं का मुख नगर के सम्मुख रखा जाना उत्तम होता है। गणेश, कुबेर तथा लक्ष्मी को नगर के पोलों, द्वारों पर स्थापित किया जाना सुखद होता है।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में इसका पाठ इस प्रकार है- नगराभिमुखाः श्रेष्ठा मध्ये बाह्ये च देवताः। शिवब्रह्मजिना विष्णुः सर्वाशाभिमुखाः शुभा॥ वही 25, मण्डन ने

१. वही 25-29

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में ब्रह्मादि के मन्दिर के मुख के सम्बन्ध में यह उक्ति दी है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इंद्र, सूर्य और कार्तिक स्वामी आदि देवता पूर्व या पश्चिम दिशा मुखी हो तो श्रेष्ठ है। इसमें भी शिव, तीर्थंकर, विष्णु व ब्रह्मा का मुख तो किसी भी दिशा में हो श्रेष्ठ है। चामुंडा, ग्रह षोडश मातृकाओं, कुबेर, कार्तिकेय एवं भैरव का दक्षिणमुखी होना श्रेष्ठ है। हनुमान का मुख नैर्ऋत्यकोण में रखा जाना उचित है- ब्रह्मा विष्णुशिवेन्द्रभास्करगुहाः पूर्वापरास्याः शुभाः प्रोक्तौ सर्वदिशामुखौ शिवजिनौ विष्णुर्विधाता तथा। चामुण्डा ग्रहमातरो धनपतिर्द्वैमातुरो भैरवो देवा दक्षिणदिङ्मुखाः कपिवरो नैर्ऋत्यवक्त्रो भवेत्॥ (4,13)

अथ दक्षिणाभिमुखोदेव-

विघ्नेशो भैरवश्चण्डी नकुलीशो ग्रहास्तथा।

मातरो धनदश्चैव शुभा दक्षिणदिङ्मुखाः ॥ 39 ॥

गणेश, भैरव, चण्डी, नकुलीश, नवग्रह, मातृदेवता तथा कुबेर- इन सभी देवताओं का मुख दक्षिण दिशा में हो तो शुभ फल को देने वाला है।

नैर्ऋत्याभिमुखा(: ?) कार्यो हनुमान् वानरेश्वरः।

अन्ये विदिङ्मुखा देवाः न कर्त्तव्याः कदाचन ॥ 40 ॥

इति देवानां दृष्टिदोषादिग्विभागः।

वानरेश्वर हनुमान का मुख सदैव नैर्ऋत्य दिशा में रखा जाए, अन्य किसी भी देवता का मुख की विदिशा में नहीं रखा जाए।

अत्रैवायतनक्रमम्-

आदौ सूर्यायतनम्-

सूर्याद्गणेशो विष्णुश्च चण्डी शम्भुः प्रदक्षिणे।

भानोर्गृहे(भानुगृहे ?) ग्रहास्तस्य गणा द्वादश मूर्त्तयः ॥ 41 ॥

इति सूर्यायतनम्।

सूर्य के पञ्चायतन मन्दिर में मध्य में सूर्य को, उसके प्रदक्षिण क्रम से गणेश, विष्णु, चण्डी देवी तथा महादेव की स्थापना की जानी चाहिए। सूर्यमन्दिर में नवग्रह तथा बारह गणों की मूर्तियां भी स्थापित की जाए।

अपराजितपृच्छा के आयतनदेवानुक्रमनिर्णय संज्ञक सूत्र में सूर्यायतन में ग्रहादि का क्रम इस प्रकार बताया गया है– आग्नेय्यां तु कुजः स्थाप्यो गुरुर्याम्ये प्रतिष्ठितः। नैर्ऋत्ये राहुसंस्थानं पश्चिमे चैव भार्गवः॥ वायव्ये केतु संस्थानं सौम्यायां बुध एव च। ईशाने च शनिं दद्यात् प्राच्यां चैव तु चन्द्रमाः॥ सूत्र 121, 16–17, यही वर्णन देवतामूर्तिप्रकरणम् 4, 36–37 में भी है।

अथ गणेशायतनक्रम–

गणेशस्य गृहे तद्वच्चण्डी शम्भुर्हरी(हरि ?) रविः।

मूर्त्तयो द्वादशान्येऽपि गणाः स्थाप्या हिताश्च ये (हिताश्रयोः ?)॥ 42॥

इति गणपत्यायतनक्रमः।

गणेश पञ्चायतन मन्दिर में देवताओं के मध्य में गणेश, तदन्तर प्रदक्षिण क्रम से चंडी, महादेव, विष्णु तथा सूर्य प्रकोष्ठों की स्थापना की जाए। बारहगणों की मूर्तियों को भी स्थापित करना हितदायक है।

अपराजितपृच्छा में यह मत है– वामे तु गजकर्णश्च सिद्धिं दद्याच्च दक्षिणे। द्वौ पृष्ठकर्णयोश्चैव धूम्रको बालचंद्रमाः॥ उत्तरे तु सदा गौरी याम्ये चैव सरस्वती। पश्चिमे यक्षराजस्तु बुद्धिः पूर्वे तु संस्थिता॥[१]

अथ विष्ण्वायतनम्–

विष्णोः(विष्णु, विष्ण ?) प्रदक्षिणे नैव गणेशोऽर्कोऽम्बिका शिवः।

गोप्य(ा ?)स्तस्यावतार(ा ?)स्य मूर्त्तयो द्वारकास्तथा॥ 43॥

इति विष्ण्वायतनक्रमः।

विष्णु के पञ्चायतन मन्दिर में मध्य में विष्णु तथा इसके बाद प्रदक्षिण क्रम से गणेश, सूर्य, अम्बिका तथा शिव को स्थापित किया जाना चाहिए। इस देवालय में गोपियों तथा अवतारों की मूर्तियाँ और द्वारकानगरी की स्थापना भी की जानी चाहिए।

अपराजितपृच्छाकार ने विष्ण्वायन की संरचना को विशेष रूप से स्पष्ट किया है– पूर्वे नारायणं देवं पुण्डरीकाक्षं दक्षिणे। पश्चिमे चैव गोविन्दमुत्तरे मधुसूदनम्॥ विष्णुं कुर्यात्तथेशाने चाग्नेय्यां तु जनार्दनम्॥ नैर्ऋत्ये पद्मनाभं च वायव्ये माधवं तथा। मध्ये तु केशवः स्थाप्यो वासुदेवस्तथोच्यते॥ सङ्कर्षणश्च प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धो यथाक्रमम्। जलशायी

तथा प्रोक्तो दशावतारसंयुतः। शूकरस्त्वग्रतः स्थाप्यः सर्वदेवमयः शुभः॥ शेषकूर्मसमायुक्तो लक्ष्मीर्वै वामपार्श्वतः। विष्ण्वायतनमित्येवं कथितं त्वपराजित॥ वही (11–15)

अथ चण्ड्यायतनम्–

चण्ड्याः शम्भुर्गणेशोऽर्को विष्णुः स्थाप्यः प्रदक्षिणे(ेः, ा ?)।

मातरो मूर्त्तयो देवा योगिन्यो भैरवादयः॥ 44॥

इति चण्डिकायतनक्रमः।

चंडी देवी के पञ्चायतन मन्दिर में मध्य में चंडी देवी की स्थापना होती है। उसके प्रदक्षिण क्रम से महादेव, गणेश, सूर्य तथा विष्णु की स्थापना की जाए। मातृदेवी, चौसठ योगिनी आदि देवियों तथा भैरव आदि देवताओं की मूर्तियाँ भी इसमें स्थापित की जानी चाहिए।

भुवनदेवाचार्य ने गौर्यायतन में देवताओं की स्थापना का क्रम इस प्रकार दिया है– गौर्यायाः सम्प्रवक्ष्यामि देवतामनुक्रमम्। दक्षे मातृः श्रिया सौम्ये सावित्रीं पश्चिमे विदुः॥ द्वे पृष्ठकर्णयोश्चैव भगवती सरस्वती। गणेशं च कुमार च त्वीशान चाग्निगोचरे॥ कुण्डलाभ्यामलङ्कृत्वा सर्वाभरणभूषिता। मध्ये देवी प्रतिष्ठाप्या महेशस्य सदा प्रिया॥[१]

अथ शिवायतनम्–

शम्भोः सूर्यो गणेशश्च चण्डी विष्णुः प्रदक्षिणे।

स्थाप्याः सर्वे शिवस्थाने दृष्टिवेधविवर्जिताः॥ 45॥

इति शिवायतनक्रमः।

शिव के पञ्चायतन मन्दिर में मध्य में शिव को स्थापित करें, तदनन्तर प्रदक्षिण क्रम से सूर्य, गणेश, चण्डी तथा विष्णु की स्थापना की जानी चाहिए। इस प्रसङ्ग में यह ज्ञात रहे कि पूर्व वर्णनानुसार देवताओं का परस्पर दृष्टिवेध निश्चिय ही त्यागें।

भुवनदेवाचार्य ने एकद्वार तथा चतुर्मुखशिवायतन का क्रम पृथक्-पृथक् वर्णित किया है। एकद्वार शिवायतन में स्थापना क्रम इस प्रकार है– वामे गणपतिश्चैव दक्षिणे

पार्वती स्थिता। नैर्ऋत्ये भास्करं विद्याद् वायव्ये च जनार्दनम्॥ मातृभ्यो मातृसंस्थानं दक्षिणस्यां हि कारयेत्। सौम्ये शान्तिगृहं कुर्यात् पश्चिमे जलशायिनम्॥ वही 4-5, इसी प्रकार चतुर्मुखशिवायतन में देवताओं की स्थापना के लिए निर्देश है- *वामे स्नानगृहं कुर्यात् सोमद्वारं तु दक्षिणे। मध्ये रुद्रः प्रतिष्ठाप्यो मातृस्थानं च दक्षिणे॥ वामे देवीं महालक्ष्मीमुमां वै भैरवीं तथा। ब्रह्मविष्णू तथा रुद्रं पृष्ठदेशे तु कारयेत्॥ चन्द्रादित्यौ स्थितौ कर्णे ह्याग्नेय्यां स्कन्द एव च। ईशाने विघ्नराजस्तु धूम्रमीशानगोचरे॥*[१]

देवतामूर्तिप्रकरणम् में सूर्यादि आयतनों में स्थापना के लिए उक्त मतों को संक्षिप्त रूप से लिखा गया है- सूर्यैकदन्ताच्युतशक्तिरुद्रा विघ्नेशशक्तीश्वरविष्णुसूर्याः। श्रीनाथविघ्नेशभगाम्बिकेशाः चण्डीहेरम्बरपतङ्गकृष्णाः॥ श्रीकण्ठसूर्यारुद्रास्थाम्बिकाजाः त्रदक्षिणैमध्यादिदिक्षु पूज्याः। स्वस्थानगाः सर्वमनोरथांस्ते यान्ति विघ्नातिपरसंस्थाः॥ (4, 38-39)

अधुना त्रिदेवप्रतिष्ठाक्रम-

रुद्रस्त्रिपुरुषो मध्ये रुद्राद्वामगतो हरिः।

दक्षिणाङ्गे भवेद्ब्रह्मा विपर्यासे भयावहाः॥ 46॥

त्रिपुरुष प्रासाद के सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि उसमें महादेव की स्थापना मध्य में करनी चाहिए। उनके बायीं ओर विष्णु तथा दायीं ओर ब्रह्मा की स्थापना करनी चाहिए। इनकी विपरीत स्थापना भयकारक कही गई है।

भुवनदेवाचार्य ने त्रिपुरुषस्थान प्रतिष्ठा पर विस्तार से विचार किया है। इसका आधार त्रिपुरुषप्रतिमाओं वाले देवालयों के निर्माण की परंपरा रही है। मण्डन के काल में चित्तौड़गढ़ स्थित त्रिपुरुषदेवालय या समीधेश्वर महादेव का जीर्णोद्धार हुआ था जबकि उसके भ्राता नाथा के समय में ऐसे ही एक मन्दिर का निर्माण हुआ जिसे सम्प्रति अद्भुतजी मन्दिर कहा जाता है। मण्डन ने अपराजित के मतानुसार ही यह प्रतिष्ठा निर्देश दिया है। तुलनीय है- आदौ ब्रह्मा हरिर्मध्ये चाऽन्ते रुद्रो यदा भवेत्। ब्राह्मणोपद्रवो लोकास्तथा स्युर्दुष्टचेतसः॥ विष्णुस्थाने यदा ब्रह्मस्थाने जनार्दनः। तत्र राजभयं विद्यादुद्वेग मनसो जनः॥ ब्रह्मणश्च यदा विष्णुर्विष्णुस्थाने पितामहः। तस्करोपहता लोका उद्वृत्तजन सङ्कुलाः॥ रुद्रस्थाने हरिश्चैव हरिर्यत्र हरस्तथा। जायन्ते

१. वही 6-8

स्त्रीजिता लोका अधर्मरतचेतसः॥ ब्रह्मस्थाने यदा विष्णुर्विष्णुस्थाने चतुर्मुखः। रुद्र स्वस्थानसंस्थस्तु सर्वकामफलप्रदम्॥[१]

न्यूनाधिक देवमानफलाफलं-

रुद्रवक्त्रत्रिभागोनो हरिरर्द्धः पितामहः।

तत्तुल्या पार्वतीदेवी सुखदा सर्वकामदा॥ 47॥ इति त्रिपुरुषन्यासः।

अंत में त्रिदेवों की प्रतिमाओं के न्यूनाधिक मान पर विचार किया जा रहा है। रुद्रमुख का तीसरा अंश कम करते हुए दो-तिहाई भाग तक विष्णु की प्रतिमा की ऊँचाई और विष्णु के आधे मुख पर्यंत ब्रह्मार्च्चा की ऊँचाई रखनी चाहिए। ब्रह्मा के तुल्य ही पार्वती की प्रतिमा की ऊँचाई रखने का विधान है। प्रतिमा स्थापना में इस प्रकार का निर्देश-नियम सुखद और सर्वकामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है।

यह मत अपराजितपृच्छा से है। तुलनीय- रुद्रवक्त्रत्रिभागोनो हरिरर्द्धः पितामहः। तत्तुल्या वै उमादेवी सुखदा सर्वकामदा॥ न्यूनाधिका हरिर्ब्रह्मा उमादेवी च शङ्करः। सर्वार्थाश्च गतास्तत्र यथोक्तफलमादिशेत्॥[२]

इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने

जगती-दृष्टि-दोषायतनाधिकारे द्वितीयोऽध्यायः॥ 2॥

१. सूत्र 136, 6-11

२. सूत्र 136,

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

भिट्टपीठमण्डोवरगर्भगृहोदुम्बरप्रमाणम्

अथ आधारशिला-भिट्टादिनिर्माणोपदेशः

अतिस्थूला सुविस्तीर्णा(-तिविस्तीर्णा ?) प्रासादधारिणी शिला।

अतीव सुदृढा(सुदृढ़ा ?) कार्या इष्टिका(इष्टका!)चूर्ण-वारिभिः ॥ 1 ॥

अब जगती व प्रथम भिट्ट के निम्नभाग पर निर्मित होने वाली खरशिला के प्रमाणादि के विषय में कहा जा रहा है। यह प्रासाद को धारण करने वाली आधारशिला होती है। अतः इस महत्वपूर्ण शिला को अति स्थूल तथा विस्तारयुक्त बनानी चाहिए। इसे ईंट के चूरे और पानी मिश्रण से कूट-कूटकर बहुत सुदृढ़ बनाएँ।

खरशिला मान के विषय में भुवनदेवाचार्य ने स्पष्ट किया है कि प्रासाद तल पर सुदृढ़ और उत्तम खरशिला तैयार करनी चाहिए- प्रासादपादमानं च ज्ञात्वा चैव विचक्षणैः। षोडशाङ्गुलमानेन कर्तव्यास्तु दृढाः समाः॥ प्रासादच्छन्दमस्योर्ध्वे दृढखरशिलोत्तमा। एकहस्ते पादहस्तः पञ्चान्तेऽङ्गुलवृद्धितः॥ अर्द्धाङ्गुलं तदूर्ध्वे तु नवान्तं सुदृढोत्तमा। पादवृद्धिं पुनर्दद्याद् हस्ते हस्ते तथा पुनः॥ हस्तानां विंशतिर्यावदर्धपादा तदूर्ध्वतः। विंशत्यङ्गुलपिण्डा च शतार्धे तु खरा शिला॥ (सूत्र 123, 13-16) इस प्रकार प्रासाद के निर्माण में हस्ताङ्गुल एवं यव से इसका मान इस प्रकार है-

क्रम हस्तमान	अङ्गुलमान
1. 1 हस्त	6 अङ्गुल
2. 2 से 5 हस्त	प्रति हस्त 1 अङ्गुल की वृद्धि
3. 6 से 9 हस्त	प्रति हस्त अर्द्धाङ्गुल वृद्धि
4. 10 से 30 हस्त	प्रति हस्त एक चौथाई अङ्गुल वृद्धि
5. 31 से 50 हस्त	प्रति हस्त एक यव की वृद्धि, 50 हाथ पर कुल 20 अङ्गुल की वृद्धि।

अथ भिट्टमान-

शिलोपरि भवेद्भिट्टमेकहस्ते$_1$ युगाङ्गुलम्$_4$।

अर्द्धाङ्गुला$_{॥}$ भवेद्वृद्धिर्यावद्धस्त-शतार्द्धकम्$_{50}$ ॥ 2 ॥

खरशिला के ऊपर भिट्ट संज्ञक थर बनाया जाना चाहिए। इसके मानादि के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि यदि प्रासाद एक हाथ के विस्तार वाला हो तो उसमें भिट्ट को चार अङ्गुल बनाएँ किंतु दो से लेकर पचास हाथ तक के प्रासाद के प्रसङ्ग में प्रत्येक हाथ आधा-आधा अङ्गुल बढ़ाते हुए भिट्ट का निर्माण किया जाना चाहिए।

मतान्तरे-

अङ्गुलेनांशहीनेन अर्द्धेनार्द्धेन च क्रमात्।

पञ्च$_5$दिक्$_{10}$-विंशति$_{20}$र्यावच्छतार्द्धं$_{50}$ च विवर्द्धयेत्॥ 3 ॥

अन्य मान के अनुसार एक हाथ फैलाव युक्त प्रासाद के लिए चार अङ्गुल मान का भिट्ट बनाएँ। दो से पाँच हाथ तक के प्रासाद में प्रत्येक हाथ एक-एक अङ्गुल, छह से दस हाथ तक के प्रासाद में प्रत्येक हाथ पौन-पौन अङ्गुल, ग्यारह से बीस हाथ तक के प्रासाद में प्रत्येक हाथ आधा-आधा अङ्गुल तथा इक्कीस से लेकर पचास हाथ तक के प्रासाद में प्रत्येक हाथ पाव-पाव अङ्गुल की वृद्धि करते हुए भिट्ट का उदय रखा जा सकता है।

अथ निर्गमम्-

एक$_1$द्वि$_2$त्रीणि$_3$ भिट्टानि हीनहीनानि(ति ?) कारयेत्।

स्व-स्वोदयप्रमाणस्य चतुर्थांशेन$_4$ निर्गमः ॥ 4 ॥

इति भिट्टमानम्।

उपर बताए अनुसार लब्ध भिट्ट के उदयमानानुसार एक, दो या तीन भिट्ट बनाए जा सकते हैं। इनको उत्तरोत्तर एक-दूसरे से हीन मान से बनाया जाना चाहिए।

विश्वकर्मीय 'नारदपृच्छा' जिसे क्षीरार्णव भी कहा जाता है, में निर्गम के लिए कहा गया है कि पहले भिट्ट का निर्गम उसका चतुर्थांश, द्वितीय का उसका तृतीयांश और तृतीय भिट्ट का निर्गम उसके उदय से अर्धांश रखना श्रेयस्कर होता है- प्रथमं निर्गमं क्रार्यं चतुर्थांशे महामुने!। द्वितीयं तृतीयांशेन तृतीयं च तदूर्ध्वतः॥[१]

---

१. अध्याय 103, 4

अथ पीठोदय मानं

(श्रीः ?) पीठमर्द्धं$_{11}$ त्रिपादांशै$_{114}$ रेक$_{1}$द्वि$_{2}$त्रि$_{3}$करे गृहे।

चतुर्हस्ते$_{4}$ त्रिसार्धांशं$_{153}$ पादांशं पञ्चहस्तके$_{5}$ ॥ 5 ॥

भिट्ट पर पीठ की रचना की जाती है। पीठ के उदयमान के संदर्भ में परंपरा रही है कि एक हाथ, दो हाथ, तीन हाथ, चार हाथ तथा पाँच हाथ के विस्तार वाले प्रासादों के लिए पीठ का उदयमान क्रमशः 12 अङ्गुल, 16, 18, साढ़े 27 अथवा तीसरा भग तथा 30 अङ्गुल अथवा चौथे भाग रखें।

दश$_{10}$विंशति$_{20}$षट्त्रिंशत्$_{36}$शतार्द्धं$_{50}$ हस्तकावधिः।

वृद्धिर्वेद$_{4}$त्रि$_{3}$युग्मै$_{2}$क$_{1}$संख्या स्यादङ्गुलैः क्रमात् ॥ 6 ॥

पञ्चांश$_{5}$ हीनमाधिक्यमेकैकं तु त्रिधा पुनः।

पूर्वानुसार छह से दस हाथ मान वाले प्रासादों के लिए पीठ का उदय प्रत्येक हाथ पर चार-चार अङ्गुल, ग्यारह से बीस हाथ पर्यन्त प्रासाद की पीठ का उदय प्रत्येक हाथ पर तीन-तीन अङ्गुल, इक्कीस से छत्तीस हाथ तक के प्रासाद की पीठ के लिए प्रति हाथ दो-दो अङ्गुल तथा सैतीस से पचास हाथ तक के प्रासाद के लिए पीठ का उदय मान एक-एक अङ्गुल बढ़ाना चाहिए।

आशय यह है कि पचास हाथ के विस्तार वाले प्रासाद की पीठ का उदयमान पाँच हाथ, छह अङ्गुल होता है। इसमें यदि उदय का पाँचवां भाग घटाएँ तो कनिष्ठमान तथा बढ़ाएँ तो पीठ का मान ज्येष्ठ कहा जाता है। ज्येष्ठ मान की पीठ का इतना ही भाग ज्येष्ठ पीठ में जोड़ा जाए तो वह पीठ ज्येष्ठ-ज्येष्ठ, घटाएं तो ज्येष्ठ-कनिष्ठ, मध्यम मानीय पीठ का इतना ही भाग मध्यम पीठ में जोड़ें तो ज्येष्ठ-मध्यम, घटाएँ तो कनिष्ठ-मध्यम तथा इसी प्रकार कनिष्ठमान वाली पीठ में पाँचवां भाग कनिष्ठ पीठ में जोड़ें तो ज्येष्ठ-कनिष्ठ तथा घटाएँ तो कनिष्ठ-कनिष्ठ मान वाली पीठ कही जाती है। इस प्रकार पीठ का उदयमान नौ प्रकार का कहा गया है।

पीठोदयथरमानानि-

त्रिपञ्चाशत्$_{53}$ समुत्सेधे द्वाविंशत्यंश$_{22}$निर्गमे ॥ 7 ॥

नवांशो$_{9}$ जाड्यकुम्भश्च सप्तांशं$_{7}$(सप्तांशां) कणकं (कर्णिका) भवेत्।

सान्तरं कपोतालिः(सान्तरालं कपोतालिः!) सप्तांशा ग्रासपट्टिकाः ॥ 8 ॥

अब पीठ का थर मान जानना चाहिए। पीठ को जो उदयमान ज्ञात हुआ हो, उसके 53 भाग करें। इनमें से निर्गम को 22 भाग के मान से बनाएँ। उदय के उक्त 53 भाग में से नवांश जाड्यकुम्भ, सप्तांश अंतरपत्र के साथ कर्णिका और इतने ही अंश की कपोताली के साथ ग्रासपट्टी बनाना चाहिए।

सूर्य$_{12}$दिग्$_{10}$वसु$_{8}$भागैश्च गज-वाजि-नराः क्रमात्।

वाजिस्थानेऽथवा कार्यं स्व-स्वदेवस्य वाहनम् ॥ 9 ॥

ग्रासपट्टी पर क्रमशः द्वादशांश मान का गजथर, दशांश अश्वथर तथा अष्ठांश मान का नरथर रखें। यहां यह विकल्प भी है कि अश्वथर पर प्रासाद में प्रतिष्ठेय देव के लिए निश्चित वाहनों का थर निर्मित किया जा सकता है।

थरनिर्गममानानि-

पञ्चांशा$_{5}$ कर्णिकाग्रे तु निर्गमो जाड्यकुम्भकम् (: ?)।

त्रिसार्द्धा(र्द्धे ?)$_{3॥}$ कणकं सार्द्धा(सार्द्धं ?)चतुर्भि$_{4॥}$ ग्रासपट्टिका ॥ 10 ॥

थरों के निर्गममान के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि कर्णिका के अग्रभाग में पञ्चांश जाड्यकुम्भ, ग्रासपट्टी के अग्रभाग में तीन अंश निकलती कर्णिका तथा गजथर के अग्रभाग में साढ़े चार अंश निकली हुई ग्रासपट्टी रखनी चाहिए।

कुञ्जराश्च(स्व ?) नरा वेदा$_{4}$ राम$_{3}$युग्मांश$_{2}$ (युग्मं च ?) निर्गमः।

अन्तरालमधस्तेषां मूर्ध्वाधः कर्णयुग्मकम् ॥ 11 ॥

इसी प्रकार अश्वथर से आगे चार अंश से गजथर का निर्गम, नरथर से आगे तीन भाग का अश्वथर तथा अश्वथर से आगे दो अंश नरथर का निर्गम रखा जाना चाहिए। इन सभी थरों के अधोभाग में अन्तराल तथा अन्तराल के निम्न व उच्च भाग पर युग्म अथवा दो-दो कर्णिकाओं की संरचना करनी चाहिए।

कामदकणपीठञ्च-

गजपीठं विना स्वल्प-द्रव्ये पुण्यं महत्तरम्।

जाड्यकुम्भः कर्णाली च ग्रासपट्टी(सासपट्टी ?)तदा भवेत् ॥ 12 ॥

पूर्वोक्त गजादि थर वाली पीठों का नामाभिधान गजपीठ है। गजपीठों की संरचना में अपेक्षा से अधिक द्रव्य-राशि का व्यय होता है अतः यदि गजपीठ को छोड़कर

अल्प व्यय से अन्य, साधारण पीठ भी बनाई जाए तो भी महत्तरपुण्य की प्राप्ति होती है। अब कामद पीठ के विषय में कहा जा रहा है। गजाश्वादि रूपों से युक्त पीठ के अतिरिक्त जाड्यकुम्भ, कर्णिका और केवाल सहित ग्रासपट्टी युक्त जो साधारण पीठ निर्मित की जाती है,

कामदं कणपीठं च जाड्यकुम्भः(श्च ?) कणालिका(कर्णिका ?)।
लतिने निर्गमे हीनं(हीने ?) सान्धारे निर्गमाधिकम् ॥ 13 ॥

उक्त संरचना को 'कामदपीठ' कहा जाता है। जाड्यपीठ तथा कर्णिका को यदि दो थर वाली बनाएं तो उसकी संज्ञा 'कणपीठ' होती है। लतिन संज्ञक प्रासादों में पीठ का निर्गम न्यून होता है जबकि सान्धार संज्ञक प्रासादों में अधिक रखा जाता है।

सर्वेषां पीठमाधारः पीठहीनं निराश्रयम्।
पीठहीनं विनाशाय प्रासाद-भुवनादिकम् ॥ 14 ॥

इति पीठम्।

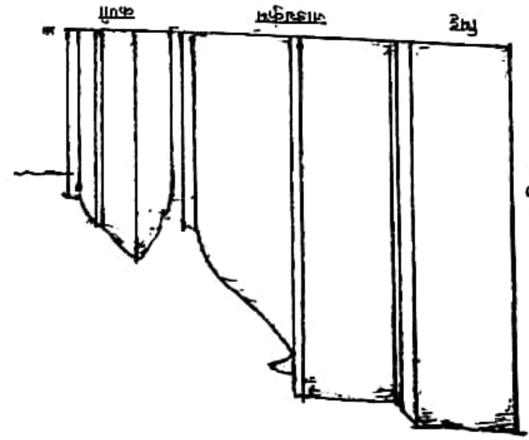
पीठ को ही प्रासाद, भवन आदि में मुख्याधार कहा जाता है। पीठ के अभाव में वे निराश्रय होते हैं तथा पीठ हीन देवप्रासाद एवं गृहादि निर्मितियां अल्प काल के अन्तराल पर ही विनाश को प्राप्त होती हैं।

उक्त श्लोक विश्वकर्मीय ज्ञानप्रकाश दीपार्णव में किञ्चित् पाठांतर के साथ मिलते हैं- गजाश्वनरपीठानि स्वल्पद्रव्ये न संभवः। जाड्यकुम्भं कर्णश्च शिरःपाली स कामदः ॥ शिरःपालीं विना त्वेवं कर्णपीठं तु कारयेत्। जाड्यकुम्भः कणालिश्च प्रशस्तः सर्वकामदः ॥ अर्द्धभागे त्रिभागे वा पीठं चैव नियोजयेत्। स्थानमानाश्रयं ज्ञात्वा तत्र दोषो न विद्यते॥ हीनद्रव्येऽधिकं पुण्यं तस्यानुक्रम युक्तिभिः। इदृशं कुरुते यस्तु सर्वकामफलप्रदः॥ सर्वषां पीठमाधारः पीठहीनं निराश्रयम्। पीठहीनां विनश्यन्ति प्रासादा नृपतेर्गृहा (अचिरेणैव सर्वदा ?) ॥ १

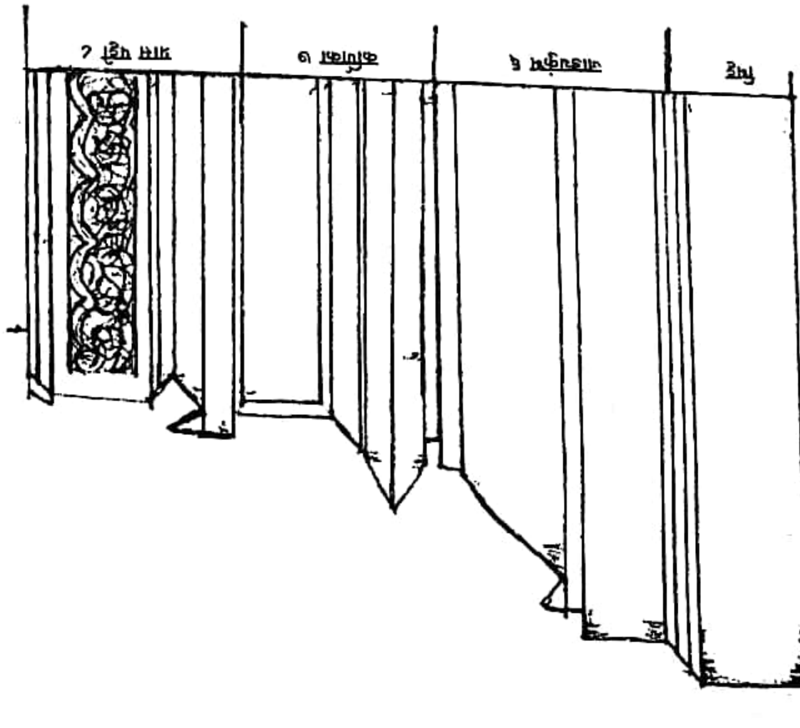
अथ प्रासादोदयमानं-

हस्तादि$_1$ पञ्च$_5$ पर्यन्त विस्तारेणोदयः समः।
स क्रमान्नव$_9$ सप्तेषु$_7$ राम$_3$ चन्द्रा$_1$ ऽङ्गुलाधिकः ॥ 15 ॥

१. अध्याय 4, 19-23



कामद पीठ



कामद पीठ

प्रासाद के उदय (मण्डोवर) के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि एक से लेकर पाँच हाथ तक के विस्तार वाले प्रासाद में उदय को विस्तार के समतुल्य रखें किंतु यह रचना क्रमशः नौ, सात, (पाँच), तीन तथा एक अङ्गुल की वृद्धि करते हुए ही बनानी चाहिए।

प्रासादों में मण्डोवर के उदयमान को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

प्रासाद का विस्तार	उदयमान
एक हाथ	1.09 हाथ या कुल 33 अङ्गुल
दो हाथ	2.07 हाथ या कुल 55 अङ्गुल
तीन हाथ	3.05 हाथ या कुल 77 अङ्गुल
चार हाथ	4.03 हाथ या कुल 99 अङ्गुल
पाँच हाथ	5.01 हाथ या कुल 121 अङ्गुल

पञ्चादि$_{5}$दशपर्यन्तं$_{10}$ त्रिंश$_{30}$द्यावच्छतार्द्धकम्$_{50}$।

हस्ते-हस्ते क्रमाद्वृद्धिः मनु$_{14}$सूर्य$_{12}$नवाङ्गुला$_{9}$॥ 16॥

इसके अनन्तर छह से लेकर दस हाथ पर्यन्त विस्तार वाले प्रासाद का उदय प्रत्येक हाथ पर 14-14 अङ्गुल, ग्यारह से लेकर तीस हाथ पर्यन्त विस्तार वाले प्रासाद का उदय प्रत्येक हाथ पर 12-12 तथा इकतीस से पचास हाथ विस्तार वाले प्रासाद का उदय प्रति हाथ 9-9 अङ्गुल की वृद्धि के साथ रखें। इस विस्तार मान के अनुसार पचास हाथ के प्रासाद की कुल ऊंचाई 25 हाथ 11 अङ्गुल हो जाती है।

भुवनदेवाचार्य ने 'समस्तप्रासादोदयमान' संज्ञक सूत्र में उक्त उदयमान के मत को स्पष्ट किया है- एकहस्ते चोदयस्तु स्यात्त्रयस्त्रिंशदङ्गुलैः। प्रासादे च द्विहस्ते तु पञ्चपञ्चादङ्गुलैः॥ सप्तसप्तत्यङ्गुलानि प्रासादे तु त्रिहस्तके। एकोनशताङ्गुलैश्च वेदहस्ते सुरालये॥ प्रासादे पञ्चहस्ते चैकविंशत्युत्तरं शतम्। ह्रासवृद्धी पञ्चयावत् ह्रस्वं कुर्यात् तदूर्ध्वतः॥ पञ्चोर्ध्वं नवपर्यन्तं वृद्धिर्मन्वङ्गुलैर्भवेत्। अष्टहस्तोदयश्चैव प्रासादे दशहस्तके॥ विंशत्यन्तं दशोर्ध्वं च वृद्धिः सूर्याङ्गुलैर्भवेत्। त्रयोदशकराः सप्ताङ्गुलं विंशतिहस्तके॥ अत ऊर्ध्वं पुनर्वृद्धिर्हस्ते हस्ते करार्धतः। त्रिंशद्धस्ते सप्ताङ्गुलं हस्ता अष्टादशैव च॥ ऊर्ध्वं पञ्चाशदन्तं च हस्ते हस्ते नवाङ्गुला। कराणां वै सार्धपञ्चविंशतिश्च शतार्धके॥ एकोन-विंशत्यङ्गुला कामदा च तदग्रतः। एषा युक्तिर्विधातव्या

प्रासादस्योत्तमोदये॥ नागरे लतिने चैव सान्धारे चैव मिश्रके। विमाननागरच्छन्दे कुर्याद्विमानपुष्पके॥[१]

अन्येषां उदयमानं-

एक$_{1}$ हस्तादिपञ्चान्तं$_{5}$ पृथुत्वेनोदयः समाः(मः!)।

हस्ते सूर्याङ्गुला$_{12}$ वृद्धिर्यावत् त्रिंशत्करावधि$_{30}$॥ 17॥

मण्डोवर के अन्य मान के अनुसार एक से पाँच हाथ पर्यन्त विस्तार वाले प्रासाद का उदयमान उसके पृथुत्व या विस्तार के समतुल्य रखें किंतु बाद में तीस हाथ तक के प्रासाद का उदय प्रति हाथ 12-12 अङ्गुल बढ़ाएँ।

नवाङ्गुला$_{9}$ करे वृद्धिर्यावद्धस्त शतार्धकम्$_{50}$।

पीठोर्ध्वे उदयश्चैवच्छाद्य(ा ?)न्ते नागरादिषु(नागराकम् ?)॥ 18॥

इकतीस से पचास हाथ पर्यन्त विस्तार वाले प्रासाद में उदय प्रति हाथ 9-9 अङ्गुल की अभिवृद्धि करनी चाहिए। नागरादि प्रासादों के सन्दर्भ में यह उदयमान पीठ पर निम्रस्थ खुरा से छज्जा के अन्तिम भाग तक स्वीकारा जाता है।

अपराजितपृच्छा में अन्य रूप में स्पष्ट किया गया है कि कुम्भ के थर से छाद्य के प्रहारान्त पर्यंत ऊँचाई रखी जानी चाहिए, ऐसा वास्तुविदों का मत है, कुम्भ के निम्नभाग पर पीठ एवं प्रहारथर के शीर्ष पर शिखरोदय माना जाता है- कुम्भकादि प्रहारान्तं प्रयुक्तं वास्तुवेदिभिः। तदधस्तात्तु पीठं च ऊर्ध्वे स्याच्छिखरोदयः॥[२]

अथ प्रासादोदयात् पीठोदय-

एकविंशत्यंशभक्ते$_{21}$(एकविंशतपञ्चशते ?) प्रासादस्य समुच्छ्रये।

पञ्चादि$_{5}$नवभागान्तं$_{9}$ पीठस्य(श्च ?) पञ्चधोदयः$_{5}$॥ 19॥

आधार से छाद्य पर्यन्त प्रासाद का जो उदय हो, उसके 21 भाग करें तथा पाँच से लेकर नौ भाग तक का पीठ की ऊंचाई रखें। अर्थात् पाँच प्रकार से अथवा पाँच, छह, सात, आठ तथा नौ भाग का उदय मान रखा जा सकता है।

---

१. सूत्र 126, 1-9
२. वही 10

थरस्योदयमाह-

वेद $_4$ वेदे $_4$ न्दु $_1$ भक्ते तु छाद्यन्तं(जं ?) पीठमस्तकात्।

खुरकः पञ्चभागं $_5$ स्याद्विंशतिः $_{20}$ कुम्भकस्तथा ॥ 20 ॥

अब 144 भाग से मण्डोवर अथवा भित्ति के थरों का उदयमान कहा जा रहा है। पीठ पर से छज्जा के अन्तिम भाग पर्यंत प्रासादोदय के जिस मान की लब्धि हुई हो, उसको 144 भागों में विभाजित करें। इसके पाँचवें भाग का खुरा और बीसवें भाग का कुंभ बनाना चाहिए।

कलशान्तरालादीनां-

कलशोऽष्टौ $_8$ द्विसार्द्धं $_{2॥}$ तु कर्त्तव्यमन्तरालकम्।

कपोतिकाष्टौ $_8$ मञ्ची स्यात् (च ?) कर्त्तव्या नवभागिका $_9$ ॥ 21 ॥

उक्त क्रम से आगे, आठ भाग का कलश, द्विसार्ध अथवा ढाई भाग का अन्तराल रखना चाहिए। इसी प्रकार आठ भाग की कपोती और नौ भाग की मञ्ची रखनी चाहिए।

जङ्घोरुजङ्घाभरण्यादीनां-

पञ्चत्रिंशत्पदा $_{35}$ जङ्घा तिथ्यांशैरुद्गमो $_{15}$ भवेत्।

वसु $_8$ भिर्भरणीकार्या शिरापट्टी दशांशिका $_{10}$ (दिग्भागैश्च शिरावटी ?) ॥ 22 ॥

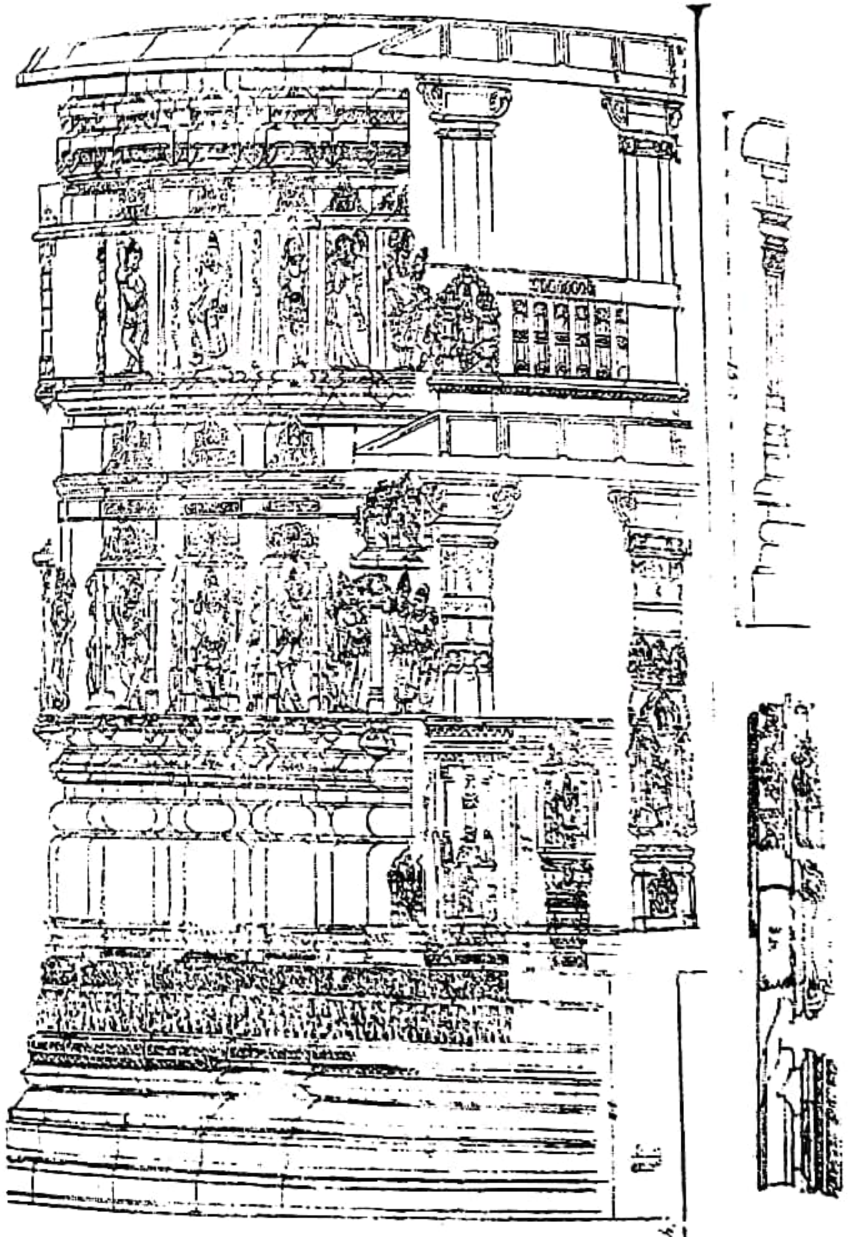
पूर्वोक्त 144 भाग के शेष भागों में से पैंतीस भाग की जङ्घा के साथ पन्द्रह भाग की उरुजङ्घा अथवा उदय रखना चाहिए। आठ भाग की भरणी और दस भाग की शिरावटी बनाने का विधान है।

अष्टांशोर्द्धा $_8$ कपोतालि(: ?) द्विसार्द्ध $_{2॥}$ मन्तरालकम्।

छाद्य(च्छद्यं ?) त्रयोदशांशोच्चं $_{13}$ दशभागौ $_{10}$ र्विनिर्गमः(र्गतं ?) ॥ 23 ॥

इति मण्डोवरः।

इसी प्रकार आठ भाग की कपोतिका या कपोताली एवं ढाई भाग का अन्तराल रखना चाहिए। छाद्य का उदयमान तेरह अंश रखें तथा उसका निर्गम दस भाग का रखना उचित होता है।



नागदा ग्वालियर रेयोन के प्रासाद का पीठ के साथ मंडोवर स्तंभ समन्वय

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में 144 भाग के नागरादि मण्डोवर की रचना के लिए स्पष्ट किया गया है कि उसमें 5 भाग का खुरा रखें तथा 20 भाग का कुम्भ, 7 कलश, ढाई अन्तराल, 8 केवाल, 9 मञ्चिका, 35 जङ्घा, 15 उद्गम, 8 शिरावटी, 8 महाकेवाल, ढाई अन्तराल तथा 13 वें भाग का छाद्य बनाएँ। इस प्रकार 144 भाग होते हैं। इसमें ब्रह्मा, विष्णु व महादेव के स्वरूपों का उत्कीर्णन किया जा सकता है। अन्य विधानों का विवरण इस प्रकार है– तृतीयं च प्रवक्ष्यामि नागराणां मण्डोवरम्॥ खुरकः पञ्चभागस्तु विंशतिः कुम्भकस्तथा। पूर्वमध्यापरे भागे ब्रह्मविष्णुशिवादयाः॥ त्रिसंध्या भद्रे शोभाढ्या चित्र परिकरैर्वृत्ता। नासिके रूपसङ्घाटा गर्भे च रथिकोत्तमा॥ मृणालपत्रं शोभाढ्यं स्तम्भिका तोरणान्विता। कलशो वसुभागस्तु सार्द्धद्वौ चान्तःपत्रकम्॥ वसुभिश्च कपोतालिर्मञ्चिका नवभागिका। पञ्चत्रिंशदुच्छिता च जङ्घा कार्या विचक्षण!॥ भ्रमनिर्वाणतैः स्तम्भै-नासिकोपाङ्गफालनाः। मूलनासकसर्वेषु स्तम्भाः स्युश्चतुरस्रकाः॥ गजैः सिंहैर्वरालैश्च मकरैः समलङ्कृताः। कर्णेषु च दिक्पालाष्टौ प्राच्यादिषु प्रदक्षिणे॥ नाट्येशः पश्चिमे भद्रे अन्धकेश्वरो दक्षिणे। चण्डिका उत्तरे देव्यो दंष्ट्रासुविकृताननाः॥ प्रतिरथे तस्य देव्यः कर्त्तव्याश्च दिशांपतेः। गवाक्षाकारो भद्रेषु कुर्यान्निर्गमभूषिता। (5, 19–28)

अथ मेरुमण्डोवरम्–

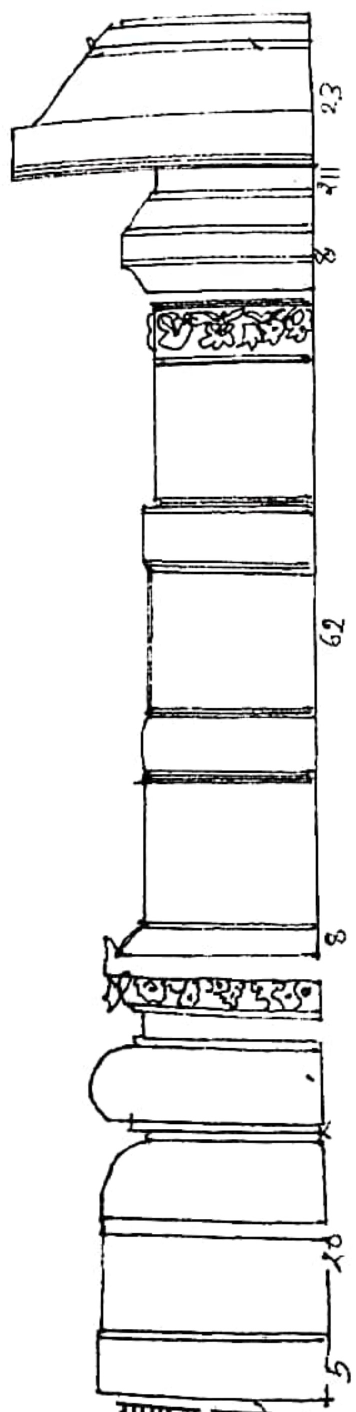
मेरुमण्डोवरे मञ्ची भरण्यूर्ध्वेष्ट$_8$भागिका(भवण्युर्द्धेष्वभागिका ?)।

पञ्चविंशतिका$_{25}$ जङ्घा उद्गमश्च त्रयोदश$_{13}$(: ?)॥ 24॥

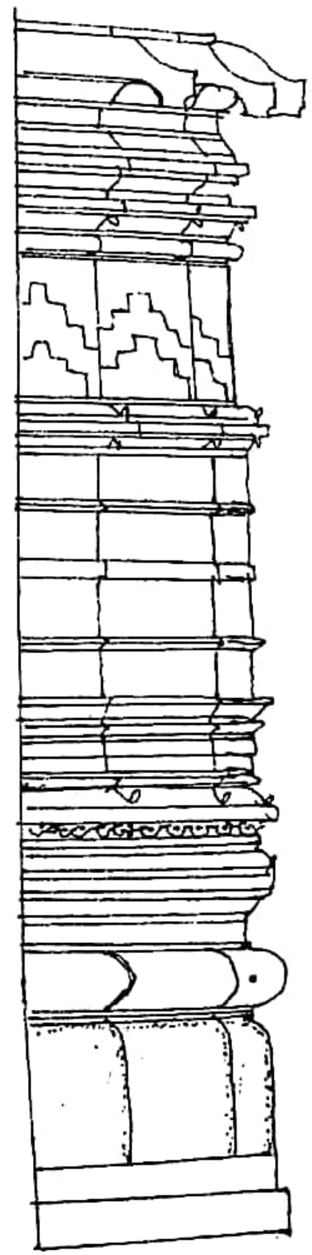
अब मेरुमण्डोवर की रचना के विषय में कहा जा रहा है। इसमें 144 भाग के मण्डोवर के खुरभाग से लेकर भरणी पर्यंत सभी थर बनाएँ। इसमें उपर आठ भाग की मञ्ची बनाएँ और जङ्घा को पच्चीस भाग की रखें जबकि उद्गम को तेरह भाग का रखना चाहिए।

मेरु मण्डोवर से आशय देवालय के उस मण्डोवर से है जिसमें एक से अधिक जङ्घा होती है। जैसा कि पं. भगवानदास जैन का मत है कि इसमें भरणी के उपर खुर, कुम्भ, कलश, अन्तराल तथा केवाल, ये प्रथम पाँच थर नहीं बनाए जाते किंतु मञ्ची आदि सभी थर बनाए जाते हैं, इसलिए प्रथम खुरा से लेकर भरणी तक सब थर 144 भाग के मान से बनाकर बाद में उसके ऊपर मञ्ची इत्यादि थर बनाए जाते हैं।

विश्वकर्मीय क्षीरार्णव में मेरुमण्डोवर के सम्बन्ध में कहा गया है कि प्रासाद का जो उदयमान हो, उतना ही मण्डोवर रखना चाहिए। इसके उदय में ही छह छाद्य



सामान्य मण्डोवर



प्रकारान्तर मन्डोवर

तैयार करें जिनमें प्रथम छाद्य दो जङ्घा वाला होना चाहिए, इस प्रकार पचास हाथ तक के प्रासादोदय में बारह जङ्घा तक के मण्डोवर होंगे– अस्योदये च कर्त्तव्या प्रथमे कूटछाद्यके (षट्छाद्यकम्)। यावत्समोदयं प्राज्ञ तावत्मण्डोवरं स्मृतम्॥ तथाद्य छाद्यं संस्थाने द्वयोर्जङ्घा प्रकीर्तिताः। भवेद्युः द्वादशजङ्घा यावत्शतार्द्धोदयं भवेत्॥ षड्विध कूटच्छाद्यं च द्वयोभूम्यन्तरे मुने!। भरणीकोर्ध्व भवन्मञ्ची छाद्योर्द्धेन मञ्चिका॥ पुनर्जङ्घा प्रदातव्या यावद्द्वादशसंख्यया। किञ्चित्किञ्चिद्भवेन्न्यूनं कर्तव्यं भूमिकोच्छ्रयः। शतार्द्धोदये माने च महामेरुः तथाधिकम्(प्रदापयेत्)॥ (104, 10–13)

भरण्यादीनां–

अष्टांशा$_{8}$ भरणी शेषं पूर्ववत्कल्पयेत् सुधीः।

सप्तभागा$_{7}$ भवेन्मञ्ची कूट(कुंट?)च्छाद्यस्य(श्च?) मस्तके॥ 25॥

इसी प्रकार मेरुमण्डोवर में अष्टांश मान से भरणी रखें जबकि अन्य शिरावटी, कपोताली, अन्तराल और छाद्य को 144 भाग के मण्डोवर के मानानुसार ही तैयार करें। इसमें पुनः कूट छाद्य के शीर्ष पर सात भाग की मञ्ची बनानी चाहिए।

षोडशांशा$_{16}$ पुनर्जङ्घा भरणी सप्त$_{7}$(सत्य?)भागिका।

शिरावटी चतुर्भागात्$_{4}$ पट्टः स्यात् पञ्चभागिकः$_{5}$॥ 26॥

इसके बाद पुनः षोडशांश जङ्घा तथा सात भाग की भरणी बनाएँ। शिरावटी को चार तथा पट्ट को पाँच भाग का तैयार करना चाहिए।

सूर्यांशैः$_{12}$ कूटच्छाद्यञ्च सर्वकाम-फलप्रदम्।

कुम्भकस्य युगांशेन$_{4}$ स्थावराणां प्रवेशकः॥ 27॥

इति मेरुमण्डोवरः।

मेरुमण्डोवर की रचना में सूर्यांश या बारह भाग का कूटच्छाद्य बनाना चाहिए जो सर्व कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। इसमें कुम्भ का एक चौथाई जितना भाग समस्त थरों का निर्गम रखना चाहिए।

विश्वकर्मीय जयपृच्छा नामक ग्रंथ के आठवें अध्याय में मण्डोवर के सम्बन्ध में 40 श्लोकों में विवरण दिया गया है। इसमें मण्डोवर की संरचनाओं में खुर, कुम्भ, कलशान्तपत्र, कपोताली, मञ्चिका, जङ्घा, उद्गम, भरणी, महाकपोताली, कूटच्छाद्य का मानादि स्पष्ट किया गया है। यह क्रमशः 4, 15, 6, 3, 6, 6, 32, 11, 6, 6, 3 एवं 10 कुल 108 भागानुसार विभाजित किया गया है।

अथ साधारणमण्डोवरम्–

शिरावट्युद्गमो (शिरावद्युद्गमो?) मञ्ची(भागे?) जङ्घा रूपाणि वर्जयेत्।

अल्पद्रव्ये महत्पुण्यं कथितं विश्वकर्मणा॥ 28॥

इति साधारणमण्डोवरः।

सामान्य अथवा साधारण मण्डोवर में अल्पव्यय में महत्तपुण्य प्राप्ति का भाव विश्वकर्मा द्वारा अन्तर्निहित किया गया है। इसके थर में शिरावटी, उद्गम, मञ्ची, जङ्घा जैसे व्यय साध्य रूपाङ्कनों को नहीं बनाया जाता है।

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में भी साधारण मण्डोवर के लिए यही मत दिया गया है– स्वल्पद्रव्ये महत्पुण्यम् मयोक्ता युक्तिका भवेत्। पीठं तु कथितं पूर्वमूर्ध्वं स्तरमतः शृणु!॥ खुरः कुम्भी च कलशः कपोताली स्यादन्तरम्। न कुर्यादुद्गमशिरं जङ्घा रूपाणि मञ्चिकां॥ भरण्यूर्ध्वं कपोतालीमन्तरालं तु छाद्यकम्। इति साधारणः प्रोक्तः प्रसादे स्तरसङ्ख्यया॥ (5, 44–46)

अन्यभेदा:

पीठतः च्छाद्यपर्यन्तं सप्तविंशति$_{27}$भाजिते।

द्वादशानां$_{12}$ खुरा(खुरका?)दीनां भागसङ्ख्या क्रमेण तु(च?)॥ 29॥

अब 27 भाग वाले मण्डोवर के विषय में कहा जा रहा है। इसके निर्माण के लिए देवालय में पीठ से लेकर छाद्य पर्यंत मण्डोवर के उदय के मान के 27 भाग किए जाने चाहिए। इसमें खुरा इत्यादि द्वादश थरों को अग्र लिखित अंशों से बनाएँ।

स्यादेक$_{1}$वेद$_{4}$सार्द्धा$_{1॥}$र्द्ध$_{॥}$सार्द्ध$_{1॥}$सार्द्धा$_{1॥}$ष्ट$_{8}$भिस्त्रिभिः$_{3}$।

सार्द्ध$_{1॥}$सार्द्धा$_{1॥}$र्द्ध$_{॥}$भागैश्च सार्द्धद्वौ(द्विसार्द्धे?) द्व्यंशा$_{2}$ निर्गमः॥ 30॥

इति प्रकारान्तरे मण्डोवरः।

उक्त 27 भाग के मण्डोवर में एक भाग का खुर, चार का कुम्भ, डेढ़ का कलश, आधे का अंतराल, डेढ़ की कपोताली, डेढ़ की मञ्चिका, आठ की जङ्घा, तीन का उद्गम, उस पर डेढ़ की महाकपोताली, आधे का अन्तराल तथा ढाई भाग का छाद्य का उदय रखना चाहिए। छाद्य का निर्गम दो भाग रखें।

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में साढ़े सात भाग के मण्डोवर का विधान भी है– *खुरकः पीठमध्ये तु सपादभागः कुम्भकः। भागार्द्धस्तु घटः कार्यस्तस्यार्द्धं चान्तःपत्रकम्॥ भागार्द्धा तु कपोताली मञ्चिका तत्समा भवेत्। जङ्घा भागद्वयं कार्या भरणी चार्द्धभागिका॥ शिरावटी चार्द्धभागा पट्टार्द्धं हि पादान्तरम्। कूटच्छाद्यं पादोनांशं निर्गमश्च पदद्वयम्॥* [१]

मण्डोवभित्तिमानं–

पादांशेनैष्टके$_8$ पञ्च$_5$षडंशैः$_6$ शैलदारुजे।

सान्धारे चाष्ट$_8$भिर्भागै(साधोरिष्टांशतोभित्ति ?)र्दशांशै$_{10}$र्धातुरत्नजे॥ 31॥

अब पाँचों प्रकार के देवालयों में मण्डोवर की मोटाई के विषय में जाने कि ईंटों से निर्मित प्रासाद, शैल और काष्ठ तथा धातु एवं रत्न निर्मित प्रासादों में उसका मान क्या रखा जाए? ईष्टिका निर्मित प्रासाद में भित्ति को प्रासाद के विस्तार के चौथे भाग की बनाएँ। प्रस्तर निर्मित प्रासाद में पाँचवें तथा काष्ठ के प्रासाद में छठे भाग की बनाएँ। इसी प्रकार सान्धार प्रासाद में भित्ति को आठवें तथा धातु एवं रत्न निर्मित प्रासाद में भित्ति का मोटाई दसवें भाग जितनी बनानी चाहिए।

यहां भगवानदास जैन की प्रति में अन्य प्रकार से मण्डोवर की मोटाई के लिए निम्न श्लोक अतिरिक्त दिया गया है–*चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे दशभागैर्विभाजिते। भित्तिद्विभागकर्त्तव्या षड्भागं गर्भमन्दिरम्॥* अर्थात् समचौरस प्रासाद की भूमि के दस भाग करें, उसमें से दो–दो भाग की दीवार की मोटाई रखें, शेष छह भाग का गर्भगृह बनाना चाहिए। उक्त श्लोक उदयपुर की 'क' एवं 'ख' मातृकाओं एवं अन्य पाठों में नहीं मिलता है।

शुभाशुभगर्भगृहम्–

मध्ये युगास्त्रं$_4$ भद्राढ्यं सुभद्रं प्रतिभद्रकम्।

फ(ा)लनीयं गर्भगृहं दोषदं गर्भमायतम्॥ 32॥

देवालय के गर्भगृह को सदैव मध्य में और चौकोर बनाना चाहिए। उसमें भद्र, सुभद्र एवं प्रतिभद्र की रचना फालनीय स्थान पर करनी चाहिए। गर्भगृह को आयताकार बनाया जाना दोषकारक होता है।

१. वही 41–43

यह श्लोक दीपार्णव से किञ्चित पाठांतर के साथ है। तुलनीय– चतरस्रं भद्रकं च सुभद्रं प्रतिभद्रकं। गर्भगृहं फालनीयं दोषदं गर्भमायतम्॥ 5, 52 अपराजितकार ने एक, दो और तीन अङ्गुलाधिक विस्तार या आयत बनने को भी गृह, गृहस्वामी के लिए विनाशकारी बताया है, इसी संज्ञा यमचुल्ली कही गई है– एकद्वित्रिकमात्राभिर्भगेहं यदायतम्। यमचुल्ली तदानाम भर्तृगृहविनाशिका॥ अपराजित. 126, 24 किंतु काष्ठादि प्रासादों में यह दोष नहीं होता– दारुजे वलभी तु आयतं च न दूषयेत्। प्रशस्त सर्वकृत्येषु चतुरश्रं शुभप्रदम्॥ [१]

स्तम्भमण्डोवर समन्वयम्–

कुम्भकेन समा कुम्भी स्तम्भप्रान्तेन तूद्गमः।

भरण्या भरणं शीर्षं कपोताल्या समं भवेत्॥ 33॥

पेटके(पेड़के ?) कूट(कुंठ ?)च्छाद्यस्य कुर्यात् पटस्य पेटकम्।

स्तम्भ और मण्डोवर में किस प्रकार समन्वय रखें, इस सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि मण्डोवर के कुम्भ एवं स्तम्भ की कुम्भी सहित स्तम्भ के प्रान्त या ऊपरी भाग एवं मण्डोवर के उद्गम, स्तम्भ एवं मण्डोवर की भरणी–भरण, मण्डोवर की कपोताली एवं स्तम्भ की शिरावटी– इन सबको एक समान या समसूत्रबद्ध रखनी चाहिए। देवालय के पाट के पेटक या पटिये तक कूटछाद्य को झुका हुआ या नमित रखना चाहिए।

यह मत ज्ञानप्रकाशदीपार्णव से तुलनीय है– कुम्भी तु कुम्भके ज्ञेया स्तम्भो ज्ञेयस्तथोद्गमः। भरण्या भरणी ज्ञेया कपोताली तथा शिरः॥ कूटच्छाद्यं पट्टतममधोदये करोटकः। नव सार्द्धोदये कुम्भ्येका सार्द्धपञ्चस्तम्भ्यकम्॥ अर्द्धेन भरणीशीर्षमेकं पट्टस्तु सार्द्धकम्। सपादं सार्द्धं पादोनं गर्भोदयस्य मानकम्॥ [२]

सूत्रधार वीरपालकृत 'प्रासादतिलक' में मण्डोवर–स्तम्भ समन्वय के लिए किञ्चित भेदानुसार यह निर्देश मिलता है– *कुम्भी शिरस्तुल्यमुदुम्बरस्य स्तम्भस्य मानं ह्युद्गमतुल्यमुक्तकम्। भरणी भरण्यश्च कपोतशीर्षः छाद्ये समाना पट्टपिण्डवृद्धिः॥* (3, 27)

१. वही 25

२. वही 53–55

गर्भगृहोदयकरोटश्च मानं-

सषडंशः₆ सपादस्य₁, (स्यात्) सार्द्धो₁ गर्भस्य विस्तरात्॥ 34॥

वृहद्देवालये पट्टे पेटान्तं हि त्रिधोदयः₃ (त्रयोदयः ?)।

भजेदष्टा₈भिरेकांशा₁ कुम्भी (कुभि ?) स्तम्भोऽर्द्धपञ्चभिः₅॥ 35॥

किसी देवालय के गर्भगृह का विस्तार उतना ही रखें जितना कि विस्तार का छठा अंश हो किंतु उसे सवाया अथवा डेढ़ा अर्थात् छठे भाग में विस्तार का सवाया या डेढ़ा अंश और जोड़ना चाहिए। इस प्रकार बड़े प्रासादों में गर्भगृह के उदय का यह मान गर्भगृह के तल से पट्ट के पेटान्त पर्यंत तीन प्रकार का होता है। इसके बाद लब्ध उदय मान को आठ भागों में विभाजित करें। इन भागों में से एक भाग की कुम्भी, साढ़े पाँच भाग का स्तम्भ बनाना चाहिए।

अर्धेन भरणी(भरणं ?) शीर्षमेकं पट्टस्तु(पस्तु ?) सार्धकम्।

व्यासार्द्धेन करोटं स्याद्दर्यो(स्याद् दर्दरी ?) विषमा शुभा (श्रुता ?)॥ 36॥

इति गर्भोदयप्रमाणम्।

इसी प्रकार आधे भाग की भरणी और एक भाग का शीर्ष या शिरावटी की रचना करें। इसके ऊपर डेढ़ भाग का पट्ट या केवाल बनाना चाहिए। इसी प्रकार करोट या गुम्बज का उदयमान गर्भगृह के विस्तार से आधा रखना रखें। इस रचना में दर्दरी का थर विषम संख्या (3, 5, 7, 9, 11) में रखना चाहिए।

अथौदुम्बरोदय-

मूलकर्णस्य (श्च ?) सूत्रेण कुम्भेनोदुम्बरं(: ?) समः।

तदधः पञ्चरत्नानि स्थापयेच्छिल्पिपूजया (पूजनात् ?)॥ 37॥

(अब द्वारादि पर विचार प्रारंभ किया जा रहा है।) देवालय के कर्ण के समसूत्र में उदुम्बर की रचना करनी चाहिए। इसे कुम्भ के उदय के समतुल्य ऊँचाई से बनाना चाहिए। जब इसकी स्थापना करनी हो, उसके नीचे पञ्चरत्न रखें और इस अवसर पर स्थपति, शिल्पीजनों का अवश्य सम्मान करें।

यह श्लोक क्षीरार्णवोक्त गर्भगृहोदय द्वारशाखा विभाग संज्ञक 109वें अध्याय में 18वें क्रम पर है, जहाँ से मण्डन ने इसे उद्धृत किया है। ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में इस

प्रकार का पाठ है- मूलनासिक सूत्रेण कुम्भेनोदुम्बरः समः। 6, अपराजितपृच्छा में द्वार प्रतिष्ठा के लिए शुभ मुहूर्त के लिए चन्द्रबल की स्थिति का अवलोकन करने, उदुम्बर के लिए खातकर्म के दौरान पञ्चरत्न रखने, वास्तुपूजादि कार्य करने का निर्देश दिया गया है- द्वारस्य चोच्छ्रयः कार्यः शुभचन्द्रबलस्थितौ। खातं कृत्वोदुम्बरस्य पञ्चरत्नानि निक्षिपेत्॥ शाखाश्चोदुम्बरश्चैव हीनाश्चैवोत्तरङ्गतः। वस्त्रेणाच्छादितं कृत्वा वास्तुदेवं समर्चयेत्॥ आदौ दक्षिणशाखायां स्थापनं कुरुते ध्रुवम्। शाखोत्सेधचतुर्थांशे द्वारपालौ प्रपूजयेत्॥ सहिण्यैः सुकलशैर्वस्त्रैराच्छादितैः क्रमात्। उदुम्बरस्याऽभिषेकस्तथा शाखोत्तरङ्गयोः॥ उदुम्बरे च शाखायां प्रतिष्ठा च यथोच्यते। कार्या तथा चोत्तरङ्गे प्रतिष्ठा सर्वकामदा॥ शिल्पिनं पूजयेत्तत्र वस्त्रालङ्कारभूषणैः। अन्ये च पूजनीयास्ते तत्र ये कर्मचारिणः॥ विश्रामस्तद्दिने वास्तुः सर्वविघ्नप्रशान्तिकृत्। तदग्रे कथितव्यं च द्वारसूत्रप्रमाणकम्॥ (129, 24-30)

अधुनोदुम्बरविन्यास-

द्वारव्यासत्रिभागेन₃ मध्ये मन्दारको भवेत्।

वृत्तं मन्दारकं कुर्यात् मृणालं पद्म(पत्र ?)संयुतम्॥ 38॥

उदुम्बर की रचना के लिए सर्वप्रथम द्वार-विस्तार को तीन भागों में बाँटे जिनमें से मध्य में एक भाग में मन्दारक की संरचना करनी चाहिए। मन्दारक को वृत्ताकार बनाएं तथा उस पर मृणाल, पद्मपत्र को उत्कीर्णन करें।

यह भी क्षीरार्णव से किञ्चि पाठांतर के साथ उद्धृत है। तुलनीय है- द्वारविस्तार त्रिभागेन वृतमन्दारकोस्तथा। वृतमन्दारकं कुर्यात् मृणालपत्रसंयुतम्॥ वही 19, इसी प्रकार ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में कहा गया है- द्वारविस्तारत्रिभागेन मध्ये वृत्तमन्दारकम्॥ उदुम्बरस्य चोत्सेधं त्रिधाभक्तं तु कारयेत्। पीठं तु भागमेकेन द्विभागा पट्टिका भवेत्॥ मन्दारकोभयेपक्षे कीर्तिवक्त्रं कुणीद्वयम्। उदुम्बं समाख्यातं पद्ममृणालसंयुतम्॥ 6, 33-35 यही श्लोक विश्वकर्मीय वास्तुविद्या में इस रूप में है- द्वारविस्तार त्रिभागेन मध्यकन्द कारयेत्। मृणालेन समायुक्तं पद्म कुर्यात्ततोपरि॥ पार्श्वयोरुभयोः कार्य ग्रासरूपं सपत्रकम्। अध्याय 6, 26-27 उक्त श्लोक ही अपराजितपृच्छा में हैं। (129, 13-14)

जाड्यकुम्भः कणाली च कीर्तिवक्त्र(क्त ?)द्वयं तथा।

उदुम्बरस्य पार्श्वे च शाखायास्तलरूपकम्॥ 39॥

इसी प्रकार उदुम्बर की ऊँचाई के आधे भाग में जाड्यकुम्भ तथा कणाली को दो थर युक्त कणपीठ बनाएँ। मन्दारक के दोनों ओर एक-एक भाग में शोभा के लिए कीर्तिमुख की रचना तथा उसके पार्श्व में शाखा के तल का रूपक बनाना चाहिए।

यह श्लोक भी क्षीरार्णव से उद्धृत है। वही 20 वास्तुविद्या में अन्य रचनाओं का विवरण इस प्रकार दिया गया है- *धनदं वामदेशे तु दक्षिणे तु विनायकम्॥ युग्मेन सहितं वाथ कर्तव्यं नात्र संशयः। पीठोपरि तु कर्तव्यं मृणालं रूपसंयुतम्॥ मूलनासिक्योर्मध्ये समसूत्रं तु शोभनम्। शाखायामितितुल्यं न न्यूनं न ततोऽधिकम्॥ सीमाधिक्यं हने दृष्टं भृत्यांश्चैवस्तु बांधवान्। सीमामध्यगतं वाथ स्वसुतं स्वामिन् हनेत्॥ ऋजुसूत्रस्य चक्रस्यात् प्रजाहानिस्तिदाभवेत्। अज्ञानात्स्थापयेदस्तु शिल्पीन् च बुद्धिमान्॥ निष्कुलं शिल्पीनस्तत्र कारकं मृत्युमाप्नुयान्।*[१]

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में उदुम्बर का प्रमाण देते हुए निम्न श्लोक और मिलते हैं जो विचारणीय हैं- *उदुम्बरसपादेन उत्तरङ्गं विनिर्दिशेत्। विभज्यते तदुच्छ्रायः भागा अथैकविंशतिः॥ पत्रशाखा विशाखा च द्विसार्द्धं तु प्रकारयेत्। मालाधरं त्रिभागं च कर्तव्यं वामदक्षिणे॥ पादोना छज्जीका पट्टी पादोन चोर्ध्वफालना। रथिका सप्तभागाश्च भागैकं कण्ठमेव च॥ षड्भागमुत्सेधं कार्यमुद्गमं च प्रशस्यते। इदृशं कारयेत्प्राज्ञः सर्वयज्ञफलं भवेत्॥* (6, 40-43)

अथ कुम्भहीनोदुम्बरतलञ्च-

कुम्भस्यार्द्धे,, त्रिभागे, वा पादहीन(हीनोस्यु ?) उदुम्बरः।

तद्वयं कर्णकं(कङ्कणं ?) मध्ये पीठान्ते(के ?) बाह्यभूमिका॥ 40॥

इत्युदुम्बरमानम्।

उदुम्बर की रचना में उसके उदय को कुम्भोदय के समतुल्य ही रखा जाना चाहिए किंतु यदि न्यून करना चाहें तो कुम्भ के उदय का अर्द्ध, एक तृतीयांश अथवा चतुर्थ भाग के बराबर घटाया भी जा सकता है। उदय के अर्द्ध भाग तक कणक और गर्भगृह का तल रखें तथा बाह्यभूमि पर, तल पीठ के उदयान्त के बराबर रखें।

उदुम्बर के चार प्रकार के उदय का यह मत क्षीरार्णवादि में मिलता है। क्षीरार्णव में विश्वकर्मा का मत है- *उदुम्बरं ततो वक्ष्ये कुम्भतस्योदयं भवेत्। तस्योर्द्धेन त्रिभागेन*

१. (6, 27-32) तुलनीय अपराजितपृच्छा 129, 15

पादोनह्तोत्तमम्॥ चतुर्विधं तथा स्वस्थं कुर्याच्चैवमुदुम्बरम्। उत्तमोत्तमचत्वारो न्यूनाधिकाश्च दोषदा॥ (वही 21-22) इसी प्रकार ज्ञानप्रकाशदीपार्णव का भी मत है- *उदुम्बरं कुम्भकान्तं तदुच्छ्रयश्चतुर्विधः। तस्योर्द्धेन त्रिभागेन पादोनं रहितं तथा॥* (6, 36)

अपराजितपृच्छा में भुवनदेवाचार्य ने स्पष्ट किया है कि उदुम्बर को स्तम्भों की कुम्भिकाओं की ऊँचाई के बराबर ऊँचाई का रखना चाहिए। यदि इसे नीचा भी करना पड़े तो कुम्भी के आधे, तीसरे या चौथाई भाग के समान रखा जा सकता है। इसके विपरीत मान का रखना अनुचित है। गर्भगृह के तल का उदय उदुम्बर के उक्त मानानुसार ही रखना चाहिए जबकि बाह्य मण्डपों का भूमितल पीठ के उदयान्त तक रखें एवं रङ्गमण्डप का भूमितल पीठ के अन्त्यभाग में रखना चाहिए- *उदुम्बरं तथा वक्ष्ये कुम्भिकांत तदुच्छ्रयम्। तस्योर्द्धेन त्रिभागेन पादोनरहितं तथा॥ उक्तं चतुर्विधं शस्तं कुर्याच्चैवमुदुम्बरम्। अत्युत्तमाश्च चत्वारो न्यूना दुष्यास्तथाधिका॥ खुरकोर्ध्वेऽर्द्धचन्द्रः स्यात्तदूर्ध्वं स्यादुदुम्बरः। उदुम्बरार्द्धे त्र्यंशे वा पादे वा गर्भभूमिका॥ मण्डपेषु च सर्वेषु पीठान्ते रङ्गभूमिका। एषा युक्तिर्विधातव्या सर्वकामफलोदया॥* (129, 9-12)

अथार्द्धचन्द्र-

खुरकेन(ण ?) समं कुर्यादर्द्धं चन्द्रस्य चोच्छ्रतिः (चोच्छ्रितः ?)।

द्वारव्याससमं दैर्घ्यं निर्गमं (ञ्च ? स्यात्) तदर्द्धतः॥ 41॥

उदुम्बर के अग्रभाग में निर्मित की जाने वाली अर्द्धचन्द्र जैसी आकृति का उदय खुर थर के उदय के समान ही निर्धारित किया गया है। द्वार के विस्तार के बराबर अर्द्धचन्द्र की लम्बाई रखें तथा लम्बाई से आधा निर्गम रखना चाहिए।

द्विभाग₂मर्द्धचन्द्रञ्च भागेन द्वौ₂ गगारको (गगारिकौ ?)।

शङ्खपत्रसमायुक्तं पद्माकारैरलङ्कृतम्॥ 42॥

इत्यर्द्धचन्द्रः।

इसी प्रकार उक्त लम्बाई को तीन भागों में विभाजित कर, उसमें से दो भाग का अर्द्धचन्द्र तथा उभयपार्श्व में आधे-आधे भाग के दो गगारक बनाने चाहिए। अर्द्धचन्द्र तथा गगारक के मध्य में सुन्दर शङ्ख एवं पल्लवों के साथ ही पद्मपत्रवत् उत्कीर्णन किया जाना चाहिए।

अर्द्धशाखाद्वार के विषय में यह मत क्षीरार्णव (109, 24-25) में यथावत् है। दीपार्णव में कहा गया है- खुरकेन समं कुर्यादर्द्धचन्द्रस्य चोच्छ्रितम्। द्वारस्य विस्तारार्द्धेन द्वारव्याससमायतम्॥ द्विभागमर्द्धचंद्रश्च भागेन द्वौ गगारकौ। पत्रशङ्खसमायुक्तः पद्मकारैरलङ्कृतः॥ उदुम्बरार्द्धे त्र्यंशे वा पादे वा गर्भभूमिका। मण्डपेषु च सर्वेषु पीठान्ते रङ्गभूमिका॥ (6, 37-39)

इसी प्रकार अपराजितपृच्छा में भी अर्द्धचन्द्र के लिए उक्त निर्देश ही हैं- अर्द्धचन्द्र प्रवक्ष्यामि यथोक्तं लक्षणान्वितम्। द्वारस्य विस्तारार्द्धेन कर्तव्यस्तस्यनिर्गमः॥



उदुम्बर

निर्गमस्य प्रमाणेन द्विगुणं दैर्घ्यतस्ततः। त्रिभागं चोत्सृजेद् भागं वृत्तं तु भ्रामयेत्ततः। अर्द्धचन्द्राकृतिं कुर्याच्छाखाग्रे गर्भकान्वितम्। गगारकं याम्योत्तरे तस्यान्ते चैव पादुकाः॥ पत्रशाखासमायुक्ताः पद्माकारैलङ्कृताः। गगारकौ च द्वा मध्ये वृत्तस्य वाम-दक्षिणे॥ नाभ्युद्भवलतामध्ये गकारोदरनिर्गमः। एवमुक्तश्चार्द्धचन्द्रः सर्वकामफलप्रदः॥ (129, 19-23)

अत्रैव नागरप्रासादद्वारमानम्

एकहस्ते$_{1}$ तु प्रासादे द्वारं स्यात् षोडशाङ्गुलम्$_{16}$।

षोडशाङ्गुलिका$_{16}$ वृद्धिर्यावद्धस्तचतुष्टयम्$_{45}$॥ 43॥

अब विविध प्रासादों के द्वारों का मान कहा जा रहा है। सर्वप्रथम नागर प्रासाद के द्वार मान के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि इस जाति के प्रासाद में एक हाथ के

विस्तार वाले प्रासाद के द्वार का उदय 16 अङ्गुल रखना चाहिए। इसके बाद चार हाथ तक 16-16 अङ्गुल तक बढ़ाया जाना चाहिए।

अष्टहस्तान्तक$_{85}$ (अष्टहस्तांशकं ?) यावद्दीर्घे वृद्धिर्गुणाङ्गुला$_{53}$।

द्व्यङ्गुला$_{2}$ प्रतिहस्तं च यावद्धस्तशतार्द्धकम्$_{50}$॥ 44॥

इसी प्रकार पाँच से लेकर आठ हाथ तक तीन-तीन अङ्गुल और नौ से पचास हाथ तक के प्रतिहस्त दो-दो अङ्गुल बढ़ाते हुए द्वार का उदय निर्धारित कर रखना चाहिए। इस प्रकार पचास हाथ के मन्दिर के द्वार का उदय 160 अङ्गुल निर्धारित है।

उक्त नागरप्रासादद्वार मान अपराजितपृच्छा से उद्धृत हैं। तुलनीय है- एक हस्ते तु प्रासादे द्वारं स्यात् षोडशाङ्गुलम्। कार्या षोडशतो वृद्धिः पर्यन्ते च चतुष्करम्॥ गुणाङ्गुलाऽष्टहस्तान्तं तत्परं द्वयङ्गुला करे। पञ्चाशद्धस्तपर्यन्तं प्रयुक्ता वास्तुवेदिभिः॥[१]

यानपर्यङ्कादीनामानं-

यानवाहनपर्यङ्क (पल्यङ्क ?) द्वारं प्रासाद-सद्मनाम्।

दैर्घ्यार्द्धेन पृथुत्वं स्याच्छोभनं तत्कलाधिकम्॥ 45॥

इति नागरप्रासादद्वारमानम्।

इस मान के सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि यान (डोली, पालकी), वाहन, शय्या और पर्यङ्क तथा प्रासाद व आवासीय गृह के द्वार का विस्तार लम्बाई का आधा ही रखना चाहिए। इसमें भी यदि लम्बाई के सोलहवें भाग को विस्तार में बढ़ाया जाए तो द्वार की शोभा अधिक बढ़ जाती है।

यह मत अपराजितकार के अनुसार है। तुलनीय है- द्वारं प्रासाद-सद्मादौ यानझम्पानतल्पके। पृथुत्वमर्धे च शुभं स्यात्तु कलाधिके॥ वही 10 ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में दीर्घतोऽर्धं च विस्तारं शुभं स्यात्तु कलाधिकम्- भेद के साथ यही श्लोक है। (6, 4)

अथ भूमिजादिप्रासादद्वारमानम्-

एकहस्ते$_{1}$ सुरागारे द्वारं सूर्याङ्गुलोदयम्$_{12}$।

सूर्याङ्गुला$_{12}$ प्रती(ति ?)करं वृद्धिः पञ्चकरावधिः$_{5}$॥ 46॥

---

१. सूत्र 130, 8-9, तुलनीय ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 6, 2-3

अब भूमिज प्रासाद के द्वार मान के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि उसमें एक हाथ का विस्तार हो तो प्रासाद के द्वार का उदय द्वादश अङ्गुल रखें। इसके बाद पाँच हाथ विस्तार तक प्रतिहस्त भी 12-12 अङ्गुल बढ़ाते जाना चाहिए।

पञ्चाङ्गुला$_5$ च सप्तान्त$_7$ नवान्तं$_9$ सा युगाङ्गुला$_4$।

द्व्यङ्गुला$_2$ तु शतार्द्धान्तं$_{50}$ वृद्धिः कार्या करं प्रति॥ 47॥*

इति भूमिजप्रासादद्वारमानम्।

पाँच हाथ के उपरान्त प्रासाद का विस्तार छह या सात हाथ तक हो तो उसमें पाँच-पाँच अङ्गुल, आठ से नौ हाथ तक चार-चार अङ्गुल तथा दस से पचास हाथ तक के विस्तार वाले प्रासाद के द्वार के उदय को दो-दो अङ्गुल बढ़ाकर रखना चाहिए। नागर प्रासाद की तरह ही भूमिज प्रासादों के सन्दर्भ में ज्ञातव्य है कि विस्तार को उदय से आधा ही रखें और विस्तार में उदय का सोलहवाँ भाग बढ़ाने से सुन्दरता द्विगुणित हो जाती है।

**यह श्लोक इस रूप में भी है- पञ्चाङ्गुला च सप्तान्तं द्व्यङ्गुला तु शताधके। नवान्तं स्याद्युगाङ्गुलं वृद्धिः कार्या करं प्रति॥*

भूमिजप्रासाद का यह द्वार मान भुवनदेवाचार्य के मतानुसार है। तुलनीय है- एकहस्ते तु प्रासादे द्वारं सूर्याङ्गुलोदयम्। हस्ते-हस्ते सूर्यवृद्धिः यावत्स्यात् पञ्चहस्तकम्॥ त्रितुर्यांशा च सप्तान्तं नवान्तं च तदर्धतः। तदूर्ध्वं शतार्द्धान्तं च वर्द्धयेद् द्वयङ्गुलैः पुनः॥ उच्छ्रयार्द्धेण विस्तारं शुभं स्यातु कलाधिकम्। भूमिजे द्वारमानं च प्रयुक्तं वास्तुवेदिभिः॥[1]

अथ द्राविडद्वारमानम्-

प्रासादे एकहस्ते$_1$ तु द्वारं कुर्याद्दशाङ्गुलम्$_{10}$ (दशाङ्गुला?)।

रस$_6$हस्तान्तकं यावत्तावता वृद्धिरिष्यते॥ 48॥

द्राविड प्रासादों में द्वार के मान के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि एक हाथ के प्रासाद के द्वार का उदय 10 अङ्गुल रखें। इसके बाद छह हाथ तक के प्रासाद में प्रतिहस्त क्रमशः 10-10 अङ्गुल रखना चाहिए।

पञ्चाङ्गुलां दशान्तश्च द्वयाङ्गुलं च (वा) शतार्द्धकम्।*

इति द्राविडेद्वारं।

१. वही 16-18, तुलनीय ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 6, 8-10

इसी प्रकार सात से दस हाथ तक प्रतिहस्त पाँच-पाँच अङ्गुल और 11 से 50 हाथ तक के प्रासाद के द्वार का उदय प्रतिहस्त दो-दो अङ्गुल बढ़ाकर रखना चाहिए।

उक्त मत अपराजितकार के अनुसार है। तुलनीय- एकहस्ते तु प्रासादे द्वारं विद्यादशाङ्गुलम्। दशाङ्गुलं प्रतिकरं यावत् षड्हस्तकं भवेत्॥ अतऊर्ध्वं दिकारान्तं वृद्धिः पञ्चाङ्गुला भवेत्। द्वयङ्गुला च ततो वृद्धिः पञ्चाशद्धस्तकावधि॥ पृथुत्वं च तदर्द्धेन शुभं स्यातु कलाधिकम्। द्राविडे द्वारविस्तारः प्रयुक्तो वास्तुवेदिभिः॥[1]

**यह श्लोक मातृका 'ख' में नहीं है और 'क' में एक ही पङ्क्ति है किंतु जयपुर पाठ में अपराजितपृच्छा की 'पृथुत्वं च तदर्धेन शुभं स्यातु कलाधिकम्' पङ्क्ति से श्लोक को पूरा किया गया है जिसका अर्थ है- उदय का आधा विस्तार हो और विस्तार में उदय का सोलहवाँ भाग बढ़ाया जाए तो शोभा बढ़ जाती है।*

अन्यान्यप्रासादद्वारमानम्-

विमाने भूमिजे(भौमजे ?) मानं व(वि ?)राटेषु तथैव च।

मिश्रके लतिने चैव प्रशस्तं नागरोद्भवम्॥ 49॥

अन्य जातियों के प्रासादों में द्वार संरचना के लिए ध्यान रहे कि विमान एवं वराट या वैराट जाति के मन्दिर का द्वार भूमिजजाति के मान का और मिश्रक व लतिन जाति के प्रासाद का द्वार नागरजाति के प्रासाद के मानानुसार रखना चाहिए।

विमाननागरच्छन्दे कुर्याद्विमानपुष्पके।

सिंहावलोकने द्वारे नागरं शोभनं मतम्॥ 50॥

इसी प्रकार विमाननागर, विमानपुष्पक तथा सिंहावलोकन जाति के प्रासाद का द्वारमान नागर जाति के मानानुसार ही रखना शुभ माना जाता है।

वलभ्यां भूमिजं (भौमजे ?)मानं फां(फं, का ?)साकारेषु द्राविडः।

धातुजे रत्नजे चैव दारुजे च रथारुहे॥ 51॥

इति द्वारप्रमाणम्।

वलभी जाति के प्रासाद का द्वारमान भूमिजजाति के मान का, फासनाकार प्रासाद सहित धातु, रत्न, काष्ठ और रथारुह जाति के प्रासाद का द्वार द्राविड जाति के प्रासाद के मानानुसार रखा जाना श्रेयस्कर होता है।

१. वही 24-26 तुलनीय- ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 6, 12-14

उक्त दोनों श्लोक अल्पाधिक भेद के साथ अपराजितपृच्छा में मिलते हैं। तुलनीय है- *विमाने भूमिजे मानं वराटेषु तथैव च। मिश्रके लतिने चैव मानं शस्तं च नागरम्॥ दशहस्तात्परं चैव सान्धारे कामदं तथा। विमाननागरच्छन्दे कुर्याद्विमानपुष्पके॥ नागरं शोभनं द्वारं तथा सिंहावलोकने। वलभ्यां भूमिजं मानं द्राविडं फांसनाकृतौ। धातुजे चैव दारुजे च रथारुहे। यश्च्छन्दश्चैव प्रासादे द्वारं तन्मानं भवेत्॥*[१]

अथद्वारशाखाम्–

नवशाखं महेशस्य देवानां सप्तशा(सा ?)खिकम्।

पञ्चशा(सा ?)खं सार्वभौमे त्रिशाखं मण्डलेश्वरे॥ 52॥

किसके लिए कितनी शाखाओं वाले द्वार का प्रयोग किया जाए, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि शिवालय में द्वार को नवशाखाओं वाला बनवाना चाहिए और अन्य देवताओं के प्रासादों में सप्तशाखी द्वार शुभ होता है। सार्वभौम या सार्वराट् राजाओं के हर्म्य में पञ्चशाखी तथा मण्डलेश्वर राजाओं के प्रासादों में त्रिशाखी द्वार का निर्माण किया जाना चाहिए।

उक्त श्लोक क्षीरार्णव में इसी रूप में है। देखें 109, 9 तथा ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में यह मत इस प्रकार दिया गया है- शिवद्वारं भवेद्ज्येष्ठं कनिष्ठं च जनालये। मध्यमं सर्वदेवानां सर्वकल्याणकारकम्॥ 6, 19, इसी प्रकार अपराजितकार का कथन है- देवेशानां नवशाखं सप्तशाखं दिवौकसाम्। सार्वभौमे पञ्चशाखं त्रिशाखं मण्डलेश्वरे॥[२]

अपराजितपृच्छा, ज्ञानप्रकाशदीपार्णवादि में इन द्वार शाखाओं के नाम भी दिए गए हैं। एक से लेकर नौशाखी द्वारों के नाम क्रमशः कीर्ति, प्रभव, सुभग, गांधारी, नन्दिनी, मालिनी, हस्तिनी, मुकुली तथा पद्मिनी हैं–स्मरकीर्तिश्च प्रभवा सुभगा गांधारी तथा। नन्दिनी मालिनी चैव हस्तिनी मुकुली तथा॥ पद्मिनी नवशाखाश्च एकाद्यातः प्रकीर्तिता॥ 6, 16–17 तथा अपराजितपृच्छा 131, 2–5, इसी प्रकार भुवनदेव ने द्वारशाखाओं के ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ नामों का भी विवरण दिया है- पद्मिनी नवशाखं च सप्तशाखं तु हस्तिनी। नन्दिनी पञ्चशाखं तु त्रिविधं चोत्तमं भवेत्॥ मुकुली मालिनी ज्येष्ठा गान्धारी सुभगा तथा। मध्यमेति द्विधा प्रोक्ता कनिष्ठा सुप्रभा स्मृता॥

---

१. वही 27–30 तथा ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 6, 15

२. 131, 9

मुकुली चाष्टशाखं च षट्शाखं चैव मालिनी। गान्धारी च चतुःशाखं त्रिशाखं सुभगा स्मृता॥ सुप्रभा तु द्विशाखं चैकशाखं स्मरकीर्तितम्।[१]

वर्णक्रमानुसारेशाखा:

एकशाखं भवेद् द्वारं शूद्रे-वैश्ये-द्विजे सदा।

समशाखञ्च धूमाये श्वा(स्वा ?)न-रासभ-वायसे॥ 53॥

इसी प्रकार शूद्र, वैश्य व ब्राह्मण- इन तीन वर्णों के गृहों में एक शाखी द्वार लगाना चाहिए। सम शाखे वाले (दो, चार, छह, आठ शाखा वाले) द्वार धूम, श्वान, रासभ या खर तथा ध्वाङ्क्ष आय वालों घरों में ही निर्मित किए जाने चाहिए।

अपराजितपृच्छा में द्विशाखीद्वार का निर्देश दिया है- द्विशाखं तु प्रकर्तव्यं शूद्र-वैश्यद्विजन्मनाम्। नवान्तमेकशाखादि आयदोषविशोधनम्॥[२]

इसी प्रकार शाखा के लिए आय का निर्देश इस प्रकार दिया गया है- नवशाखे ध्वश्चैको वृषभः पञ्चशाखिके। त्रिशाखे च तथा सिंहः सप्तशाखे गजः स्मृतः॥ द्विशाखे धूम इत्युक्तमग्निकर्मगृहं भवेत्। चतुःशाखे तु कर्तव्यः श्वानः कारुत्वजीविनाम्॥ षट्शाखे चैव कर्तव्यः रजकादेः खरः स्मृतः। ध्वाङ्क्षश्चैवाऽष्टशाखे तु विहङ्गादेस्तथा स्मृतः॥[३]

प्रासादाङ्गतुल्याशाखा:

त्रि$_3$ पञ्च$_5$ सप्त$_7$ नन्दाङ्गे$_9$ शाखाः स्युरङ्गतुल्यकाः।

हीनशाखं न कर्त्तव्यमधिकाढ्यं सुखावहम्॥ 54॥

प्रासाद के अङ्गों में भद्रादि तीन, पाँच, सात अथवा नौ अङ्ग होते हैं। इनमें से जितने अङ्ग वाला मन्दिर प्रासाद निर्मित हो उतनी ही शाखाओं का निर्माण किया जाना चाहिए। हीनशाखा नहीं रखनी चाहिए यह निषिद्ध है किंतु यदि शाखाधिक्यता सुख प्रदायक मानी जाती है।

---

१. वही 2–5

२. वही 10

३. वही 6–8

अथ न्यूनाधिकशाखामानम्-

अङ्गुलं सार्द्धमर्द्धं वा कुर्याद्धीनं तथाधिकम्।

आयदोषविशुद्धार्थं ह्रस्व(ह्रासो, हस्त ?) वृद्धिर्न दूषिते (दूष्यते ?)॥ 55॥

द्वारशाखा के मान में आय-व्यय पर विचार किया जाना चाहिए। यदि मान में शुभ आय नहीं आती हो तो एक, डेढ़ अथवा अर्द्धाङ्गुल न्यूनाधिक किया जाकर शुभ आय प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। आय दोष के विशुद्धीकरण के लिए द्वारशाखा के माना में इतना न्यूनाधिक किया जाना अनुचित नहीं होता है।

अपराजितकार का इस सम्बन्ध में कहना है कि सप्ताङ्ग के लिए सप्तशाखी द्वार तथा नवाङ्ग के लिए नवशाखा द्वार को रखा जाना चाहिए, इसके लिए हीनशाखाओं वाले द्वार को नहीं रखें किंतु न्यूनाङ्ग पर अधिक शाखा को रखा जा सकता है- सप्तशाखाश्च सपताङ्गे नवशाखा नवाङ्गके। हीनशाखा न कर्तव्या अधिका नैव दूषयेत्॥[1]

अथ त्रिशाखद्वारम्-

चतुर्भागाङ्कितं कुर्याच्छाखाविस्तारमानकम्।

मध्ये द्विभागिकं कुर्यात्स्तम्भं पुरुषसंज्ञकम्॥ 56॥

त्रिशाखा के मान के लिए शाखा के विस्तार को चार भागों में बांटें। इसमें से मध्य में दो भाग का एक रूप स्तम्भ तैयार करना चाहिए। इस स्तम्भ की संज्ञा 'पुरुष-स्तम्भ' कही गई है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में इस रूप में है- चतुर्भागाङ्कितं कृत्वा त्रिंशाख वर्तयेत्ततः। मध्ये द्विभागिकं कुर्यात् स्तम्भं पुरुषसंज्ञकम्॥[2]

स्त्री(त्रि ?)सञ्ज्ञका भवेच्छाखा पार्श्वतो भागभागिका।

निर्गमे चैकभागेन रूपस्तम्भः प्रशस्यते॥ 57॥

इस स्तम्भ के उभय पार्श्व में एक-एक भाग की शाखा बनाएँ, इसे स्त्रीसंज्ञक कहा गया है। रूप स्तम्भ का निर्गम एक भाग का रखा जाना प्रशस्त होता है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में इस रूप में हैं- स्त्रीसंज्ञा च भवेच्छाखा पार्श्वयोः पृथुभागिका। निर्गमश्चैकभागेन रूपस्तम्भे प्रशस्यते॥ **(वही 2)**

१. वही 15

२. सूत्र 132, 1

शाखास्तम्भेननिर्गमम्-

एकांशं$_1$ सार्द्धभागं$_{1,}$ च पादून$_{1_{\prime\prime\prime}}$(पाशेन ?) द्वयमेव च।

द्विभागं$_2$ निर्गमे कुर्यात्स्तम्भं द्रव्यानुसारतः॥ 58॥

अपने अर्थ सामर्थ्य के अनुसार शाखा के स्तम्भ का निर्गम एकांश, डेढ़, पौने दो या फिर दो भाग तक रखा जा जा सकता है।

शाखोदरविस्तारश्च प्रवेशः

पट्टके(पेटके, पोटके ?) विस्तरं कार्यं प्रवेशस्य युगांशकम्$_4$।

कोणिका स्तम्भमध्ये तु भूषणार्थं हि पार्श्वतः (पार्श्वयोः)॥ 59॥

पेटक या शाखा के विस्तार का चतुर्थांश शाखा के प्रवेश या निर्गम का रखना चाहिए। रूप स्तम्भ के उभय पार्श्व में सौंदर्य की दृष्टि से एक-एक कोणिका का निर्माण किया जाना चाहिए।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में 132, 3 हैं। तुलनीय है- पट्टके विस्तरः कार्यः प्रवेशश्चतुरंशतः। कोणिका स्तम्भमध्ये तु भूषणार्थाय पार्श्वत्॥

द्वारदैर्घ्यं चतुर्थांशो द्वारपालो विधीयते।

स्तम्भं शाखादिकं शेषं त्रिशाखं च द्विभाजयेत्(विधिभाजयेत् ?)॥ 60॥

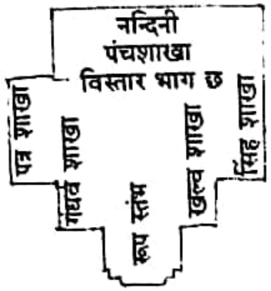
इति त्रिशाखं।

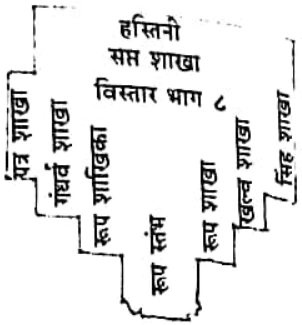
द्वार के दैर्ध्य या उदय के चार भाग करें और उसके चतुर्थांश के उदय के समतुल्य द्वारपाल बनाना चाहिए। पुनः तीन भाग के उदय में स्तम्भ और शाखा आदि की रचना करनी चाहिए।

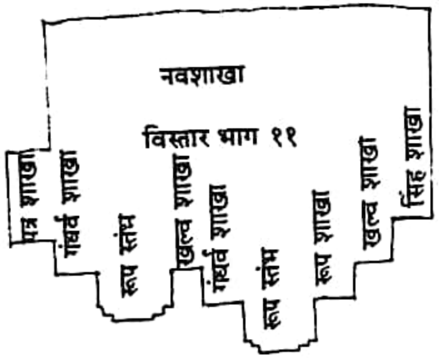
उक्त श्लोक अपराजितपृच्छा से तुलनीय है-

शाखोत्सेधे चतुर्थांशे द्वारपालौ निवेशयेत्।
कालिन्दी वामशाखायां दक्षिणे चैव जाह्नवी॥
गङ्गाऽर्कतनयायुग्ममुभयोर्वाम दक्षिणे।
गन्धर्वा निर्गमे कार्या एकभागा विचक्षणैः॥









तत्सूत्रे खल्वशाखा च सिंहशाखा च भागिका।
नन्दी च वामशाखायां कालो दक्षलताश्रितः॥
यक्षाः स्युरन्तशाखायां निधिहस्ताः शुभोदयाः।
इति त्रिशाखं सम्प्रोक्तं पञ्चशाखमतः शृणु॥[१]

पञ्चशाखा:

पत्रशाखा च गन्धर्वा रूपस्तम्भस्तृतीयके (स्त्रितायकः)।
चतुर्थीखल्वशाखा (स्वल्पसाखा ?) च सिंहशाखा च पञ्चमी॥ 61॥

इति पञ्चशाखं।

१. वही 4-7 तुलनीय- ज्ञानप्रकाश दीपार्णव 6, 20-21

पञ्चशाखाओं में प्रथम शाखा की संज्ञा पत्रशाखा, द्वितीय की गान्धर्व, तृतीय की रूपस्तम्भ, चतुर्थ की खल्व या पल्लवशाखा तथा पञ्चम की सिंहशाखा होती है।

अपराजितपृच्छा में पञ्चशाखाद्वार के लिए विस्तार से वर्णन हैं- शाखाविस्तार मानं च षड्भिर्भागैर्विभाजयेत्। एकभागा भवेच्छाखा रूपस्तम्भो द्विभागिकः॥ निर्गमश्चैकभागेन रूपस्तम्भ प्रशस्यते। कोणिका स्तम्भमध्ये च उभयोर्वामदक्षिणे॥ गन्धर्वा निर्गमे कार्या एकभागा विचक्षणैः। तत्सूत्रे खल्वशाखा च सिंहशाखा च भागिका॥ सपादः सार्धभागो वा रूपस्तम्भः प्रशस्यते। उत्सेधे चाष्टमांशेन शस्तं शाखोदरं मतम्॥ पत्रशाखा च गन्धर्वा रूपस्तम्भस्तृतीयकः। चतुर्थी खल्वशाखा च सिंहशाखा ततःपरम्॥ पञ्चशाखमिति ख्यातं सङ्क्षेपात् कथितं मया।[१]

अथ सप्तशाखा:

प्रथमा पत्रशाखा च गन्धर्वा रूपशाखिका।
चतुर्थी स्तम्भशाखा च रूपशाखा च पञ्चमी॥ 62॥
षष्ठी तु खल्वशाखा (शल्पसाखा ?) च सिंहशाखा च सप्तमी।
स्तम्भशाखा भवेन्मध्ये रूपशाखाग्रसूत्रतः॥ 63॥

इति सप्तशाखं।

सप्तशाखाओं का क्रम इस प्रकार होगा- प्रथमशाखा पत्रशाखा, द्वितीय गान्धर्व शाखा, तृतीय रूपशाखा, चतुर्थ स्तम्भशाखा, पञ्चम रूपशाखा, षष्ठ पल्लवशाखा और सप्तमशाखा सिंहशाखा होगी। इन शाखाओं के मध्य भाग में रूपस्तम्भ का विधान किया जाना चाहिए और रूपशाखा को आगे निकलती रखें।

सप्तशाखा का उक्त मान अपराजितपृच्छा के मतानुसार है। वहां किञ्चित विस्तार है- सप्तशाखं प्रवक्ष्यामि शृणु त्वमपराजित॥ शाखाविस्तारमानं तु वसुभागविभाजितम्। भागभागाश्च शाखाः स्युर्मध्यस्तम्भो द्विभागिकः॥ कोणिका भागपादेन विस्तारे निर्गमे तथा। निर्गमः सार्धभागेन रूपस्तम्भः प्रशस्यते॥ निर्गमो भागमेवं च निर्गमश्च तदर्धतः। .... शेषं शाखा प्रशस्यते॥ पञ्चशाखा च गन्धर्वा रूपशाखा तृतीयका। स्तम्भशाखा

१. (132, 8-13) तुलनीय-ज्ञानप्रकाशदीपार्णव वही 22-23

भवेन्मध्ये रूपशाखा तु पञ्चमी॥ षष्ठी स्यात् खल्वशाखा च सिंहशाखा च सप्तमी। प्रसाद-कर्णसहितं सिंहशाखाग्रसूत्रत: ॥[1]

अथ नवशाखा:

पत्रगन्धर्वसंज्ञा च रूपस्तम्भस्तृतीयके (स्तम्भतृतीयके ?)।

चतुर्थी खल्वशाखा(शल्पशाखा ?) च गन्धर्वा त्वथ पञ्चमी॥ 64॥

रूपस्तम्भस्तथा षष्ठी रूपशाखा ततः परम् (परा ?)।

खल्वशाखा(शल्पशाखा ?) च सिंहाख्या मूलकर्णेन सम्मिता॥ 65॥

इति नवशाखं।

नवशाखा का क्रम इस प्रकार रखें- प्रथम पत्रशाखा, द्वितीय गान्धर्वशाखा, तृतीय रूपस्तम्भ, चतुर्थ खल्व या पल्लवशाखा, पञ्चम गान्धर्वशाखा, षष्ठ रूपस्तम्भ, सप्तम रूपशाखा, अष्टमी खल्व या पल्लवशाखा तथा नवम सिंहशाखा। इस प्रकार नौ शाखाओं को प्रासाद के कर्ण तक विस्तृत करना चाहिए।

अपराजितपृच्छा में नवशाखा की रचना को विस्तार से स्पष्ट किया गया है- नवशाखं प्रवक्ष्यामि देवानां दुर्लभं सदा। यत्र विश्राम्यति शिवः सदा त्रिदशसम्युतः॥ शाखाविस्तारमानं तु रुद्रभागविभाजितम्। द्विभागः स्तम्भ इत्युक्त उभयोः कोणिकाद्वयम्॥ निर्गमः सार्धभागेन पादोनद्वयमेव वा। रूपस्तम्भद्वयं कार्यं गन्धर्वद्वयमेव च॥ पत्रशाखा च गन्धर्वा रूपस्तम्भस्तृतीयकः। चतुर्थी खल्वशाखा च गन्धर्वा इति पञ्चमी॥ रूपस्तम्भस्तु षष्ठी स्यात् रूपशाखा ततः परा। खल्वशाखा चाष्टमी स्यात् सिंहशाखा तथान्तिमा॥ पट्टके विस्तरः कार्यः प्रवेशश्चतुरंशतः। पञ्चांशैश्च प्रकर्तव्यः सार्धचतुष्कतस्तथा। एवं नवशाखं तु विभक्तं विश्वकर्मणा। नवाङ्गे चैव प्रासादे नवशाखास्तु कारयेत्॥[2]

उत्तरङ्गस्यदेवतानि-

यस्य देवस्य या मूर्त्तिः सर्व(सैव ?)कार्योत्तरङ्गके।

शाखायाञ्च परिवारो गणेशश्चोत्तरङ्गके॥ 66॥

---

१. वही 13-18 तुलनीय- ज्ञानप्रकाशदीपार्णव वही 24-26

२. वही 19-25, तुलनीय- ज्ञानप्रकाशदीपार्णव वही 27-31

किसी प्रासाद के गर्भगृह में जो देव प्रतिमा स्थापित हो, उसी देव की प्रतिमा को गर्भगृह के उत्तरङ्ग पर भी उत्कीर्ण किया जाना चाहिए। शाखाओं में उस देवपरिवार को उकेरें। उत्तरङ्ग पर गणेशाङ्कन भी किया जा सकता है।

यह श्लोक क्षीरार्णव एवं ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में इस रूप में हैं- यस्य देवस्य या मूर्तिः सैवकार्यात्तरङ्गके। परिवारश्च शाखायां गणेश्चोत्तरङ्गके॥ 109, 26, तथा 6, 44 इसी प्रकार विश्वकर्माकृत जयपृच्छा में भी यह श्लोक 11, 68 क्रम पर है।

इति श्री सूत्रधार मण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने भिट्टपीठमण्डोवरगर्भगृहोदुम्बरद्वारप्रमाणनामस्तृतीयोऽध्यायः॥ 3॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

प्रतिमादृष्टिपदस्थानशिखरध्वजकलशलक्षणाधिकारे

द्वारानुसारेबिम्बपीठञ्च-

द्वारोच्छ्रयोऽष्ट$_8$नवधा$_9$ भागमेकं$_1$ परित्यजेत्।

शेषे त्र्यंशे$_3$ द्विभागार्च्चा$_2$त्र्यंशोना$_3$ द्वारतोऽथवा॥ 1॥

(अब द्वार के मानानुसार प्रतिमा एवं पीठिका के मान पर विचार किया जा रहा है) द्वार के उदय के आठ या नव भाग किए जाकर उसमें से उपरी एक भाग को त्यागते हुए शेष सात या आठ भाग के तीन भाग करें। इसमें से दो भाग की मूर्ति तथा एक भाग की ऊंचाई वाली उसकी पीठिका जिसे पबासन भी कहा जाता है, बनाई जाएँ। एक विकल्प यह भी है कि द्वारमान के तीन भागकर उसमें से दो भाग की प्रतिमा तैयार करें।

क्षीरार्णव के प्रतिमापीठलिङ्गमानाध्याय में कहा गया है- देवता मुनिभिर्भाग पीठमानमथोच्यते। पीठभागमेकेन सार्द्ध भाग मध्यमम्॥ द्विभागमुत्तमं चैव देवपीठं समुच्छ्रयम्। यदि सम समात्किर्णः प्रतिमा लक्षणान्वितं॥ महेश्वरस्य विष्णोश्च ब्रह्मचोश्चं सम्भवेत्। इति रेखान्तो देवानां कर्तव्यं धीमता॥ (110, 1-3)

बिम्बमानम्-

द्वारदैर्घ्ये तु द्वात्रिंशे$_{32}$(तिथ्यंशे, तत्त्वांशे ?) तिथि$_{15}$शक्र$_{14}$कलांशकैः$_{16}$।

ऊर्ध्वार्च्चा आसनस्था च मनु$_{14}$विश्वा$_{13}$र्क$_{12}$भागतः॥ 2॥*

द्वार के उदय का बत्तीस भाग किए जाकर उसमें से पन्द्रहवें, चौदहवें या सोलहवें भाग के मान की स्थानक अथवा खड़ी मूर्ति बनाई जाएँ। आसनस्थ अथवा बैठी हुई मूर्ति इसके चौदहवें, तेरहवें अथवा बारहवें भाग की बनाई जा सकती है।

** इस श्लोक में 'द्वात्रिंशे' को लेकर पाठांतर है। एक पाठ में तिथ्यंशे और 'क' मातृका में तत्वांशे दिया गया है जिनका अर्थ क्रमशः 15 एवं 24 होता है। क मातृका में लिपिकार ने हाशिये पर तत्व का अर्थ 24 पृथक से देकर स्पष्ट भी किया है किंतु 'तत्वांशे' की अपेक्षा 'द्वात्रिंशे' पाठ उचित प्रतीत होता है। क्षीरार्णव के 111वें अध्याय में भी यही मत है- उच्छ्रयं द्वांत्रिशत् भागं द्वार मान विशेषतः।* (श्लोक 1)

गर्भगृह-

चतुरस्त्री$_4$कृते क्षेत्रे दशभाग$_{10}$विभाजिते।

भित्तिर्द्विभागं$_2$(?) कर्त्तव्या षड्भागं$_6$ गर्भमन्दिरम्॥ 3॥

प्रासाद की समचोरस भूमि के दस भाग किए जाकर उसमें से दो-दो भाग की दोनों ओर की दीवार तथा शेष छह भाग का गर्भगृह बनाया जाना चाहिए।

गर्भगृहबिम्बमानञ्च-

तृतीयांशेन$_3$ गर्भस्य प्रासादे प्रतिमोत्तमा।

मध्यमा स्वदशांशोना$_{10}$ पञ्चांशोना$_5$ कनीयसी॥ 4॥

गर्भगृह के मान से मूर्ति के मान के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि गर्भगृह के विस्तार के तीसरे भाग की प्रतिमा बनाया जाना उत्तम होता है। प्रतिमा का दसवाँ भाग उसके मान में से घटा दिया जाए तो मध्यम मान की प्रतिमा तथा पाँचवां भाग घटा दिया जाए तो कनिष्ठ मान की प्रतिमा मानना चाहिए।

अथ देवदृष्टिस्थानम्-

आय$_8$भागैर्भजेद्वा(द्वा ?)रमष्टमं$_8$ तूर्ध्वतस्त्यजेत्।

सप्तमा$_7$ सप्तमे$_7$ दृष्टि(षष्ठी ?) वृषे-सिंहे-ध्वजे शुभः(?)॥ 5॥

देहली के शीर्ष से उतरङ्ग के नीचे के हिस्से तक के द्वार के मध्य में आठ भाग किए जाकर उसमें से उपर का आठवाँ भाग छोड़कर उसके नीचे के सातवें भाग के आठ भाग किए जाए। उसमें से उपर का एक भाग छोड़ उसके नीचे का सातवाँ भाग गज आय माना जाए। उस पर समस्त देवताओं की दृष्टि रखी जाए अथवा द्वार के बीच उदय का चौसठ भाग करके उसमें से पचपनवें भाग में दृष्टि रखी जानी चाहिए अथवा आठ भाग वाले सातवें भाग के वृष, सिंह तथा गज आय में भी दृष्टि रखना शुभ माना गया हैं।

मण्डन का देवतामूर्तिप्रकरणम् में यह मत है कि उदय की देहली तथा उत्तोलन के मध्य के हिस्से को आठ भागों में बाँटे और इसके बाद इन प्रत्येक भाग के पुनः आठ-आठ भाग करें, जिनकी संख्या 64 होगी। इस विभाजन के अनुसार विषम भाग पर देवों की दृष्टि को रखा जाना चाहिए जबकि उदुम्बर के शीर्ष पर पहले, तीसरे, पाँचवें आदि 23 भाग तक विषम भाग में शिवलिङ्ग को स्थापित करें- द्वारादयोऽष्टधा

काया एकैकांशोऽष्टधा पुनः। चतुःषष्टिविभागेषु विषमेषु शुभा दृशः॥ त्रयोविंशति पर्यन्तमेकादि विषमांशके। स्थाप्या उदुम्बरादूर्ध्वं शिवलिङ्गानि धीमता॥ (3, 9-10)

लक्ष्मीनारायणादीनां-

पष्ठ(षष्टि ?)भागस्य पञ्चांशे लक्ष्मीनारायणादिदृक्।

शयनार्चशलिङ्गानि द्वारोर्द्ध न व्यतिक्रमात्(मेत, मात्र ?)॥ 6॥

द्वार के आठ भागों में छठे भाग के आठ भाग-भाग किए जाकर पाँचवें भाग में लक्ष्मीनारायण की दृष्टि रखी जाए। शयनासन देवता या जलशायी तथा शिवलिङ्ग की दृष्टि द्वार के अर्द्धभाग में रखी जानी चाहिए। द्वारार्द्ध का उल्लंघन कर कभी दृष्टि नहीं रखी जाए।

क्षीरार्णवकार का मत है- *द्वारं षड्भागिकं ज्ञेयं त्रिधा पञ्च प्रकल्पयेत्। पीठे तु भागमेकेन द्विभागे प्रतिमा भवेत्॥ एवमूर्ध्वे प्रतिमा च अर्द्धे शयनासनं भवेत्। पीठमानं च नान्यत्र शेष स्थाने च निष्फलम्॥ जलशय्या प्रमाणेन द्वार विस्तार साधितम्। अन्यथा च यदाऽर्च्चा विस्तरं नैव लङ्घयेत्॥* (110, 6-8)

अथ पदस्थानानि-

पट्टाधो(पटाध्ये, यदार्धे ?) यक्ष-भूताद्या प(य ?)दाग्रे सर्वदेवताः।

तद(T ?)ग्रे वैष्णवं ब्रह्मा मध्ये लिङ्गं शिवस्य च॥ 7॥

इति प्रतिमाप्रमाणदृष्टिपदस्थानम्।

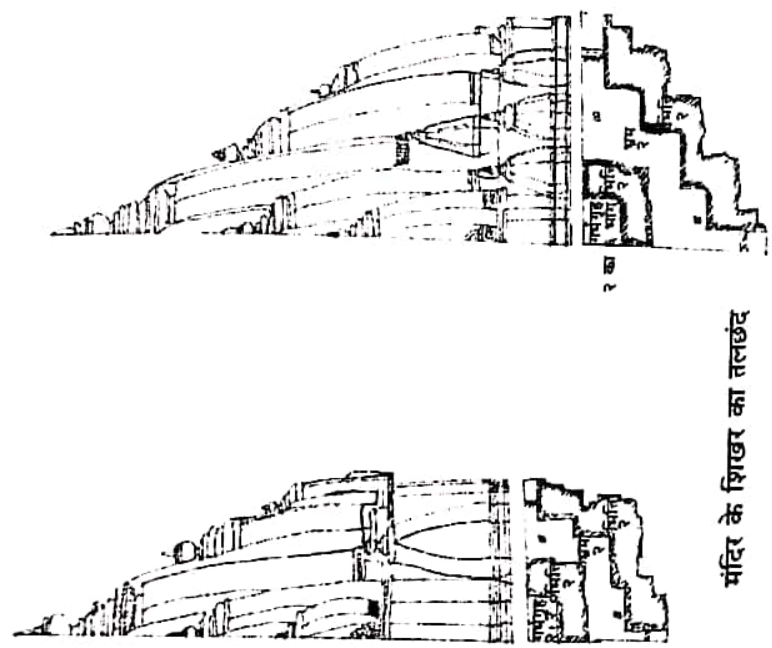
देवता पद स्थान के सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि गर्भगृह के स्तंभ के उपर रखे पट्ट के नीचे यक्ष, भूतादि को स्थान दिया जाना चाहिए। अन्य समस्त देवताओं को पट्ट के आगे स्थान दिया जाए। इनके आगे वैष्णव तथा ब्रह्मा को एवं गर्भगृह के मध्य शिवलिंग की स्थापना की जाए।

इसी प्रकार जैनलक्षणग्रंथ विवेकविलास में मुनि जिनदत्तसूरि का निर्देश है- *प्रासादगर्भे गेहार्धे भित्तितः पञ्चधाकृते। यक्षाद्याः प्रथमे भागे देव्यः सर्वा द्वितीयके॥ जिनार्कस्कन्धकृष्णानां प्रतिमाः स्युस्तृतीयके। ब्रह्मा चतुर्थभागे स्याल्लिङ्गमीशस्य पञ्चमे॥ 1-2* यही मत प्रासादतिलक एवं वत्थुसारप्रकरणम् में हैं। देवतामूर्तिप्रकरणम् एवं रूपमण्डनम् में भी इस सम्बन्ध में विचार किया गया है।

प्रहारथरं-

छाद्यस्योर्द्धे प्रहार(: ?) स्याच्छृङ्गे शृङ्गे तथैव च।

प्रासादा(?)शृङ्गःशृङ्गेषु अधोभागे तु च्छाद्यकम्॥ 8॥[१]



मंदिर के शिखर का तलछंद

प्रहार थर के लिए यह मत है कि छाद्य के उपरी भाग में प्रहार का थर बनाना चाहिए। हर एक शृङ्ग के नीचे प्रहार का थर बनाया जाए तथा उसके नीचे छाद्य बनाने का विधान है।

शृङ्गक्रमं-

मूलकर्णे(र्ण ?) रथादौ वा एक, द्वि, त्रिक, मान्यसेत्(मान्यासेत् ?)।

निरन्धारे(निराधारे ?) मूलभित्तौ सान्धारे(साधारे ?) भ्रमभित्तिषु॥ 9॥

१. इसके बाद भगवानदास जैन की प्रति में यह श्लोक दिया गया है किंतु वह अन्य किसी पाठ में नहीं है- छाद्यं भागद्वयं सार्धं सार्धभागं च पालवम्। मुण्डलीकं भागमेकं भागेन तिलकस्तथा॥ अर्थात् छज्जा का उदय दो भाग अथवा डेढ़ (ढाई ?) भाग, पालव डेढ़ भाग, मुण्डलिक एक तथा तिलक एक भाग रखना चाहिए।

मूलकर्ण, रथ, उपरथ- ये सभी प्रासाद के अङ्ग बताए गए है। इनके ऊपर एक, दो अथवा तीन शृङ्ग क्रमिक रूप से बनाने चाहिए। निरंधार या प्रकाशयुक्त प्रासाद की प्रधान भित्ति पर और सांधार या परिक्रमण पथ वाले प्रासाद के प्रकरण में परिक्रमा की भित्ति पर शृङ्गों को क्रमिक रूप से चढ़ाना चाहिए।

उरुशृङ्गक्रमं-

उरुशृङ्गाणि भद्रेस्यु(षु ?)रेकादिग्रहसङ्ख्यया$_{9}$ ।

त्रयोदशार्द्धे$_{13}$ ससार्द्धे$_{7}$ लुसानि चो(ची ?)रुशृङ्गकैः ॥ 10 ॥

प्रासाद के भद्र पर एक से नौ तक उरुशृङ्ग का निर्माण किया जाता है। शिखर के उदय का त्रयोदश भाग कर उनमें से ससांश के मान का उरुशृङ्ग बनाना चाहिए। द्वितीय उरुशृङ्ग प्रथम उरुशृङ्ग के तेरह भाग करके उनमें से सात अंश का बनाना चाहिए। इस तहर ऊपर के उरुशृङ्ग का तेरह भाग कर ससांश उदय में नीचे का उरुशृङ्ग रखना चाहिए।

अथ शिखरनिर्माणोपदेशः

रेखामूले च दिग्भागे$_{10}$ (गं ?)कुर्यादग्रे षडंशकम्$_{6}$ ।

षड्$_{6}$बाह्ये(भागे ?) दोषदं प्रोक्तं पञ्चमध्ये$_{5}$ न शोभनम् ॥ 11 ॥

अब शिखर निर्माण विषयक विमर्श किया जा रहा है। शिखर के नीचे के दोनों कोने के विस्तार का दस भाग किए जाकर उसमें से शिखर के ऊपर के स्कंध का फैलाव छह भाग रखा जाए। यदि इसका विस्तार छह भाग से ज्यादा रखा जाए तो दोषकारण सिद्ध होता है तथा पाँच भाग से कम रखने पर शिखर शोभायुक्त नहीं लगता है।

विशेष द्रष्टव्य- कलानिधि। शिखर संरचना पर सूत्रधार मण्डन के पुत्र सूत्रधार गोविन्द ने 'कलानिधि' का प्रणयन किया है। मैंने इसका हाल ही संपादन किया है। उसमें विस्तार से शिखर के लिए आवश्यक प्रावधान, निर्देश हैं। गोविन्द ने इसे मुख्य रूप से अपराजितपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, प्रासादमण्डन, जयपृच्छा, क्षीरार्णव, विवेककल्पलता जैसे ग्रंथों के आधार पर तैयार किया था। भारतीय स्थापत्य में नागर, वेसर, द्राविड जैसे प्रासादों के शिखर विधान के सम्बन्ध में मध्यकाल तक जो तकनीकी प्रचलन में थी, उसे इस ग्रंथ में कई विशेषताओं के साथ गूंथा गया है। आकार में यह लघुकाय है किंतु इसके विषय की विराटता को इसकी भूमिका में समझा जा सकता है। शिखर में कला-रेखादि ज्ञान निश्चय ही कठिन है और गोविन्द ने इसे परिभाषित करने का उपक्रम किया है।

आदौदयभेदोद्भवरेखा-

सपादं शिखरं कार्यं सकर्णं शिखरोदयम्।

सपादकर्णयोर्मध्ये रेखाः(उदये ?) स्युः पञ्चविंशतिः$_{25}$ ॥ 12 ॥[१]

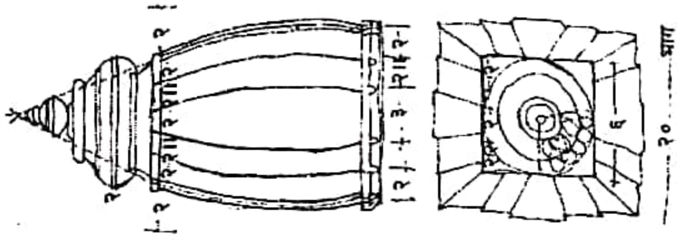
शिखर विधान में यह आवश्यक है कि मूलरेखा के विस्तार से शिखर का उदय मान सवाया रखा जाए। इसमें दोनों ही कर्णों के बीच पच्चीस रेखाएँ उद्भूत होती है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में है। कलानिधि में भी यह प्राप्य है। किञ्चित पाठांतर है- सव्यासं शिखरं कार्यं सकलाः शिखरोदयः। व्यासस्य कर्णयोर्मध्ये सङ्ख्यायाः पञ्चविंशति ॥ 4, 1 अपराजित में यह इस रूप में हैं- सव्यासं शिखरं कार्यं सकलः शिखरोच्छ्रयः। व्यासस्य कर्णयोर्मध्ये द्विघ्नं चैव त्रिभिर्हताः ॥ (141, 1)

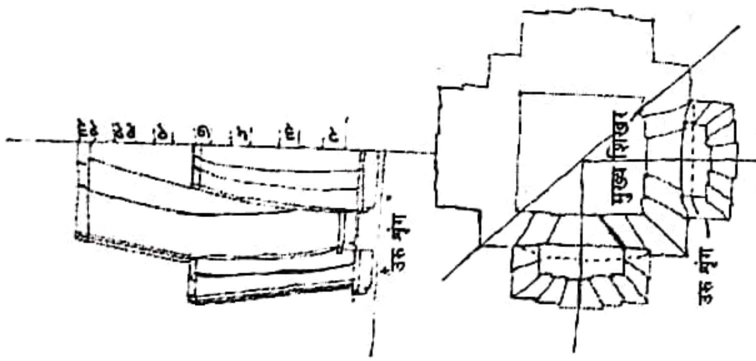
अपराजितकार ने इन रेखाओं के नाम भी दिए हैं, जिसे गोविंद ने भी उद्धृत किया है- नामानि कथयिष्यामि सव्यासादेर्यथाक्रमात् (क्रमम् ?)। सव्यासा शोभना भद्रा सुरूपा सुमनोरमा ॥ 2 ॥ शुभा चैव (सुतश्चैव ?) तथा शान्ता कौबेरी च सरस्वती। कौंला च करवीरा च कुमुदा पद्मिनी तथा ॥ 3 ॥ कनका विकटा चैव (रम्या च) रमणी तथा। वसुन्धरा तथा हंसी विशाखा नन्दिनी (मंदिनी ?) तथा ॥ 4 ॥ जया च विजया चैव सुमुखा च प्रियानना। इत्येताः (प्रत्येताः ?) कीर्तिता रेखाः सङ्ख्या पञ्चविंशति ॥ 5 ॥ उदयभेदोद्भवा रेखाः सपादकर्णमध्यतः। (4, 2-5)

---

१. पण्डित भगवानदास के पाठ में 'उदये' पाठ के कारण अन्तिम पङ्क्ति को पुनः लिखकर 'प्रोक्ता' पङ्क्ति को मिलाते हुए पृथक् श्लोक बना लिया गया है।



शिखर का निर्माण



उरु शृंग की रचना

कलाभेदोद्भवरेखा-

प्रोक्ता रेखा(: ?) कलाभेदैर्वलनैः पञ्चविंशतिः$_{25}$ ।

पञ्चादि$_{5}$नंद(नव ?)युग्मान्तं खण्डानि तेष्वनुक्रमात् ।

अंशवृद्ध्या कलाः कार्या दैर्ध्ये स्कन्धेऽपितत्समा(: ?) ॥ 13 ॥

शिखर के उदय का पाँच से लेकर उनतीस खंड करें । उन खंडों में अनुक्रमानुसार एक-एक कला उदय में बढ़ाई जाए। यथा- पहले पाँच खण्डों में एक से पाँच कला, छठे में छह और सातवें में सात, आठवें में आठ इस प्रकार उनतीसवें खण्ड में उनतीस कला होती है। इस प्रकार उदय में जितनी कला हो, उसी अनुपात में स्कन्ध में कला संख्या रखी जानी चाहिए।

इस श्लोक की प्रथम पङ्क्ति अपराजितपृच्छा में इस रूप में हैं- सूत्ररेखोच्छ्रिता रेखा सङ्ख्यायां पञ्चविंशतिः । (तथैव 2)

अष्टा$_{18}$दावष्टषष्ट्यन्तं$_{68}$ चतुर्वृद्ध्या तु षोडशम्$_{16}$ ।

दैर्घ्यतुल्याः कलाः स्कन्धे एकहीनांशोऽशोभनम्(हीनास्तुषोडश ?) ॥ 14 ॥

इस प्रकार कला रेखाओं का जो समचार बनता है, उसमें पहले समचार की त्रिकखण्डाओं में आठ-आठ कला रेखा होती है। पीछे एवं आगे के समस्त खंडों में चार-चार कलाओं की वृद्धि करने से अठारहवें खंड में अड़सठ कला रेखाएँ हो जाती है। यहाँ भी ज्ञातव्य है कि उदय की कला रेखा के अनुपात में ही स्कंध में भी रेखाएँ रखी जानी चाहिए। इसमें एक भी यदि न्यून रेखा हो तो समचार बिगड़ जाता है व शिखर शोभायमान नहीं बनता।

पञ्चखण्डारेखा का निर्देश गोविंद ने इस प्रकार दिया है- पञ्चखण्डादौ(दि ?) खण्डद्व्यर्विदेकोनत्रिंशतिः ॥ खण्डचारे कला ज्ञेया अङ्कवृद्धि क्रमेण तु (च ?)। पञ्चखण्डे कलाश्चैव सङ्ख्यया दशपञ्च च॥ एकोनत्रिंशे पञ्च त्रिंशदुत्तरं चतुःशतम्। चन्द्रकल्पा कलावती कलधौता च रुधिरा। नलिनी माला(मालिनी ... ?) कमला दुन्दुभिर्वनवेल्लिका॥ रत्नतूला वृन्दारका त्रिशिखा नन्ददाक्षकाः। कौमोदिनी नयनं चक्रान्मत्ताक्षा शुचि शालया॥ भ्राम्या वलिता मृगाक्षी द्वीपिन्या शशि कौमुदी। मञ्जरी पूर्णमाहेंद्री पताकाक्षा प्रकीर्तिताः॥ परात्रैलोक्य मोहिन्या विजया चैव नाम तु। पञ्चविंशति ते भेदाः कलारेखा इमे शुभाः॥ पूर्वोक्ताः खण्डवृद्ध्या च ज्ञेया रेखामनेकधा। नानाभेदाः समाख्याताः सर्वकामफलप्रदाः ॥ (4, 6-12)

अपराजितपृच्छा में पाठ इस प्रकार हैं- पञ्चखण्डादौ खण्डद्व्यां एकोनत्रिंशकावधि। एकद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टक्रमोद्गताः। अनेन क्रमयोगेन एकोनत्रिंशकावधि॥ तथैव 7-8 इनके नाम इस प्रकार हैं- रत्नचूला वृंदारका त्रिशिखा नन्दा कौमुदी। नयना चक्रा चोन्मत्ता विशाला विभ्रमा लता॥ मृगाक्षी द्वीपिनी शशी कौमुदी मञ्जरी तथा। पूर्णरम्या च माहेन्द्री कीर्तिपताका तत्परे॥ त्रैलोक्यविजया चैव नामभिः पञ्चविंशतिः। कलारेखाः समाख्याताः सर्वकामफलप्रदाः ॥ (तथैव 11-13)

अथ रेखाचक्रम्-

ऊर्ध्वा अष्टादशांशा$_{18}$(: ?) स्यु-स्तिर्यक् षोडश$_{16}$ एव च।

चक्रेऽस्मिञ्च(चक्रोस्मिन् ?) सम्भवत्येव रेखाणां षट्शरद्वयम्$_{256}$ ॥ 15 ॥

शिखर के उदय में अठारह ऊर्ध्व तथा सोलह तिर्यक् रेखाएं विद्यमान होती है। इस प्रकार का चक्र बनाने से दो सौ छप्पन रेखाएँ बनती है।

रेखाचक्र के लिए विश्वकर्मीयज्ञानरत्नकोश में स्पष्ट किया गया है कि एक ओर के कोण का दो भाग करें। उनमें से पहले भाग का चार तथा द्वितीय भाग का तीन भाग करने से सात कला रेखा होती है। इसी प्रकार दूसरी ओर के कोण की भी सात कला रेखाएँ निष्पन्न होती है। इस प्रकार की कुल चौदह कला रेखाओं में दोनों ही प्रतिकर्ण की दो कलाओं को युक्त किए जाने से सोलह कला रेखाएँ होती है तथा इनके उदय में सोलह-सोलह भाग किए जाने से कुल 256 कला रेखाएँ उद्धृत हो जाती है- आदिकोणं द्विधा कृत्य प्रथमं वेदभाजितम्॥ द्वितीयं तु त्रिभिर्भागैरेवं सप्तकला भवेत्। उदयं द्व्यष्टभिर्भागैः कृत्वा रेखां समालिखेत्॥ ऊर्ध्वतिर्यग् भागानां भागे भागे तु लाञ्छयेत्। एवं तु सिध्यते रेखा भद्रे कोणे तथानुगे॥

प्रथमसमचारेत्रिखण्डाकलारेखा-

त्रिखण्डात्$_3$(त्रिषष्ठात्?) खण्डवृद्धिश्च यावदष्टादशैव$_{18}$ हि (तु?)।

एकैकांशे कलाऽष्टौ$_8$ च समाचारस्तु (श्च, यस्य?) षोडश$_{16}$ ॥ 16 ॥

अब त्रिखण्डा कला रेखाओं के प्रथम समचार के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि त्रिखंड से लेकर एक-एक खंड को बढ़ाया जाकर अठारह खंड बनाए जाएँ। प्रथम प्रत्येक त्रिखंड में समचार की आठ-आठ कला रेखाएँ होती है। इस प्रकार कलारेखाओं के सोलह समचार होते हैं।

इस सम्बन्ध में गोविन्द ने विवेककल्पलता नामक किसी ग्रंथ से निम्न श्लोक उद्धृत किए हैं जिसमें त्रिखण्ड के समचार की रेखाओं व सोलह चार का विवरण दिया गया है। इन रेखाओं के नाम भी दिए गए हैं- त्रिखण्डादौ: खण्डवृद्ध्या यावत्खण्डान्यष्टादशः। समचाराः शशिन्याद्याः रेखाः स्युः षोडशोदिताः॥ तास्वष्टाद्यष्टषष्ट्यन्तं चतुर्वृद्ध्या क्रमात् कलाः। शशिनीशान्ति लक्ष्मिणी(लक्ष्मीः ?) कामिनीपुष्पिता शुभा॥ शान्ता आल्हादा(हिर्लादा?) कुमुदा शाश्वता शशिनी तथा। विद्याशोधनिका नन्दा द्वीपिनी सौम्यकाऽमृताः॥ एषां (आसां?) पृथक्-पृथक् भेदाच्चार छन्देन षोडशः। त्रिचतुःपञ्चखण्डाद्याः प्रत्येक मिति षोडश॥ (5, 1-4)

द्वितीयसपादचारत्रिखण्डाकलारेखा-

द्वितीयप्रथमे खण्डे कलाष्टौ$_8$ द्वितीये नवा$_9$।

तृतीये दशखण्डेषु$_{10}$ शेषेषूर्ध्वेष्वयं क्रमः(क्रमात्) ॥ 17 ॥

द्वितीय सपादचार होने पर प्रथम खंड में आठ, द्वितीय खंड में नौ तथा तृतीय खंड में दस कला रेखा बनाई जानी चाहिए। ऐसे अन्य चारों में भी इसी क्रम रेखाओं का निर्धारण किया जाना चाहिए।

तृतीयसार्द्धचारत्रिखण्डाकलारेखा-

अष्ट$_8$ दिक्$_{10}$ सूर्य$_{12}$ भागैश्च त्रिखण्डा$_3$ तृ(त्रि?)तीया भवेत्।

अनेन क्रमयोगेन कोष्ठानङ्कैः (ः?) प्रपूरयेत्॥ 18 ॥

इसी प्रकार तृतीय सार्धचार होने पर प्रथम खंड में आठ, द्वितीय खंड में दस तथा तृतीय खंड में बारह कला रेखा बनाई जाएँ। इसी क्रम से दूसरे चारों के कोठे को अङ्कों से पूर्ण किया जाना चाहिए।

कला रेखाओं में सोलह प्रकार के चारों का विस्तृत विवरण भुवनदेवाचार्य ने अपराजितपृच्छा में दिया है। इसके अनुसार प्रथम चर समसंज्ञक या बराबर, द्वितीय सपाद या सवाया, तीसरा सार्द्ध या डेढ़ा, चौथा पौने दो, पाँचवां दोगुना, छठा सवा दो गुना, सातवाँ ढाईगुना, आठवाँ पौने तीन गुना, नवा तीन गुना, दसवां सवा तीन गुना, ग्यारहवां साढ़े तीन गुना, बारहवां पौने चार गुना, तेरहवां चार गुना, चौदहवां सवा चार गुना, पंद्रहवां साढ़े चार गुना तथा सोलहवां पौने पाँच गुना होता है- समः सपादः सार्द्धश्च पादोनो द्विगुणस्तथा॥ द्विगुणश्च सपादो द्वौ सार्द्धौ पादोनकास्त्रयः। त्रिगुणोऽथ सपादोऽसौ सार्धः पादोनवेदकः॥ चतुर्गुणः सपादोऽसौ सार्धः पादोनपञ्चकः। इति षोडशधा चारं त्रिखण्डाद्यास्तु लक्षयेत्॥ 139, 15-17, विशेष द्रष्टव्य- अपराजितपृच्छा तथा कलानिधि।

रेखासङ्ख्या-

रेखाणां जायते सङ्ख्या षट्पञ्चाशच्छतद्वयम्$_{256}$।

दैर्घ्ये भवति यावत्यः कला(: ?) स्कन्धेऽपि तत्समाः ॥ 19 ॥

इस प्रकार सोलह तरह के कलाचारों के भेदों से प्रत्येक त्रिखंडादि में सोलह-सोलह रेखाएं उत्पन्न होती हैं। इसी कारण रेखाओं की कुल संख्या दो सौ छप्पन होती है। शिखर के उदय में जितनी कला रेखाएँ प्रकट हो, उतनी ही स्कंध में बनाई जानी चाहिए।

सव्यासं शिखरं कार्यं सकर्णं शिखि(ख?)रोदयम्।

व्यासस्य कर्णयोर्मध्ये रेखाः स्युः पञ्चविंशतिः ॥ 20 ॥[१]

इति रेखानिर्णयः।

शिखर के कार्य को व्यास मान से तथा शिखरोदय को सकर्णमानानुसार करना चाहिए। व्यास के कर्णमध्य में जो रेखाएँ होती हैं, उनकी संख्या पच्चीस होती है।

त्रिखण्डारेखाचक्र-

क्रम संख्या	चार की संज्ञा	रेखा की संज्ञा	कुल कला	प्रथमखंड की कला	द्वितीयखंड की कला	तृतीयखंड की कला
1.	समचार 8 × 1 = 8	शशिनी	24	8	8	8
2.	सपादचार 8 × 1। = 8	शीतला	27	8	9	10
3.	सार्द्धचार 8 × 1॥ = 12	सौम्या	30	8	10	12
4.	पादोनद्वयचार 8 × 1॥। = 14	शान्ता	33	8	11	14
5.	द्विगुणचार 8 × 2 = 16	मनोरमा	36	8	12	16
6.	सपादद्विगुणचार 8 × 2। = 18	शुभा (उमा)	39	8	13	18
7.	सार्द्धद्विगुणचार 8 × 2॥ = 20	मनोभवा	42	8	14	20
8.	पादोनत्रयचार 8 × 2॥। = 22	वीरा	45	8	15	22
9.	त्रयचार 8 × 3 = 24	कुमुदा	48	8	16	24
10.	पदाधिकत्रयचार	पद्मशेखरा	51	8	17	26

१. यह श्लोक मातृका 'क', जयपुर पाठ में नहीं हैं किंतु कोलकता पाठ में दिया गया है, यहाँ संपादक की टिप्पणि है- श्लोकोयमेकत्र पुस्तके न दृश्यते। यह 12वें श्लोक का ही दोहरान लगता है।

	8 × 3। = 26					
11.	सार्द्धत्रयचार 8 × 3॥ = 28	ललिना (ललिता)	54	8	18	28
12.	पादोनचतुष्कचार 8 × 3॥। = 30	लीलावती	57	8	19	30
13.	चतुर्गुणचार 8 × 4 = 14	त्रिदशा	60	8	20	32
14.	सपादचतुष्कचार 8 × 4। = 34	पूर्णमण्डला	63	8	21	34
15.	सार्द्धचतुष्कचार 8 × 4॥ = 36	पूर्णभद्रा	66	8	22	36
16.	पादोनपञ्चकचार 8 × 4॥ = 38	भद्राङ्गी	69	8	23	38

चतुष्खण्डारेखाचक्र-

क्रम	चार की संज्ञा	रेखा की संज्ञा	कुल कला	प्रथमखंड की कला	द्वितीयखंड की कला	तृतीयखंड की कला	चतुर्थखंड की कला
1.	समचार 12 × 1 = 12	शान्तिनी	48	12	12	12	12
2.	सपादचार 12 × 1। = 15	शुभा	54	12	13	14	15
3.	सार्द्धचार 12 × 1॥ = 18	शान्ता	60	12	14	16	18
4.	पादोनद्वयचार 12 × 1॥। = 21	त्रिदिवा	66	12	15	18	21
5.	द्विगुणचार 12 × 2 = 24	देवदुर्लभा	72	12	16	20	24
6.	सपादद्विगुणचार 12 × 2। = 27	वीभत्सा	78	12	17	22	27
7.	सार्द्धद्विगुणचार 12 × 2॥ = 30	शिवा	84	12	18	24	30
8.	पादोनत्रयचार 12 × 2॥। = 33	सौम्या	90	12	19	26	33

9.	त्र्यचार 12 × 3 = 36	वीरभद्रा	96	12	20	28	36
10.	पदाधिकत्र्यचार 12 × 3 I = 39	नारायणी	102	12	21	30	39
11.	सार्द्धत्र्यचार 12 × 3 II = 42	सुषिरा	108	12	22	32	42
12.	पादोनचतुष्कचार 12 × 3 III = 45	शेखरा	114	12	23	34	45
13.	चतुर्गुणचार 12 × 4 = 48	रम्या	120	12	24	36	48
14.	सपादचतुष्कचार 12 × 4 I = 51	पूर्णा	126	12	25	38	51
15.	सार्द्धचतुष्कचार 12 × 4 II = 54	पूर्णभद्रिका	132	12	26	40	54
16.	पादोनपञ्चकचार 12 × 4 III = 57	विजया	138	12	27	42	57

मण्डोवरशिखरोदयमानं-

विंशद्धिर्विभजेद्धागैः शिलान्तः कलाशान्तकं (शिलातः कलशांतक ?)।

मण्डोवरोऽष्टसार्द्धाष्टनवांशै(: ?)शिखरोदयम् (शिखिरोदयं ?) ॥ 21 ॥

खरशिला से कलश के अन्त भाग पर्यंत उदय के बीस भाग किए जाएँ। इसमें से आठ, साढ़े आठ या नौ भाग का मंडोवर का उदय रखा जाए। इस प्रकार क्रम से ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ मान के मंडोवर का उदय होता है। अन्य जो भाग रह जाए, उतने उदय का शिखर बनाया जाए।

यह मान भुवनदेवाचार्य के मत से हैं- मूलशिलात उदये प्रासादे कलशान्तके॥ भागे विभक्ते विंशत्या अधऊर्ध्वं प्रकल्पयेत्। अष्टभागोदयो ज्येष्ठः सार्द्धमष्टौ च मध्यमः॥ कनिष्ठो नवभिर्भागैस्त्रिधा मण्डोवरो मतः। शेषा ये ऊर्ध्वभागास्तैः कर्तव्यः शिखरोदयः॥ इदं मानं समुद्दिष्टं प्रोक्तं वै वास्तुवेदिभिः। (138, 27-30)

अथ शिखरविधानं-

रेखा मूलस्य विस्तारात् पद्मकोशं समालिखेत्।

चतुर्गुणेन सूत्रेण सपादः शिखरोदयः(शिखिरोदयं ?) ॥ 22 ॥

मूलरेखा के फैलाव से चार गुना सूत्र से दोनों कोने के मूल बिन्दु से दो गोल बनाए जाएँ। इसके दोनों गोल के स्पर्श से कमल की पँखुड़ी के समान आकृति वाला पद्मकोश बनता है। उसमें दोनों कोनों के मध्य विस्तार से सवाया शिखर का उदय रखा जाना चाहिए।

सूत्रधार गोविंद ने कलानिधि में इस श्लोक को इस रूप में उद्धृत किया है- चतुर्गुणेनसूत्रेण रेखामूलस्य विस्तरात्। पद्मकोशं समालिख्य सपादः शिखरोदयः॥ (6. 28)

ग्रीवाऽमलसारमानं-

स्कन्धकोशान्तरे सप्त भक्ते ग्रीवा तु भागतः (भारतः ?)।

सार्द्धमामलसारश्च पद्मपत्रन्तु(पद्मच्छत्रं!) सार्द्धकम् ॥ 23 ॥

पूर्वोक्तानुसार यदि शिखर का उदय सवाए मान से रखें तो जो पद्मकोश का उदय शेष रहता है, उसमें स्कंधकोश के अनन्तर ग्रीवा, आमलसार व कलश बनाएँ। उदाहरण स्वरूप- शिखर के स्कंध से पद्मकोश के अन्त्य बिन्दु तक के उदयमान के सात भाग किए जाकर उनमें से एक भाग की ग्रीवा, डेढ़ भाग को आमलसार, डेढ़ भाग का पद्मपत्र (पद्मच्छत्र या चन्द्रिका ?) रखा जाना चाहिए।

यह श्लोक अल्पभेद से कलानिधि में भी उद्धृत है- स्कन्धकोशान्तरे सप्तभक्ते ग्रीवा तु भागतः। सार्धेनामलसारेण पद्मछत्रं तु सार्धतः॥ (तथैव 29)

कलशप्रमाणम्-

त्रिभाग उच्चकलशो द्विभागस्तस्य विस्तरम्(विसरम् ?)।

प्रासादस्याष्टमांशेन पृथुत्वं कलशाण्डकम्(कलशांतकम् ?) ॥ 24 ॥

इसी प्रकार तीन भाग का कलश बनाया जाए। द्विभाग मान से कलश का विस्तार रखा जाना चाहिए। कलश के अंडक का पृथुत्व प्रासाद के विस्तार का आठवें भागानुसार रखा जाना उचित होता है।

अथ शुकनासिका–

छाद्यतः(च्छांद्यतः ?) स्कन्धपर्यन्त-मेकविंशति$_{21}$ भाजिते।

अङ्क$_9$-दिक् $_{10}$-रुद्र$_{11}$ सूर्यांशै$_{12}$ विश्वांशै$_{13}$ स्तस्य चोच्छ्रुति(यः ?) ॥ 25 ॥

देवालय के शिखराङ्ग के रूप में शुकनासिका के निर्माण के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि छाद्य से शिखर के स्कंध तक के उदय का इक्कीस भाग किए जाकर उनमें से नौ, दस, ग्यारह, बारह अथवा तेरह भाग तक शुकनास का उदय रखा जाए।

अत्रैव सिंहस्थाने–

शुकनासस्य संस्थानेच्छाद्योर्द्ध्वे पञ्चधा$_5$ मतम्।

एक$_1$ त्रि$_3$ पञ्च$_5$ सप्ता$_7$ ङ्क$_9$ सिंहस्थानानि कल्पयेत्॥ 26 ॥

छाद्य के ऊपर शुकनास का उदय पाँच तरह का माना गया है। इनमें से शुकनास के उदय का जो मान लब्ध हो, उसके नौ भाग किए जाकर उनमें से एक, तीन, पाँच, सात या नौ इन पाँच भागों में से किसी भी भाग में सिंह स्थान या व्याघ्रमुख को परिकल्पित किया जा सकता है।

अन्तिम पङ्क्ति अपराजितपृच्छा में इस प्रकार है– एकत्रिपञ्चसप्ताङ्कसिंहस्थानानि कारयेत्।[१]

षड्विधाकपिल्यानिमाह–

द्वारस्य दक्षिणे वामे कपिलि(: ?)षड्विधा$_6$ मता।

तदूर्ध्वे शुकनासा स्यात्सैव(स्याच्छैवे, स्पशैंव ?) प्रासादनासिका ॥ 27 ॥

(देवालय में गर्भगृह के द्वार के मण्डप की संज्ञा कोली या कपिली मण्डप है। इसकी रचना के लिए) गर्भगृह के द्वार के उपर दक्षिण व वाम भाग में छह नामाभिधान वाली कोली के निर्माण का विधान है। उसकी ऊँचाई में शुकनास बनाया जाए, यही प्रासाद की नासिका मानी गई है।

कपिल्यामानं–

प्रासादो दशभागश्च$_{10}$ द्वि$_2$ त्रि$_3$ वेदांश$_4$ सम्मिताः।

१. सूत्र 138, 15

प्रासादार्द्धपादेन त्रि$_3$ भागेनाथ निर्मिता ॥ 28 ॥

प्रासाद के विस्तार के दस भाग किए जाकर उसमें से दो, तीन अथवा चार भाग की और प्रासाद के मान से आधे, चौथे या तीसरे भाग के मान की– इस प्रकार छह प्रकार के मान से कपिली को निर्मित किए जाने संबंधी विधान है।

भुवनदेवाचार्य ने अञ्चिता, कुञ्चिता व शस्या कपिलियों को क्रमशः दो, तीन व चार भाग की बताई है जबकि मध्यस्था, भ्रमा व सभ्रमा कपिलियों को शेष तीन प्रकार की कहा है। इनके निर्माण का मान ही मण्डन के लिए स्वीकार्य रहा है– अञ्चिता कुञ्चिता शस्या त्रिधोदितक्रमागता। मध्यस्था भ्रमा सभ्रमा षटकोल्यः परिकीर्तिताः॥ प्रासादे दशधा भक्ते भूमिसीमा विचक्षणः। अञ्चिता च द्विभागा स्यात् त्रिभागा कुञ्चिता तथा॥ शस्या चैव चतुर्भागा त्रिधा चोक्तक्रमागता। ... . प्रासादपदमध्यस्था भ्रमा सद्यत्रिभागतः। अर्धे तु सभ्रमा कार्या प्रासादस्य प्रमाणतः॥ अग्रे कोली कपोलं तु शुकनासस्तु नासिका। सान्धारे स्तम्भरेखा च कर्तव्या मध्यकोष्ठके॥ (138, 16–20)

अण्डकाभूषणञ्च–

शृङ्गो-रुशृङ्ग-प्रत्यङ्गैः अण्डकान् गणयेत्सुधीः(गणयेदण्डानि च ?)।

तवङ्गं तिलकं कर्णी कुर्यात्प्रासादभूषणम्॥ 29 ॥

शिखर पर शृङ्ग, उरुशृङ्ग एवं प्रत्यङ्ग– इन सभी को प्रासाद का अण्डक माना जाता है, इस प्रकार विद्वानों का मानना है। तवङ्ग, तिलक तथा सिंहकर्ण– इन सभी को प्रासाद का आभूषण माना जाता है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा के मतानुसार है– शृङ्गोरुशृङ्गप्रत्यङ्ग गणयेदण्डकानि च॥ सिंहकर्णे तवङ्ग तिलकं प्रासादभूषणम्। कर्णे रथं प्रतिरथं सुभद्रं प्रतिभद्रकम्॥[१]

शिखरनमनभाग–

दशांशे$_{10}$ शिखरे मूले अग्रतन(अग्रतत्र ?) नवांशके$_9$।

सार्द्धांशकौ रथौ कोणौ द्वौ शेषं भद्रमिष्यते(मश्रुते ?) ॥ 30 ॥

१. वही 21–22

शिखर के मूल में दस भाग तथा ऊपर स्कंध के नौ भाग किए जाकर उसमें डेढ़-डेढ़ भाग के दो प्रतिरथ तथा दो-दो भाग के दोनों कोने बनाए जाएँ। शेष जो तीन भाग नीचे तथा दो भाग ऊपर बचे हैं, उस मान का भद्र बनाया जाए।

अथामलसारकमानं-

रथयोरुभयोर्मध्ये वृत्तमामलसारकम्।

उत्सेधो(उच्छ्रयो ?) विस्तरार्द्धेन चतुर्भा$_4$गैर्विभाजयेत्॥ 31॥

अब शिखर पर स्थापेय आमलसारक के मानादि पर कहा जा रहा है। दोनों प्रतिरथों के बीच विस्तार के मान का वृत्ताकार आमलसार बनाएँ। आमलसारक का उत्सेध या उसकी ऊँचाई को उसके विस्तार की अपेक्षा आधी रखें। इसके बाद उत्सेध या उदय को चार भागों में बांटे।

ग्रीवा चा(या ?)मलसारश्च पादोनश्च$_{III}$(थ ?) सपादकम्$_{1I}$।

चन्द्रिका भागमानेन$_1$ भागेनामलसारिका॥ 32॥

उक्त प्रकार से चार भागों में से पौन भाग की ग्रीवा, सवा भाग का आमलसार, एक भाग की चन्द्रिका तथा एक भाग की आमलसारिका बनाना चाहिए।

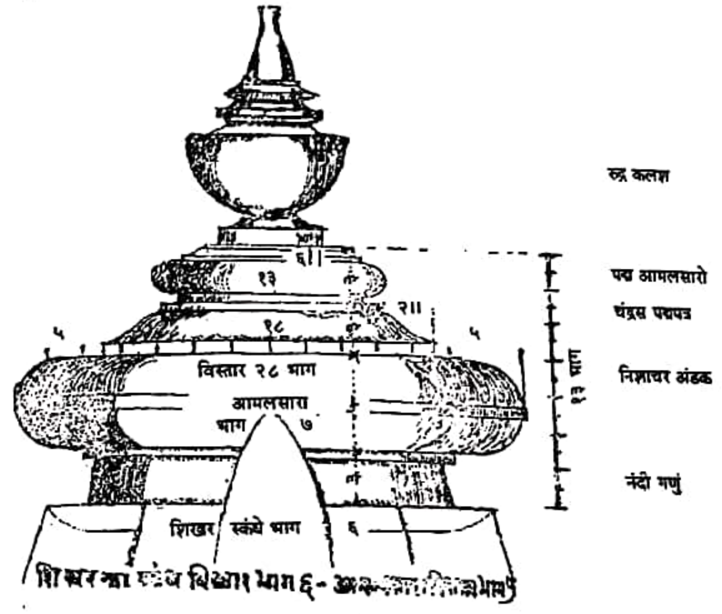
अत्रैव स्वर्णपुरुषेनस्थापनक्रम-

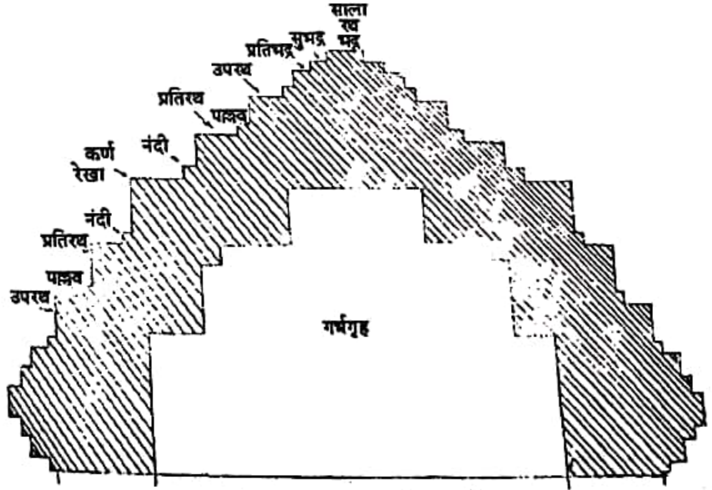
घृतपात्रं न्यसेत्मध्ये(न्यासेनमध्ये ?) ताम्रपात्रं सुवर्णजम्।

सौवर्णं(सुवर्णं ?) पुरुषं तत्र तुलीपर्यङ्कशायिनम्॥ 33॥

अब शिखर पर आमलसार के मूल में स्थापेय स्वर्णपुरुष के विषय में कहा जा रहा है। आमलसार के गर्भ में घी से भरा हुआ सोना, चांदी या तांबे का कलश स्वर्ण पुरुष के समीप रखा जाए, साथ ही चांदी या चन्दन का पलङ्ग रखकर उसके उपर रेशम की शय्या बिछाकर स्वर्ण पुरुष का शयन उस पर कराया जाए।

इसे प्रासाद का मर्मस्थान माना गया है, इसलिए उक्त विधि का प्रयोग उचित दिवस पर वास्तु पूजन करके किया जाए। गोविंद ने इसकी प्रतिष्ठा की विधि दी है- अथ हृदयप्रतिष्ठा- सार्वदैविक्यां हृत्प्रतिष्ठा देशिकोमूर्तिपैः सार्धवास्तु पूजा विधाय दिक्पाल-ग्रह-देवताः सम्पूज्यमूलमन्त्रेण सहस्त्रं हुत्वा कुम्भमादाय सर्पि-दधि-मधु-क्षीर-पायसैः पूरयित्वा पञ्चरत्नानिक्षिप्याङ्गुष्ठमात्रं सौवर्ण पुरुषं पञ्चकषायोदकेन पञ्चपल्लवोदकेन सर्वोषध्युदकेन स्नापयित्वा कुम्भमध्येतं मूल मन्त्रेण प्रक्षिपेत्।





गर्भगृह बाह्यतल इंद्र अंगोपांग

कुम्भमामलसारिकाया अधोवेदिको परिस्थापयेत्। तत्पार्श्वे सतूलकगेंदुकांखट्वा क्षिपेत्। पश्चादृत्विग्भिः सार्धंमाचार्य पूजयेच्छिल्पिन च इति हृदय प्रतिष्ठा। 7वाँ प्रकाश

स्वर्णपुरुषस्यमानोपदेशः

प्रमाणं पुरुषं सार्द्धाङ्गुलं कुर्यात् करं प्रति।

त्रिपताकं करे वामे हृदिस्थं दक्षिणं करम्(दक्षिणाम्बुजम्?)॥ 34॥

प्रासाद पुरुष का प्रमाण प्रासाद के फैलाव के अनुसार प्रत्येक हाथ आधा-आधा अङ्गुल बढ़ाकर बताया गया है या एक हाथ के प्रासाद में आधा अङ्गुल, दो हाथ के प्रासाद में आधा अङ्गुल, दो हाथ के प्रासाद में एक अङ्गुल, तीन हाथ के प्रासाद में डेढ़ अङ्गुल तथा चार हाथ के प्रासाद में दो अङ्गुल, इस तरह से प्रत्येक हाथ आधा-आधा अङ्गुल बढ़ाकर बनाया जाए। सवर्ण पुरुष के बायें हाथ में ध्वजा रखकर के यह छाती पर तथा दायीं हाथ कमलयुक्त रखा जाए।

गोविंद ने अपराजितपृच्छा के मतानुसार प्रासादपुरुष का मान दिया है- अथातः सम्प्रक्ष्यामि पुरुषस्य प्रवेशनम्। न्यसेद् देवालयेष्वेव जीवस्थान फलं भवेत्॥ छादनोप-प्रवेशेषु शृङ्गमध्येऽथवोपरि। शुकनासावसानेषु वेद्यूर्ध्वे भूमिकान्तरे॥ मध्यगर्भे विधातव्यो हृदावरणको विधिः। हंसतुलीं ततो कुर्यात्ताम्रपर्यङ्कसंस्थितं॥ शयनं चापि निद्दिष्टं(निद्रंवा?) पद्मं वै दक्षिणे करे। त्रिपताकं करं वामं कारयेद्धृदि संस्थितम्॥ प्रमाणं तस्य प्रासादे हस्तमानोर्ध मात्रकः। अर्धार्धाङ्गुलयावृद्ध्य यावद्च्छतार्धकम्॥ वृद्धिरर्धाङ्गुलाद्धस्ते यावन्मेरुं प्रकल्पयेत्। एवंविधं(पुरुषस्य?) प्रकर्त्तव्यं सर्वकामफलप्रदम्। हेमजं तारजं वापि ताम्रजं वापि भागशः॥ कलशे आज्यपूर्णे तु सौवर्णं पुरुषं न्यसेत्। पर्यङ्क पादगा (द्रिश्चत्वारस्युः)कुम्भाश्चत्वारस्यु सकाञ्चनाः॥ मुण्डित स्थापयेदेवं प्रासाद पुरुषं तुयः। दुःखं न संभवेत्तस्य यावदाभूत संप्लवं॥[१]

ध्वजादण्डस्थानानि-

प्रासादपृष्ठदेशे तु दक्षिणे प्रतिरथे (प्रतिरर्थके ?)।

ध्वजाधारस्तु कर्त्तव्या ईशान्ये(ईशाने ?) नैर्ऋतेऽथवा॥ 35॥

इति प्रासादस्योर्ध्वलक्षणम्।

१. (7, 1-8) तुलनीय सूत्र 153

प्रासाद के शिखर के पृष्ठभाग पर ध्वजाधार की रचना की जानी चाहिए। ध्वजादण्ड के आधार के रूप में ध्वजाधार को शिखर के पृष्ठभाग में दक्षिणी प्रतिरथ पर बनाएँ। यदि प्रासाद पूर्वाभिमुख हो तो ईशान तथा पश्चिमाभिमुख हो तो नैर्ऋत्य कोण में बनाना चाहिए।

कलशोत्पत्तिप्रसङ्ग-

क्षीरार्णवे(क्षीराणर्व ?) समुत्पन्नं प्रासादस्याग्रजातकम्।

माङ्गल्येषु च सर्वेषु कलशं स्थापयेद्बुधः॥ 36॥

पौराणिक काल में देवताओं को क्षीरसागर के मंथन से चौदह प्रकार के रत्नों की प्राप्ति हुई। इन रत्नों में एक कुम्भ भी उन्हें मिला था। इस पूर्ण कलश को शीर्ष पर रखने की परंपरा रही है। इसे ही प्रासाद के अग्रभाग (शिखर) पर स्थापित किए जाने की रीति है। अन्य विविध मांगलिक कार्यों में भी विद्वज्जनों द्वारा कलश को स्थापित किया जाता है।

कलशोदयमानं-

पूर्वोक्तमानतो ज्येष्ठः षोडशांशाधिको$_{16}$ भवेत्।

द्वात्रिंशदंशतो$_{32}$(दंतांशेनाथ ?) मध्यो नवांशोऽभ्युदयं भवेत्॥ 37॥[१]

(जैसा कि पूर्व के 23-24वें श्लोक में कहा गया है कि स्कंध से पद्मकोश के अन्तिम सिरे तक के उदयमान के सात भाग करें जिसमें से एक की ग्रीवा, डेढ़-डेढ़ भाग का आमलसार एवं पद्मपत्र या पद्मच्छत्र बनाएं और शेष तीन भाग का कलश बनाएं) उक्त तीसरे भाग में यदि उसमें 16वाँ भाग बढ़ाया जाए तो कलश ज्येष्ठमान का बनता है, दुगुना या 32वाँ भाग बढ़ाएँ तो मध्यमान के कलश का उदय होता है।

ग्रीवा-पीठं भवेद्भागं(गं ?) त्रिभागेनाण्डकं$_{3}$ तथा।

कर्णिके भागतुल्ये च त्रिभागं$_{3}$ बीजपूरकम्॥ 37॥

इसी प्रकार जो उदय प्राप्त हो उसका नवा भाग किया जाकर उसमें से एक भाग की ग्रीवा तथा पीठ, तीन भाग का अंडक, दोनों कर्णिका (एक छाद्य एवं एक कणी) एक-एक भाग तथा तीन भाग का बीजपूरक उदय में रखा जाना चाहिए।

१. इस श्लोक की अन्तिम पङ्क्ति इस रूप में भी मिलती है- तावदंशोनः कनियो मध्येथ नवांशेरुदयं भजेत्॥

कलशस्यविस्तार:

एकांश$_1$मग्रे द्वौ$_2$ मूले वह्नि$_3$वेदांश$_4$ कर्णिका(कर्णिके ?)।

ग्रीवा द्वौ$_2$ पीठमर्धं$_{II}$ द्वौ$_2$ षड्भागं$_6$ विस्तराण्डकम् ॥ 38 ॥ इति कलश:।

बीजपूरक के आगे के भाग का पृथुत्व एक भाग तथा मूल भाग का पृथुत्व दो भाग, उपर की कणी का पृथुत्व तीन भाग, नीचे की कणी का विस्तार चार भाग, ग्रीवा का पृथुत्व दो भाग, अर्द्धपीठ का व्यास दो भाग तथा कलश के उदर अथवा अण्डक के विस्तार को छह भाग रखना चाहिए।

ध्वजदण्डस्योदयमान–

दण्ड: सूत्रस्तृतीयांश:$_3$(कार्यस्तृतीयांश: ?) शिलात: कलशान्तकम्।

मध्येऽष्टांशेन$_8$ हीनोऽसौ ज्येष्ठपादोन: कन्यस: ॥ 39 ॥

शिखर पर स्थापेय ध्वजदण्ड के उदयमान के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि प्रासाद की खरशिला से लेकर कलश के अग्र भाग की ऊँचाई तक के तीन भाग करें और उसके एक भाग की लम्बाई का ध्वजदण्ड रखना चाहिए। यह ज्येष्ठ मान का ध्वजदण्ड होता है। इसमें से अष्ठम और चतुर्थ भाग का ध्वजदण्ड बनाए जो क्रमश: मध्यमान और कनिष्ठमान का ध्वजदण्ड कहा जाता है।

अपराजितपृच्छा में कहा गया है– आदिशिलाद्भवं मानं ऊर्ध्वे च कलशान्तिके। तृतीयांशे प्रकर्तव्यो ध्वजादण्ड: प्रमाणत: ॥ अष्टमांशे ततो हीने मध्यमं शुभलक्षणम्। कनिष्ठं तद्भवेद्दण्डं ज्येष्ठत: पादवर्जितम् ॥[1]

अथ दण्डप्रमाणभेदे मतान्तरम्–

प्रासाद पृथु(व्यास ?)मानेन दण्डो ज्येष्ठ:(दण्डमान: ?) प्रकीर्तित:।

मध्यो(मध्ये ?) हीनो दशांशेन$_{10}$ पञ्चमांशेन$_5$ कन्यस: ॥ 40 ॥

ध्वजदण्ड का एक अन्य मान भी है। इसके अनुसार प्रासाद की स्थूलता (व्यासमान) के समान ध्वजदण्ड की लम्बाई बनाई जाए तो उसे ज्येष्ठमान का ध्वजदण्ड कहा गया है। इस ध्वजदण्ड में से यदि दशमांश कम करें तो मध्यमान तथा पञ्चमांश कम करें तो कनिष्ठमान का ध्वजदण्ड बनता है।

१. सूत्र 144, 4–5

यह मत अपराजितपृच्छा के अनुसार है। तुलनीय है– प्रासादपृथुमानेन ध्वजादण्डं तु कारयेत्। मध्यमं दशमांशोनं कनिष्ठं चोनपञ्चमम् ॥ मूलरेखाप्रमाणेन ज्येष्ठ: स्याद्दण्डसम्भव: । मध्यमं द्वादशांशोनं षडंशोनं कनिष्ठकम् ॥[1]

ध्वजदण्डस्यविस्तार:

एकहस्ते$_1$ तु प्रासादे दण्ड: पादोनमङ्गुलम् $_{III}$।

कुर्यादर्द्धाङ्गुला$_{II-II}$ वृद्धिर्यावत्पञ्चदशाहतम्$_{50}$(पञ्चाशद्धस्तकम् ?) ॥ 41 ॥

ध्वजदण्ड का विस्तार अथवा मोटाई किस मान से रखें, इस सम्बन्ध में कहा गया है कि यदि एक हाथ विस्तार का प्रासाद हो तो ध्वजदण्ड का विस्तार पौन अंगुल रखना चाहिए। इसके उपरान्त पचास हाथ पर्यंत प्रासाद का विस्तार होने तक प्रत्येक हाथ पर अर्द्ध-अर्द्ध अङ्गुल बढ़ोत्तरी करनी चाहिए।

यह श्लोक अपराजित. से तुलनीय है– एकहस्ते तु प्रासादे दण्डं पादोनमङ्गुलम्। अर्द्धाङ्गुला भवेद्वृद्धि पञ्चाशद्धस्तकावधि ॥ तथैव 8 तथा ज्ञानप्रकाशदीपार्णव (9, 95)

दण्डप्रकार:

सुवृत्त:(सुव्रत: ?) सारदारुश्च ग्रन्थि-कोटर(कण्टक ?) वर्जित:।

पर्वभिर्विषमै:(म: ?) कार्य: समग्रन्थि: सुखावहा (ह: ?) ॥ 42 ॥

दण्ड निर्माण के लिए ऐसे सुदृढ़ काष्ठ, सारद्रुम की लकड़ी का प्रयोग करना चाहिए जो प्राकृतिक गांठ से रहित हो, जिसमें कोटर (अथवा कांटे या खोखलपन?) नहीं हो। उसे स्पष्ट वृत्ताकार बनाएं और उस पर पर्व या विभाग को विषम संख्या में रखें तथा ग्रंथियों को समसंख्या में उत्कीर्ण करें।

यह मत भी भुवनदेवाचार्य से तुलनीय है– पृथुत्वं च प्रकर्त्तव्यं सुवृत्तं पर्वकान्वितम्। एकादिपर्वत: कार्य: पञ्चविंशतिकावधि ॥ विषमपर्वोद्गमाश्च शस्ता: स्वस्वाभिधानत: । त्रयोदश स्युर्दण्डा वै पर्वभेदैस्तथोत्तमा: ॥ जयन्त: शत्रुमर्दन: पिङ्गलो नाम सम्भव: । श्रीमुखश्च तथानन्दस्त्रिदेवो दिव्यशेखर: ॥ कालदण्डो महाकूट: सूर्याख्य: कमलोद्भव: । विश्वकर्मा समाख्याता: कर्त्तव्या: सर्वकामदा: ॥ जयन्तस्त्वेकपर्वश्च

१. वही 6–7

त्रिपर्वः शत्रुमर्दनः। पिङ्गलः पञ्चपर्वश्च सप्तपर्वश्च सम्भवः॥ श्रीमुखो नवपर्वश्च आनन्दो रुद्रपर्वकः। त्रिदेवो विश्वपर्वश्च तिभिर्दिव्यशेखरः॥ मुनीन्दुभिः कालदण्डो महोत्कटो नवेन्दुतः। सूर्याख्यस्त्वेकविंशत्या कमलो वह्निनेत्रतः॥ तत्पर्वो विश्वकर्मा दण्डनामानि पर्वतः। शस्ताशस्तत्वमेतेषामभिधानगुणोद्भवम्॥[1]

भुवनदेवाचार्य ने वंशलक्षण इस प्रकार बताए हैं- वंशमयस्तु कर्त्तव्यः सारदारुसमन्वितः। निर्व्रणः सुदृढः कार्यो ज्वालादोषविवर्जितः॥ समग्रन्थिर्विधातव्यो विषमपर्वसमन्वितः।[2]

दण्डस्यमर्कट्यानि-

दण्डदीर्घ(दैर्घ्य ?)षडंशेन$_6$ मर्कट्यर्द्धेन विस्तृता (मर्कप्यर्धेन विस्तरे ?)।

अर्द्धचन्द्राकृतिः पार्श्वे घण्टे द्वे$_2$ कलशस्तथा॥ 43॥

ध्वजदण्ड की लम्बाई का षष्ठभाग उसकी मर्कटी या पाटली का मान रखना चाहिए। (परंपरा रही है कि विस्तार का तृतीयांश मर्कटी की मोटाई रखनी चाहिए) मर्कटी का सम्मुख भाग अर्द्ध चन्द्राकृति तुल्य रखें और पार्श्व में दो घण्टियां लगाएं और ऊपर कलश का निर्माण करें।

अपराजितपृच्छा में मर्कटी को मण्डूकी कहा गया है। मण्डन का मत अपराजित. के निकट है- मण्डूकी तस्य कर्त्तव्या अर्धचन्द्राकृतिस्तथा। पृथुदण्डसप्तगुणा हस्तादि पञ्चकावधि।। षड्गुणा च द्वादशान्तं शेषाः पञ्चगुणास्तथा। तथा त्रिभागविस्ताराः कर्त्तव्याः सर्वकामदाः॥ अर्धचन्द्राकृति चैव पक्षे कुर्याद् गगारकम्। वंशोर्ध्वे कलशं चैव पक्षे घण्टाप्रलम्बनम्॥ चामरैर्भूषितं कुर्याद् घण्टा पक्षे विचक्षणः। पताका पापहारी च शत्रुपक्षक्षयंकरी॥[3]

अथ ध्वजमानं-

ध्वजा (ध्वजो ?) दण्डप्रमाणेन दैर्घ्येऽष्टांशेन$_8$ विस्तरे।

नानावस्त्रैर्विचित्राढ्यै(णि ?)स्त्रि$_3$पञ्चाग्र$_5$ शिखोत्तमा(पमा ?)॥ 44॥

१. वही 9-16

२. वही, 21-22 तुलनीय- ज्ञानप्रकाशदीपार्णव वही 96 एवं 97

३. वही 17-20

ध्वजादण्ड की लम्बाई के प्रमाण से ध्वजा की लम्बाई रखनी चाहिए। ध्वजा की चौड़ाई उसकी लम्बाई का अष्टांश रखनी चाहिए। ध्वजा को नाना प्रकार के रङ्ग व विचित्र वस्त्रों से बनानी चाहिए। उसके आगे तीन या पाँच शिखाएं बनानी चाहिए।

अपराजितपृच्छा में ध्वजदण्डालङ्कार इस प्रकार बताया गया है- ध्वजादण्डप्रमाणेन पताकां च प्रलम्बयेत्॥ पृथुत्वमष्टमांशेन त्रिशाखाग्रविभूषितम्। शिखाः पञ्च कर्तव्या ध्वजाग्रे च विचक्षणैः॥ दिव्यवस्त्रपताका च अर्धचन्द्रैश्च किंकिणीः। ... ... घुर्घुरान्वितम्॥ रखाध त्रिभागोर्ध्वं सूत्रांशे पादवर्जितम्। ध्वजोत्रतिस्तु कर्तव्या ईशाने नैर्ऋतेऽथवा॥ प्रासादपृष्ठदेशे तु प्रतिरथे च दक्षिणे। स्तम्भवेधस्तु कर्तव्यो भित्तेरष्टमांशके॥[1]

ध्वजमाहात्म्यम्-

पुरे(परे ?) च नगरे कोटेः रथे राजगृहेस्तथा।

वापी-कूप-तडागेषु ध्वजाः कार्याः सुशोभनाः(सुशोभिता ?)॥ 45॥

पुर, नगर-कोट, रथ और राजगृह सहित बावड़ी, कूप, जलाशयादि को ध्वजाओं से शोभायमान करना चाहिए।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा के 'समस्तध्वजानिर्णय सूत्र' के निम्न श्लोकों से तुलनीय है- वापीकूपतडागेषु कुण्डे च पुष्कराह्वये। ध्वजास्तत्रापि कर्तव्याः स्थानमानं च लक्षितम्॥ पुरे च नगरे चैव कोटे कुर्याद् ध्वजारुहान्। राजगृहे रथे वापि ध्वजास्तत्रा[2] ऽपि कारयेत्॥[3]

ध्वजारोपणविलम्बे दोषः

निष्पन्नं(निष्पनं ?) शिखरं दृष्ट्वा ध्वजहीनं न कारयेत्।

असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीने सुरालये॥ 46॥

जब प्रासाद बन कर तैयार हो जाए तथा शिखर का कार्य संपन्न हो जाए तो उसे ध्वजा रहित नहीं रखना चाहिए। यदि देवालय को ध्वजाविहीन रख जाए तो वहां

१. वही 22-26

२. (145, 1-2)

३. (145, 1-2)

असुर, प्रेतादि निवास करने की आकाङ्क्षा करने लगते हैं।

यह श्लोक विष्णुधर्मोत्तरपुराण से तुलनीय है- ततो ध्वजस्य विन्यासः कर्तव्यः पृथिवीपते। असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीन सुरालये॥ ध्वजेन सकलं पापं जनस्य च विनश्यति। तत्मात्सर्वप्रयत्नेन दद्याद्देवकुले ध्वजम्॥ एवं कृते देवगृहे वृद्धिस्सदा स्यान्न हि संशयोऽत्र। तस्मात्प्रयत्नेन विधानयुक्तं देवालयं कार्यमदीन-सत्त्व॥ 3, 94, 45-47, ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में 9, 104, क्षीरार्णव 113, 76 एवं विश्वकर्मोक्त वास्तुविद्या में 8, 70वें क्रम पर इसी रूप में मिलता है।

ध्वजोच्छ्रायेण तुष्यन्ति देवाश्च पितरस्तथा।

दशाश्वमेधिकं पुण्यं (पुणं ?) सर्वतीर्थधरादिकम्॥ 47॥

देवालय पर विधिपूर्वक ध्वजारोहण करने से देव तथा पितर संतुष्ट होते हैं। दशाश्वमेध यज्ञकर्म के संपादन तथा पृथ्वी के विविध तीर्थों की यात्रा से जो पुण्य अर्जित होता है, वही पुण्य किसी देवायतन पर ध्वजारोहण करने से सुभग होता है।

यह अपराजितपृच्छा का मत है। तुलनीय है- ध्वजोदये तु तुष्यन्ति देवाश्च पितरास्तथा। सदा सा कुलसन्तानसुपुष्ट्यायुष्करी भवेत्॥ ध्वजारोपे कृतं पुण्यं दशाश्वमेधिकं भवेत्। सर्वपृथ्वीतीर्थपुण्यं ते व्रजन्ति शिवालयम्॥ (146, 12-13)

पञ्चाशत्$_{50}$ पूर्वतः (पूर्वजः ?) पश्चादात्मानं च तथाधिकम्।

शतमेकोत्तरं$_{101}$ सोऽपि तारयेन्नरकार्णवात्॥ 48॥

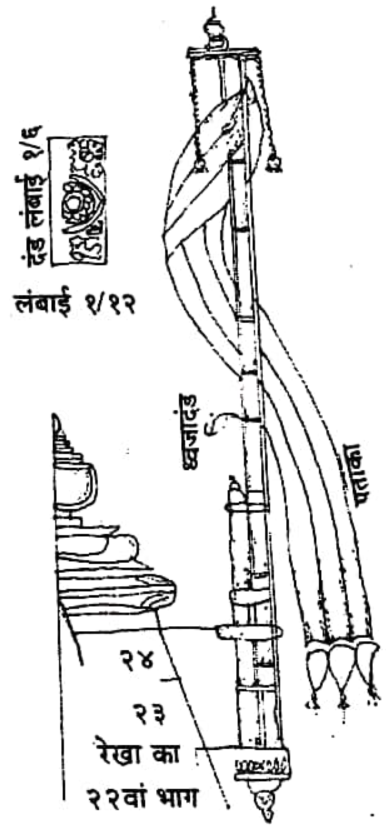
इति ध्वजलक्षणं पुण्याधिकारः।

ध्वजारोहण से अनेक पुण्य की लब्धि होती है। ध्वजारोहणकर्ता के वंश में पूर्व की पचास तथा भविष्य की पचास और एक अपनी स्वयं की, इस प्रकार कुल एक सौ एक पीढ़ी के पितरों को नरकरूपी समुद्र से यह ध्वजा जहाजतुल्य पार लगा देती है, उनका उद्धार कर देती है।

भुवनदेवाचार्य ने इस मत को इस प्रकार कहा है- पूर्वान्परांश्च पञ्चाशदात्मानं च तथाधिकम्। कुलमेकोत्तरशतं नरकात्तारयन्ति च॥ वही 14, क्षीरार्णव तथा ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में कहा गया है कि ध्वजायुक्त प्रासाद के निर्माता को अक्षय सुख की प्राप्ति होती है, वह दिव्यदेह धारणकर हजारों वर्षों तक सुरलोक में देवताओं के

साथ क्रीड़ा करता है- इदृशं कुरुतेयश्च लभते चाक्षयं पदम्। दिव्यदेहो भवेत्तस्य सूरेः सहस्रैः क्रीडति॥ [१]

इति श्रीसूत्रधारमण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने प्रतिमाप्रमाण दृष्टिपदस्थापनशिखरध्वजकलशलक्षणाधिकारश्चतुर्थोऽध्यायः॥ 4॥



१. (113, 77) तथा (9, 105)

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

वैराज्यादिप्रासादपञ्चविंशत्यधिकारः

आद्यमंगलम्-

नानाविधमिदं विश्वं विचित्रं येन सूत्रितम् (सूत्रतां, सूत्रात्रितम् ?)।

सूत्रधारः श्रेयसेऽस्तु (स एव स्यात् ?) सर्वेषां पालनक्षमः ॥ 1 ॥

जिस सृष्टा ने नानाविध रूपों में इस चित्र-विचित्र संसार की सूत्रबद्ध रचना की है, वही विश्वकर्मा रूप सूत्रधार सबका भरण-पोषण करने वाला है।

देवतामूर्तिप्रकरणम् में भी मण्डन ने उसी आदि सूत्रधार की वंदना की है- आदौ यः सूत्रधारस्त्रिभुवनरचना सूत्रलक्ष्यस्य स्वरूपो येनेदं देवदैत्योरगधरणि तलं पर्वताकाश रूपम्। सृष्टं चित्रं विचित्रं जगदिति सकलं जन्तुवृक्षादिसर्वं वन्द्योऽसौ सृष्टिकर्त्ता सुरदनुजनरैः सर्पविद्याधराद्यैः ॥ (1, 1)

ग्रन्थस्य मान्यतायाचनम्-

न्यूनाधिकं प्रसिद्धं च यत्किञ्चिन्म(?)ण्डनोदितम्।

विश्वकर्मप्रसादेन शिल्पिभिर्मा(नो ?)न्यतां वचः ॥ 2 ॥

उस सूत्रधार का कहा हुआ वास्तुशास्त्र तो बहुप्रसिद्ध है ही, उसकी कृपा से मुझ मण्डन सूत्रधार द्वारा विरचित प्रस्तुत वास्तुग्रंथ भी थोड़ा-बहुत लोकप्रिय और शिल्पीवर्ग में मान्य-सम्मान्य हो, यही कामना है।

अधुना वैराज्यादिप्रसादं-

चतुर्भागं$_4$ समारभ्य यावत् सूर्योत्तरं शतम्$_{112}$।

भागसंख्येति विख्यातां फालनात्कर्णबाह्यतः ॥ 3 ॥

सर्वप्रथम वैराज्य संज्ञक प्रसादों के विषय में कहा जा रहा है जो चार से लेकर एक सौ बारह भाग तक के होते हैं। उनमें फालनाओं की स्थिति कर्ण से बाहर निष्पन्न होती है।

फालनाभेदः

अष्टोत्तरशतं$_{108}$ भेदा अंशवृद्ध्या भवन्ति ते।

समांशैर्विषमैः(विशषमं ?) कार्यानन्तभेदैश्च फालना ॥ 4 ॥

उक्त फालनाओं के एक-एक अंश की उत्तरोत्तर बढ़ोतरी से एक सौ आठ तक भेद हो सकते हैं। यदि सम अंश और विषम अंश रखे जाएँ तो फालनाओं के और भी अनन्त भेद हो सकते हैं।

एकस्यापि(तु ?) तलस्योर्ध्वे शिखराणि बहुन्यपि।

नामानि जातयस्तेषा-मूर्ध्वमार्गानुसारतः (मूर्द्धभार्गानुसारे ?)॥ 5 ॥

शिखर भेद से ही प्रासादों की नाना संज्ञाएँ होती हैं जबकि उनका निर्माण एक ही तल के ऊपर किया जाता है। ये शिखर कई प्रकार के हो सकते हैं जिनके आधार पर ही विविध नामाभिधान और जातियां होती हैं।

नारदपृच्छा या क्षीरार्णव में भी कहा गया है- शिखरं विविधाकाराः अनेकाकारमुद्रितः ॥ उक्तं च प्रवक्ष्यामि श्रेष्ठानां वैराज्य कुल संभवेत्। केसरादि विधिस्तेषां तथा क्षीरार्णवे स्मृते ॥ (119, 5-6)

किंप्रासादस्यभ्रमाः

दश$_{10}$हस्तादधो न स्यात्(नास्ति ?) प्रासादो(दे ?) भ्रमसंयुतः।

नवा$_9$ष्ट$_8$दश$_{10}$भागेन भ्रमोद्धित्तिर्विधीयते(भ्रमो भित्तिविधायते ?) ॥ 6 ॥

यदि प्रासाद का विस्तार दस हाथ से कम हों तो उसे भ्रमणी या परिक्रमण युक्त नहीं बनाएं किंतु विस्तार दस हाथ से अधिक हो तो उसे परिक्रमण से संयुक्त करें। प्रसाद और उसकी भित्ति के अंतराल को प्रासाद के नवें, आठवें या दसवें भाग के अनुसार बनाना चाहिए।

यह मत क्षीरार्णव का है- भ्रमभित्ति प्रवक्ष्यामि प्रासाद मानतां बुधः। दशहस्तोत्तरा यावत्प्रासादाः सभ्रमा भवेत् ॥ दशोर्ध्वे च शतपादे भ्रममेकं प्रकीर्त्तितम्। सप्तविंशे द्वयं चैव अष्टमांशे तथा पुनः ॥ (117, 1-2)

ब्रह्मणोमन्दिरमधिकृत्यविश्वकर्म्ममतं-

वैराज्यश्चतुरस्रस्तु चतुर्द्वारि चतुष्किका।

प्रासादो ब्रह्मणः प्रोक्तो धीमता(निर्मितो ?) विश्वकर्मणा ॥ 7 ॥

प्रथम प्रकार का वैराज्य प्रासाद चतुरस्र या समचौरस बनाएं। इसमें चारों ओर द्वार रखने चाहिए। इसका प्रत्येक द्वार चौकी मण्डप से युक्त करें। इस प्रासाद का प्रवर्तन ब्रह्मा ने किया, तदनुसार इसका विश्वकर्मा ने निर्माण किया।

यह मत अपराजितपृच्छा के अनुसार है जहां कहा गया है कि वैराज्य प्रसाद की समचौरस भूमिका सोलह भाग करें और उनमें से चार भाग का मध्यस्थ गर्भगृह बनाएं जबकि शेष द्वादश भाग में से दो-दो भाग की भित्ति तथा दो भाग का परिक्रमण बनाएं- चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे तथा षोडशभाजिते। तस्यमध्यं चतुर्भागैर्गर्भं सूत्रेश्च कारयेत्॥ द्वादशस्त्वथ शेषेषु बाह्य भित्तीः प्रकल्पयेत्॥ [1]

सपादं शिखरं कार्यं घण्टा-कलशभूषितम्।

चतुर्भिः शुकनासैस्तु सिंहकर्णैर्विराजितम्(: ?) ॥ 8 ॥

पहले प्रकार के चतुरस्र वैराज्यप्रासाद के लिए शिखर के उदय को उसके विस्तार से सवा भाग अधिक रखें। इसके शिखर को घण्टा, कलश आदि से सुंदरता प्रदान करें तथा चतुर्दिक शुकनासिकाएँ और सिंहकर्णों का निर्माण करें।

यही मत भुवनदेवाचार्य का है। तुलनीय है- शुकनासान् सिंहकर्णान् चतुर्दिक्षु प्रकल्पयेत्। जगती वै पञ्चगुणा कामदा चतुरानना॥ इमं वैराज्यकं देवप्रासादं कारयेत्तु यः। एकविंशतिस्वर्गाणां लभते राज्यमीप्सितम्॥ (157, 12-13)

एकद्वारादौ दिङ्नियमः

एकद्वारं$_1$ भवेत्पूर्वं द्विद्वारं$_2$ पूर्व-पश्चिमे(पश्चिमम् ?)।

त्रिद्वारे$_3$ मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यं विवर्जयेत् ॥ 9 ॥

प्रासादों में प्रवेश द्वार के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि यदि एक ही द्वार स्थापित किया जाना हो तो पूर्व दिशा में रखें। दो द्वार आवश्यक हों तो आमने-सामने या पूर्व-पश्चिम दिशा, तीन रखने हो तो उक्त दो ही द्वारों में मध्य तीसरे द्वार को मुख्यद्वार बनाएँ किंतु दक्षिण दिशा में मुख्य द्वार का निर्माण वर्जित है।

१. सूत्र 155,3-4

वैराज्य प्रासादों को सर्वकामदम् कहा गया है, जहाँ विष्णु, ब्रह्मा, सूर्यादि विश्राम करते हैं। अपराजितकार ने उनके लिए एकद्वार, चतुर्द्वार व त्रिद्वार तो शुभ बताए हैं किंतु द्विद्वार को दूषित कहा है। इसी प्रकार त्रिद्वार पूर्व, उत्तर व दक्षिण; पूर्व, पश्चिम और उत्तर तथा दक्षिण, पश्चिम व उत्तर- इस प्रकार रखे जाना प्रशस्त होता है तथापि दोद्वार बनाना हो तो पूर्व-पश्चिम दिशा में रखें, उत्तर-दक्षिण में रखना दोषकारक होता है, एक द्वार हो तो पूर्व दिशा तथा चारद्वार हो तो चारों ही दिशा में रखे जा सकते हैं। पूर्वदिशा का द्वार भक्ति, पश्चिम का मुक्ति देने वाला होता है। शिव प्रासाद में उत्तर, दक्षिण का द्वार रखा जाए तो दोष व महाभय देने वाला सिद्ध होता है- वैराज्यमथ वक्ष्यामि प्रासादं सर्वकामदम्। विश्राम्यन्तीशविष्णू च ब्रह्मा यत्र रविस्तथा॥ एकद्वारं चतुर्द्वारं त्रिद्वारं च तथैव च। द्वारद्वयं च कर्तव्यं दूषणं न कदाचन॥ पूर्वोत्तरयाम्ये चैव पूर्वापरोत्तरे तथा। याम्यापरोत्तरे शस्तं त्रिद्वारं त्रिविधं मतम्॥ पूर्वापरे स्याद् द्विद्वारं दूषयेच्च याम्योत्तरे॥ एकद्वारं च माहेन्द्रयां चतुर्द्वारं चतुर्दिशम्॥ पूर्वे च भक्तिदं द्वारं मुक्तिदं द्वारं मुक्तिदं वरुणोद्गतम्। याम्योत्तरे शिवे द्वारे कृते दोषो महद्भयम्॥ [1]

चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु शिव-ब्रह्म-जिनालये।

होमशलायां कर्त्तव्यं(चतुर्द्वारं ?) क्वचि(कश्चि ?)द्राजगृहे तथा ॥ 10 ॥

शिवालय, ब्रह्मालय और जिनालय के निर्माण में चारों ओर द्वार रखे जा सकते हैं। इसी प्रकार यज्ञशाला और राजप्रासादों में भी चतुर्दिक द्वार बनाए जाते हैं।

इस प्रकार अपराजितकार का मत है कि शिवालय में एक ही द्वार रखना हो तो पूर्व दिशा में रखें, अन्य दिशाओं में दोष लगता है तथापि चारों ही दिशाओं में द्वार लगाने से कल्याण होता है। ब्रह्मा, विष्णु एवं सूर्यायतन में उपर्युक्तानुसार ही द्वार बनाएँ, जिनालयों, समवसरण प्रासादों में दिशाओं का कभी दोष नहीं लगता है- एकद्वारं च माहेन्द्र्यामन्यथा दोषदं भवेत्। भद्रं सर्वत्र कल्याणं चतुर्द्वारं शिवालये॥ ब्रह्मविष्णुरवीणां च कुर्यात् पूर्वोक्तमेव हि। समोसरणे च जैनेन्द्रे दिशा दोषो न विद्यते॥ [2]

वैराज्यादिसमुत्पन्नाः प्रासादा ब्राह्मणोर्चिताः(ब्रह्मणोदिताः ?)।

एक$_1$ त्रि$_3$ पञ्च$_5$ सप्त$_7$ ङ्कं$_9$ सङ्ख्याङ्कैः (शाखांतैः ?) पञ्चविंशतिः$_{25}$ ॥ 11 ॥

इति वैराज्यकुल प्रासादाः।

१. वही 1-5

२. वही 6-7

वैराज्यादि कुल के कुल पच्चीस प्रकार के प्रासादों का निर्माण किया जाता है जो ब्राह्मणों के लिए पूजित होते हैं। ये अङ्गानुसार क्रमशः एक, तीन, पाँच, सात तथा नौ अङ्ग वाले भेद संज्ञक होते हैं।

अपराजितपृच्छा में भी उक्त भेद बताए गए हैं– वैराज्यादींस्ततो वक्ष्ये प्रासादाः पञ्चविंशतिः। चतुरश्रो भवेदेकस्त्र्यङ्गाश्च त्रय एव च॥ भवन्ति पञ्च पञ्चाङ्गाः सप्ताङ्गान् सप्त कारयेत्। नवाङ्गाश्च नवाख्याताः प्रासादाः पञ्चविंशतिः॥ (156, 1–2)

क्षीरार्णव में इनके नाम व भेद बताए गए हैं– इनमें 11 से 25 शिखर वाले दशाईतल विभक्ति के प्रासादों के नाम हैं– वज्र, पद्मराग, वैडूर्य, रत्नकूटी, विमान, भूधर, महानील, इन्द्रनील, पृथ्वीजय, कैलास, हेमकूट, अमृतोद्भव, मन्दिर नन्दशाली और नन्दन– वज्रपद्मराग वैडूर्य रत्नकोट विमानकः भूधरो च महानीलं इन्द्रनीलो पृथ्वीजयः॥ कैलास हेमकूटश्चामृतोद्भव मन्दिरं तथा। नन्दशाली नन्दनं च ह्येते विभक्ति दशतलम्॥ (119, 8–9)

शेष वैराज्यकुल प्रासाद अठाईतल विभक्ति वाले हैं जिनके नाम रत्नकूट, भूधर, महानील, हेमकूट, हेमवर्ण, अमृतोद्भव, श्रीवत्स, मन्दिर, सर्वतोभद्र और केसरी– रत्नकूट भूधराख्य महानीलं हेमकूटकू। हेमवर्णाऽमृतोद्भवो श्रीवत्सं मन्दिरमस्तथो॥ सर्वतोभद्र केसरी च ह्यते चाष्टविभक्तितलम्॥[१]

अथ नन्दनौ–

चतुर्भक्ते$_4$ भवेत्कोणौ भागो(भोगो, भागौ ?) भद्रं द्विभागिकम्।

भागार्द्धं निर्गमं भद्रे प्रकुर्यान्मुखभद्रकम्॥ 12॥

शृङ्गमेकं$_1$ भवेत्कर्णे(कोणे ?) द्वे$_2$–द्वे$_2$ भद्रे च नन्दनः।

इति नन्दनप्रासादाः।

सर्वप्रथम त्रयाङ्ग वाले तीन प्रासादों में से नन्दन संज्ञक प्रासाद का विवरण दिया जा रहा है। नन्दन प्रासाद निर्माण के लिए प्रासाद के तल को चतुर्भाग करें और उसमें से एक-एक भाग का कर्ण और दो भाग का भद्र तैयार करें। भद्र के निर्गम को आधा भाग रखना चाहिए। भद्र में यथेष्ट मुखभद्र भी रचें तथा प्रत्येक कर्ण के ऊपर शृङ्ग

१. वही 10, 11

और भद्र पर दो-दो उरुशृंग का निर्माण करें तो जो स्वरूप बनेगा उसे 'नन्दन' प्रासाद कहा जाता है। इसमें तेरह शृंग, चार कर्ण आठ भद्र पर शिखर की रचना होती है।

अपराजितपृच्छाकार में कहा गया है– वैराज्यस्य च संस्थाने नंदनं कारयेच्छुभम्। कर्णं तथा चैकभागमुदकान्तरभूषितम्॥ द्विभागं च भवेद्भद्रमर्धभागेन् निर्गतम्। भागार्धं पार्श्वसूत्रं तु निर्गमस्तत्समो भवेत्॥ सार्धभागस्तु विस्तार एवं भद्रं विधीयते। कर्णेष्वेकैक-शृङ्गं च भद्रे द्वे उरुमञ्जरी॥ शिखरं त्र्यंशविस्तारं पादोनं वेदमुच्छ्रितम्। पद्मकोशोद्भवसूत्रे पञ्चांशः कलशोऽन्तिके॥ रथिका तु यदा भद्रे नन्दनः सर्वकामदः। इह नन्दति तत्कर्ता स्वर्गे वा त्रिदशैः सह॥[१]

अथ सिंहौ–

तथाचोक्तं–

मुखभद्रे प्रतिभद्र-मुद्गमो(मुद्गमौ ?) रथिकोपरि॥ 13॥

कर्णशृङ्गे सिंहकर्णः (सिंहकर्णः ?) सिंहनामा स उच्यते(तदुच्यतेः ?)।

सिंह प्रासाद के लिए तल का विभाजन नन्दन प्रासाद की भांति ही किया जाना चाहिए। इसके मुखभद्र पर प्रतिभद्र की रचना करें और भद्र के गवाक्ष पर उद्गम बनाएं। इसके उपरान्त कर्णशृंगों पर सिंहकर्णों को बनाएं तो 'सिंह' प्रासाद की रचना होती है।

देवानां तु (देवतासु ?) प्रकर्त्तव्यं(: ?) सिंहस्तत्रैव शाश्वतः॥ 14॥

तुष्यन्तु(ति!) गिरिजा तस्य(तुष्यं ?) सौभाग्यधन-पुत्रदा (पुत्रकैः ?)।

वास्तुविदों का निर्देश है कि सिंह प्रासाद को देवियों के ही निमित्त बनाएं। इसमें सिंह की शाश्वत स्थिति होती है इसीलिए इसमें गिरिजादेवी प्रसन्न होती है और निर्माता को सौभाग्य, धन और पुत्रादि प्रदान करती हैं।

उक्त दोनों श्लोक अपराजितपृच्छा से उद्धृत है। तुलनीय 157, 19–20, अन्तिम पङ्क्ति का पाठ वहाँ इस प्रकार हैं– तुष्येद्गिरिसुता तस्य सौभाग्यधनपुत्रदा॥

रथिकां सिंहकर्णे च भद्रे शृङ्गे च सिंहकः॥ 15॥

इति सिंहप्रासादः।

यहां यह भी स्मरणीय है कि सिंह प्रासाद की रचना भद्र की रथिका पर सिंहकर्ण और शृंगों पर भी सिंहकर्ण की रचना करने पर हो सकती है।

अथ श्रीनन्दनप्रासादं-

कर्णे(र्ण ?) शृङ्गन्तु पञ्चाण्डं स(क ?) श्रीनन्दन उच्यते। इति त्र्यङ्गास्त्रय:।

यदि नन्दन प्रासाद के कोण पर पाँच अण्डक युक्त केसरी शृंग की रचना करें तो बनने वाला प्रासाद 'श्रीनन्दन' संज्ञक होता है। इनमें शृंगों की संख्या 29 तथा केसरी कर्णों का क्रम 20, भद्र 8 होंगे तथा यह शिखरान्वित होगा। (इस प्रासाद का फल सन्तानवर्धक कहा गया है)।

अपराजितपृच्छा में यह श्लोक इस प्रकार पूरा दिया गया है- कर्णे शृङ्गे तु दातव्यं पञ्चाण्डकविभूषितम्। तथा श्रीनन्दनो नाम कर्तुः सन्तानवर्द्धकः ॥ [१]

अथ मन्दरमलयश्च-

त्र्यङ्गा इति च(इत्यर्थः!) षड्भागैश्चतुरस्त्रं विभाजयेत् ॥ 16 ॥

पूर्व में तीन अङ्गयुक्त नन्दनादि प्रासादों का वर्णन किया गया है जो त्र्यङ्ग अर्थात् दो कोने और भद्र युक्त होते हैं। अब पञ्चाङ्ग अर्थात् दो कर्ण, दो प्रतिरथ तथा भद्र युक्त प्रासादों का वर्णन किया जा रहा है। इनके निर्माण के लिए प्रासाद के चतुरस्र अथवा समचोरस तल को छह भागों में विभाजित किया जाना चाहिए।

कर्णं प्रतिरथं कुर्यात् भद्रार्द्धं भागभागिकम्।

समं निर्गममस्माच्च(निर्गममंशैश्च ?) भद्रं भागार्द्ध निर्गमः ॥ 17 ॥

पञ्चाङ्गयुक्त प्रासादों में कर्ण, प्रतिरथ या प्रतिकर्ण और भद्रार्द्ध को क्रमशः एक-एक भाग का रखना चाहिए। कर्ण तथा प्रतिकर्ण निर्गम अर्द्धभाग रखें।

द्वे$_2$ द्वे$_2$ कर्णे तथा भद्रे शृङ्गमेकं$_1$ प्रतिरथे (चैकं च प्रतिरर्थकम् ?)।

मन्दरस्तृतीयं भद्रे (त्र्यालयो ?) मलयोर्भद्रजं त्यजेत् ॥ 18 ॥

इनमें कर्ण तथा भद्र पर दो-दो तथा प्रतिरथ या प्रतिकर्ण पर एक-एक शृङ्ग की रचना करें। इस प्रकार से तैयार प्रासाद का नामाभिधान 'मन्दर' होता है। इसी के भद्र पर यदि एक और ठरुशृंग की रचना की जाए तो उसे 'मलय' संज्ञक प्रासाद कहा

१. वही 21

जाता है। इनमें शृंगों की संख्या 25, कर्ण, भद्र तथा प्रतिरथ 8-8 और एक शिखर होता है।

अपराजितपृच्छा में मन्दर एवं मलय प्रासादों की विधि विस्तार से दी गई है। मण्डन का उत्स निम्न श्लोक हैं- षड्भागायते भागं कर्णं प्रतिरथं तथा। द्विभागं च भवेद्भद्रं निर्गमश्चार्धभागतः॥ प्रतिरथं भागनिष्कासं गर्भो वेदांशकैः पृथुः। द्वे-द्वे कर्णे तथा भद्रे शृङ्गं प्रतिरथेऽथवा॥ एवं विधः प्रकर्तव्यो मन्दरस्तु शिवात्मजः। मेरुपुण्यार्धकार्धं तु लभ्यते मन्दरे कृते॥ भद्रे शृङ्गत्रयं कुर्यान्मलयो नाम नामतः [१]

विमानविशालत्रैलोक्यभूषणश्च-

प्रत्यङ्ग (प्रत्येक ?) तिलकं कुर्यात् प्रतिरथे विमानकः।

भद्रोरुशृङ्गवैशालः प्रतिरथे सुभूषणः(णं ?) ॥ 19 ॥

इति पञ्चाङ्गाः पञ्चप्रासादाः।

पूर्व वर्णित मलय संज्ञक प्रासाद के भद्र पर एक उरुशृङ्ग को बजाय कर्ण के दोनों भागों में एक-एक प्रत्यङ्ग की रचना करें और प्रतिकर्ण पर एक-एक तिलक की रचना करें तो निर्मित प्रासाद की संज्ञा 'विमान' होती है। विमान में शृङ्गों कर्णों की संख्या तथा प्रतिरथ, भद्र, प्रत्यङ्ग की संख्या 8-8 होती है तथा एक ही शिखर होता है। इसमें कुल 32 शृङ्ग होते हैं।

यदि इस विमान संज्ञक प्रासाद के भद्र पर अतिरिक्त रूप से एक-एक उरुशृङ्ग बनाया जाए तो उसे 'विशाल' संज्ञक प्रासाद कहा जाता है। विशाल में शृङ्गों की संख्या 37 होती है और इसमें भद्र द्वादश होते हैं जबकि तिलक, प्रतिरथ आठ होते हैं।

विशाल के अनुसार ही प्रतिरथ पर भी विशेष रूप से एक-एक उरुशृङ्ग का विधान किया जाए तो प्रस्तावित प्रासाद की संज्ञा 'त्रैलोक्यभूषण' होती है। त्रैलोक्यभूषण में कर्ण 8, प्रतिरथ 16, भद्र 8, प्रत्यङ्ग 8, कुल 41 शृङ्ग व तिलक 8 होते हैं तथा एक शिखर बनता है।

१. वही 22-25

अपराजितपृच्छा में इन तीनों प्रासादों का विवरण इस प्रकार है- त्यक्त्वैकभद्रशृङ्गं तु प्रत्यङ्गानि प्रदापयेत्॥ प्रतिरथोर्ध्वतिलको विमानः सर्वकामदः। इति विमानः॥ भद्रे तृतीयोरुशृङ्गं स भवेत् सुविशालकः॥ इति सुविशालकः॥ त्यक्त्वैकभद्रशृङ्गं तु विक्रमः स्यात्प्रतिरथे। कर्णे चाष्टदलं कुर्यान्नाम्ना त्रैलोक्यभूषणः॥ इति त्रैलोक्यभूषणः इति पञ्चाङ्गाः पञ्च॥ [१]

अथ माहेन्द्र प्रासादं-

चतुरस्त्रेऽष्ट$_8$भिर्भक्ते कर्ण(: ?) प्रतिरथं रथम्।

भद्रार्द्धं भागभागञ्च भागार्द्धेन (तु ?) विनिर्गमम्॥ 20॥

(अब माहेंद्रादि सात प्रासादों का वर्णन किया जा रहा है) ये प्रासाद सप्ताङ्गयुक्त होते हैं। ये सप्ताङ्ग हैं- दो कर्ण, दो प्रतिकर्ण, दो रथ तथा एक भद्र। माहेन्द्र प्रासाद के लिए चतुरस्र तल को पहले समान रूप से आठ भागों में विभाजित करें। इनमें कर्ण, प्रतिरथ, उपरथ तथा भद्रार्द्ध को क्रमशः एक-एक भाग का बनाएँ।

वारिमार्गान्तरयुक्ता(युता ?) रथाश्च तुल्यनिर्गमाः(मं ?)।

शृङ्गयुग्मे$_2$ च तिलकं कर्णे द्वे$_2$(द्धे ?)तु प्रतिरथे (प्रतिरर्थकः ?)॥ 21॥

इसमें भद्र का निर्गम अर्द्धभाग रखें तथा उक्त सभी अङ्गों को जलमार्ग युक्त बनाना चाहिए। कर्ण, प्रतिरथ तथा उपरथ के निर्गम को एक-एक भाग ही रखें। इसके कर्ण पर शृङ्ग युग्म तथा एक तिलक और प्रतिरथ पर दो शृङ्ग बनाएँ।

एकं$_1$(त्वेक ?) चोपरथे भद्रे त्रीणि$_3$ त्रीणि$_3$ चतुर्दिशि(त्रित्रि चतुर्दशः ?)।

शिखरं पञ्च$_5$विस्तारं माहेन्द्रो(महेन्द्रो ?) राज्यदो नृणाम्॥ 22॥

इति माहेन्द्रप्रासादाः।

पूर्वानुसार ही उपरथ पर एक-एक शृङ्ग तथा भद्र पर तीन-तीन की संख्या में उरुशृङ्गों की रचना करें। इसमें शिखर के विस्तार को पाँच भाग रखना चाहिए। इस प्रकार से बना प्रासाद 'माहेंद्र' संज्ञक होता है। यह निर्माता के लिए राज्यसुख प्रदायक होता है। इसमें शृङ्गों की संख्यानुसार आठ कर्ण, 16 प्रतिरथ, आठ उपरथ, 12 भद्र, एक शिखर सहित कुल 45 शृङ्ग होते हैं तथा तिलक व चार कर्ण बनते हैं।

---

१. वही 25-27

यही मत अपराजितपृच्छा में है। तुलनीय है- अष्टधा चायते क्षेत्रे भुज-कर्ण विशोधिते। भागं भागं च भद्रार्धं कर्णः प्रतिरथो रथः॥ प्रतिरथोंऽशो निष्कासे रथोऽर्धोऽर्धं च भद्रकम्। उदकान्तरयुक्तश्च पञ्चांशो गर्भविस्तरः॥ द्वे शृङ्गे तिलकं कर्णे शृङ्गे प्रतिरथे तथा। एकशृङ्गं चोपरथे उरःशृङ्गाणि द्वादश॥ पञ्चांशं मूलशिखरं घण्टाकलशभूषितम्। ईप्सितं लभते कर्ता यावदाभूतसम्प्लवम्॥ [१]

अथ रत्नशीर्षं-

कर्णे शृङ्गत्रयं शेषं पूर्ववद्रत्नशीर्षकम्।

इति रत्नशीर्षः।

यदि माहेन्द्र प्रासाद के कर्णों पर तीन शृङ्गों की रचना की जाए तो 'रत्नशीर्ष' संज्ञक प्रासाद का निर्माण होता है। इसमें 12 कर्ण, 16 प्रतिरथ, 8 उपरथ तथा 12 भद्र व शिखर के साथ कुल 49 शृङ्ग होते हैं।

यही अपराजितकार का कथन है। यथा- कर्णे शृङ्गत्रयं कुर्याद्रत्नशीर्षः स उच्यते [२]

अथ सितशृङ्गं-

त्यक्त्वैक(त्यत्तवैक ?)शृङ्गं भद्रस्य मत्तालम्बं तु कारयेत्॥ 23॥

उपर्युक्त रत्नशीर्ष प्रासाद के भद्र के तीन उरुशृङ्गों में से एक को घटाकर वहां पर मत्तालम्ब या गवाक्ष की रचना करें।

मस्तके तस्य छाद्यस्य शृङ्गयुग्मं प्रदापयेत्।

सितशृङ्गस्तदा नाम ईश्वरस्य सदा प्रियः॥ 24॥

इति सितशृङ्गः।

पूर्वानुसार रचना के बाद प्रासाद के मस्तक के छाद्य पर दो शृङ्गों की रचना करने से बनने वाला प्रासाद 'सितशृङ्ग' संज्ञक होता है और यह ईश्वर को सदैव रुचिकर लगता है। इसमें शृङ्गानुसार 12 कर्ण, 16 प्रतिरथ, 8 उपरथ, 16 भद्र तथा शिखर सहित कुल 53 शृङ्ग होते हैं।

---

१. वही 28-31
२. वही 32

उक्त श्लोक अपराजित से उद्धृत जान पड़ते हैं। किञ्चित पाठांतर के साथ तुलनीय हैं- त्यक्त्वैकशृङ्गं भद्रस्य मत्तालम्बं तु कारयेत्॥ तस्यच्छाद्योर्ध्वकर्णे तु ततः शृङ्गाणि दापयेत्। सितशृङ्गस्तदा नाम्ना ईश्वरस्य सदाप्रियः॥[१]

अथ भूधरश्चभुवनमण्डनश्च-

तिलकं चद्युपरथे(चोपरथेषु ?) भूधरो नाम नामतः।

छाद्यशृङ्गे तु तिलकं नाम्ना भुवनमण्डनः॥ 25॥

यदि पूर्वोक्त सितशृङ्ग प्रासाद के उपरथ पर एक-एक तिलक की रचना कर दी जाए तो प्रस्तावित प्रासाद की संज्ञा 'भूधर' होती है। यदि इसी पर छाद्य के दोनों ही शृङ्गों पर अतिरिक्त रूप से तिलक की रचना की जाए तो बनने वाला प्रासाद 'भुवन मण्डन' कहलाता है।

अराजितकार का भी यही मत है- तिलकानि च शृङ्गेषु तथोपरथकेषु च। रथप्रतिरथोर्ध्वे च तिलकानि प्रकल्पयेत्॥ शेषाः पञ्चाण्डशृङ्गाश्च भूधराख्यः स उच्यते। श्रीवत्सं चैव रेखार्घे भवेद् भुवनमण्डनः॥[२]

अथ त्रैलोक्यविजयक्षितिवल्लभश्च-

शृङ्गद्वयं(यो ?) चोपरथे तिलकं कारयेत्सुधीः।

त्रैलोक्यविजयो भद्रं शृङ्गेण क्षितिवल्लभः॥ 26॥

इति सप्ताङ्गाः माहेन्द्रादि सप्तप्रासादाः।

इन्हीं प्रासादों पर यदि उपरथ के शीर्ष पर दो शृङ्ग और एक तिलक की रचना करें तो बनने वाला प्रासाद 'त्रैलोक्यविजय' संज्ञक होता है। यदि भद्र पर अतिरिक्त रूप से एक शृङ्ग की रचना करें तो वह 'क्षितिवल्लभ' अथवा 'पृथ्वीवल्लभ' प्रासाद कहलाता है। इसमें 12 कर्ण, 16-16 प्रतिरथ और उपरथ, 12 भद्र, 8 तिलक कुल 57 शृङ्गों के साथ शिखर होता है।

भुवनदेवाचार्य का भी यही मत है- तथैव तिलकं कुर्याच्छृङ्गद्वयमथोपरि। त्रलोक्यविजयश्चैव तच्छृङ्गैः क्षितिवल्लभः॥ (तथैव 36)

१. वही 32-33

२. वही 34-35

अथ नवाङ्गामहीधरादीनां-

दश$_{10}$भागकृते(भागाक्तते ?) क्षेत्रे भद्रार्द्ध भागमानतः।

त्रयः$_{3}$ प्रतिरथाः कर्णो भागभागाः समो भवेत्॥ 27॥

(अब नवाङ्गयुक्त प्रासादों का वर्णन किया जा रहा है जिनमें दो कर्ण, दो प्रतिकर्ण, दो रथ, दो उपरथ तथा भद्र होते हैं) इनमें प्रथम महीधर प्रासाद के लिए चतुरस्र को प्रथमतः दस भागों में विभाजित करें। उनमें एक भाग के अर्द्धभाग का भद्र रखें। तीन प्रतिरथ तथा भाग के बराबर कर्ण की रचना करें।

कर्णे प्रतिरथे भद्रे द्वे$_2$द्वे$_2$ शृङ्गे प्रकारयेत्।

रथोपरथे तिलकं प्रत्यङ्गञ्च रथोपरि॥ 28॥

जैसा कि कहा गया है कि भद्रार्द्ध, कर्ण, प्रतिरथ व उपरथ को एक-एक भाग का बनाएं और इनका निर्गम एक-एक भाग का रखें। भद्र, उपरथ पर एक-एक तिलक की रचना करें तथा रथ पर प्रत्यङ्ग बनाएं।

मत्तालम्बयुतं भद्रं प्रासादोऽयं महीधरः।

इसके साथ ही भद्र को मत्तालम्ब अथवा गवाक्ष से युक्त बनाएं। इस प्रकार बनने वाला प्रासाद 'महीधर' संज्ञक होता है। इस प्रासाद में आठ कर्ण, 16 प्रतिरथ, 8-8 भद्र, प्रत्यङ्ग कुल 41 शृङ्ग तथा एक शिखर के साथ तिलक संख्या में 8 रथ व 8 ही उपरथ होते हैं।

भुवनदेवाचार्य ने इसे विस्तार से स्पष्ट किया है- महीधरं प्रवक्ष्येऽहं शतमूले विभाजिते। पदिकश्च ततः कर्णो भद्रं द्विपदमिश्रितम्॥ कर्णस्योभयतस्त्रयस्त्रयः प्रतिरथास्तथा। निर्गमास्समभागैश्च भागार्धं भद्रनिर्गमः॥ भागषट्कायतोगर्भः सप्तभागोऽथवोच्यते। कर्णे प्रतिरथे भद्रे द्वे द्वे शृङ्गे च कारयेत्॥ रथोपरथे तिलकं प्रत्यङ्गं च रथोपरि। मत्तावलम्बयुतं भद्रं स्यान्महीधरसंज्ञकः॥[१]

अथ कैलासप्रासादः

भद्रे शृङ्गं तृतीयञ्च कैलासः(कैलाशो ?) शङ्करप्रियः(नाम नामतः ?)॥ 9॥

महीधर प्रासाद पर यदि भद्र पर तीसरा शृङ्ग लगाया जाए तो बनने वाला प्रासाद 'कैलास' संज्ञक कहा जाता है। इसमें शृङ्ग संख्या के अनुसार 8 कर्ण, 16 प्रतिरथ,

१. वही 37-40

12 भद्र, 8 प्रत्यङ्ग सहित कुल 45 तथा शिखर सहित आठ-आठ रथ और उपरथ होते हैं।

इस सम्बन्ध में अपराजितकार का कथन है- भद्रे शृङ्ग तृतीयं च कैलासः शङ्करप्रियः।[१]

अथ नवमङ्गलगन्धमादश्च-

भद्रं त्यक्त्वा(त्यत्कार ?) रथे शृङ्गं नवमङ्गल(नवमाल स!) उच्यते।

तथा भद्रे पुनर्दद्यात् तदासौ(शौ ?) गन्धमादनः॥ 30॥

यदि पूर्वोक्त कैलास प्रासाद में भद्र को एक उरुशृङ्ग से विहीन कर रथ पर एक शृङ्ग की रचना करें तो उस प्रासाद का नामाभिधान 'नवमङ्गल' हो जाता है। इसी के भद्र के शीर्ष पर यदि एक उरुशृङ्ग विशेष बनाएँ तो बनने वाले प्रासाद को 'गन्धमादन' कहा जाता है।

यह निर्देश अपराजितकार का है- भद्रे त्यक्त्वा रथे शृङ्गं नवमङ्गल उच्यते॥ तथा भद्रे पुनर्दद्यात् स भवेद्गन्धमादनः।[२]

अथ सर्वाङ्गसुन्दरः

भद्रं त्यक्त्वा(त्यत्का ?) चोपरथे शृङ्गः सर्वाङ्गसुन्दरः(सर्वसुगन्धरः ?)।

उपर्युक्त गन्धमादन प्रासाद के भद्र पर से एक उरुशृङ्ग को हटाकर उपरथ पर एक-एक शृङ्ग की विशेष रचना करें तो बनने वाले प्रासाद की संज्ञा 'सर्वाङ्गसुन्दर' होती है।

अपराजितकार ने भी यही निर्देश दिया है। तुलनीय है- त्यक्तं भद्रे रथे शृङ्गं युक्तं सर्वाङ्गसुन्दरः॥[३]

अथ विजयानन्दः

भद्रे दद्यात्पुनः शृङ्गं विजयानन्द उच्यते॥ 31॥

१. वही 41
२. वही 41-42
३. वही 42

यदि पूर्वोक्त प्रासाद के भद्र पर विशेष रूप से एक-एक उरुशृङ्ग की रचना करें तो उसका नामाभिधान 'विजयानन्द' हो जाता है। उक्त दोनों प्रासादों में शृङ्ग संख्याओं की गणना इस प्रकार होती है- कोण 8, प्रतिरथ 16, रथ 8, भद्र 8, उपरथ 8, प्रत्यङ्ग 8 कुल 57 तथा एक शिखर।

यही श्लोक अल्प पाठांतर के साथ अपराजितपृच्छा में हैं- भद्रे दद्यात्पुनः शृङ्गं विजयानन्दसंज्ञकः। (तथैव 43)

अथ सर्वाङ्गतिलकः

मत्तालम्बयुतं भद्र-मुरुशृङ्गं परित्यजेत्।

शृङ्गद्वयञ्च छाद्योर्ध्वे सर्वांगतिलकस्तदा(स्तथा ?)॥ 32॥

यदि विजयानन्द प्रासाद के भद्र को एक-एक उरुशृङ्ग से विहीनकर गवाक्ष अथवा मत्तालम्ब की रचना करें तथा इन गवाक्षों के छाद्यों पर दो शृङ्ग बनाएं तो बनने वाले प्रासाद की संज्ञा 'सर्वाङ्गतिलक' होती है। इसकी शृङ्ग गणना इस प्रकार होगी- कर्ण 8, प्रतिरथ 16, रथ, उपरथ व प्रत्यङ्ग क्रमशः 8-8 और गवाक्ष 16 तथा एक शिखर। इस प्रकार इसमें कुल 65 शृङ्ग होते हैं।

यह मत भुवनदेवाचार्य के अनुसार है। तुलनीय है- मत्तावलम्बयुते भद्रे उपशृङ्गं परित्यजेत्॥ मत्तालम्बोभयकर्णे कुर्याच्छृङ्गद्वयं तथा। सर्वाङ्गतिलको नाम कर्तुः सन्तानभोगदः॥[१]

अथ महाभोगः

ठरुशृङ्ग ततो दद्यान्मतालम्बसमन्वितम्।

महाभोगस्तदा नाम सर्वकामफलप्रदः(सर्वदेवेषु पूजितः ?)॥ 33॥

पूर्वोद्धृत सर्वाङ्गतिलक प्रासाद के गवाक्षयुक्त भद्र पर एक-एक ठरुशृङ्ग विशेष रूप से चढ़ाएं तो उस प्रासाद की संज्ञा 'महाभोग' हो जाती है। महाभोग अपने नामानुसार सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है।

यह श्लोक इसी रूप में अपराजितपृच्छा में हैं।[२]

१. वही 43-44
२. वही 45

अथ मेरुप्रासादः

कर्णे रथे प्रतिरथे शृङ्गमुपरथे तथा(प्रतिरथेरथे चैकन्तूपरथादिषु ?)।

मेरुरेव(मेरुष्वपि ?) समाख्यातः सर्वदेवेषु(सर्वदेषु ?) पूजितः ॥ 34 ॥[१]

इनि महीधरादि नवाङ्गा नवप्रासादाः।

पूर्वोक्त प्रासाद में यदि कर्ण, रथ, प्रतिरथ और उपरथों पर विशेष रूप से एक-एक शृङ्ग की रचना की जाए तो बनने वाले प्रासाद को 'मेरु' कहा जाता है। मेरुप्रासाद पर्वतों में स्मरणीय सुमेरु की भांति सभी देवताओं के लिए पूज्य कहा गया है।

अपराजितपृच्छा में इसका पाठ इस रूप में हैं- रथे कर्णे प्रतिरथे शृङ्गे चोपरथे तथा। मेरुरेव समाख्यातः सर्वदेवैः सुपूजितः ॥

अधुना प्रासाददक्षिणाफलं-

प्रदक्षिणात्रये स्वर्ण-मेरौ पुंसाञ्च यत् फलम्।

इष्टका-शैलजे मेरौ(रू ?) स्यात्तत्फलं प्रदक्षिणि(ण ?)कृते ॥ 35 ॥

प्रासादों में यह मेरुप्रासाद स्वर्णमेरु तुल्य होता है। धर्मात्मा को जो फल स्वर्ण मेरु की तीन परिक्रमा करने से मिलता है, वही फल पाषाण निर्मित मेरुप्रासाद की तीन परिक्रमा से सुलभ होता है।

इस श्लोक का सर्वाङ्ग पाठान्तर इस प्रकार भी मिलता है- प्रदक्षिणात्रयं कार्यं मेरुप्रदक्षिणायतम्। फलं स्याच्छैलराज्यस्य मेरोः प्रदक्षिणाकृते ॥

वैराज्य(वैराजाः ?) प्रमुखास्तत्र(येऽत्र ?) नागरा ब्रह्मणोदिताः।

वल्लभाः सर्वदेवानां शिवस्यापि विशेषतः ॥ 36 ॥

मन्दिरों में नागर कोटि के उक्त वैराज्यादि प्रासाद का वर्णन यहां किया गया है। इनका प्रवर्त्तन स्वयं ब्रह्मा द्वारा माना जाता है। ये सभी देवताओं को अपनी प्रतिष्ठा के लिए अति प्रिय हैं। विशेष रूप से शिव को रुचते हैं।

१. यह श्लोक 'क' मातृका में नहीं मिलता है।

अपराजितपृच्छा में उक्त दोनों श्लोकों को इस रूप में लिखा गया है- *सर्वस्वर्णमये मेरौ पुण्यं यत् त्रिः प्रदक्षिणैः। शैले पक्वेष्टके चैव तत्पुण्यं लभते नरः ॥ सृष्टावुक्ता ब्रह्मणा या पूजा वै पञ्चविंशतिः। वैराजाद्याः समुत्पन्नाः सर्वे प्रासादसंज्ञकाः ॥*[२]

इति श्रीसूत्रधार मण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने वैराज्यादिप्रासादपञ्चविंशत्याधिकारे पञ्चमोऽध्यायः ॥ 5 ॥

२. वही 47-49

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

केसर्यादिप्रासादजातिलक्षणपञ्चक्षेत्र पञ्चचत्वारिंशन्मेरुलक्षणं

केसर्यादयः पञ्चविंशतिः प्रासादाः

केसरी सर्वतोभद्रो नन्दनो(नन्ददो ?) नन्दशालिकः (नन्दशालकः ?)।

नन्दीशो मन्दरश्चैव(मन्दिरश्चैव ?) श्रीवृक्षश्चामृतोद्भवः ॥ 1 ॥

अब केसर्यादि पच्चीस सांधार प्रासादों का वर्णन किया जा रहा है। इनके नाम क्रमानुसार निम्न हैं– 1. केसरी 2. सर्वतोभद्र 3. नन्दन 4. नन्दशालिक 5. नन्दीश 6. मन्दर 7. श्रीवृक्ष 8. अमृतोद्भव–

हिमवान् हेमकूटश्च कैलासः(कैलाशः ?) पृथिवीजयः।

इन्द्रनीलोर्महानीलो भूधरो रत्नकूटकः ॥ 2 ॥

9. हिमवान 10. हेमकूट 11. कैलास 12. पृथिवीजय 13. इंद्रनील 14. महानील 15. भूधर 16. रत्नकूटक–

वैडूर्यः पद्मरागश्च वज्रको मुकुटोज्ज्वलः ॥

ऐरावतो राजहंसो गरुडो वृषभध्वजः ॥ 3 ॥

17. वैडूर्य, 18. पद्मराग 19. वज्रक 20. मुकुटोज्ज्वल 21. ऐरावत 22. राजहँस 23. गरुड 24. वृषभध्वज तथा–

मेरुः प्रासादराजश्च(प्रासादराजः स्याद् ?) देवानामालयो हि सः।

ब्रह्म–विष्णु–शिवार्काणा–मन्येषां(नान्यषां च ?) न कदाचन ॥ 4 ॥

25. मेरु प्रासाद। इनमें मेरु प्रासाद को प्रासादों में राजा तुल्य माना गया है। इसमें विविधदेवों का निवास होता है। इसलिए इसका निर्माण ब्रह्मा, विष्णु और शिव के निमित्त करवाना श्रेयस्कर है किंतु अन्य देवों के लिए इसका निर्माण नहीं करवाना चाहिए।

उक्त श्लोक अपराजितपृच्छा के 'केशर्यादिसान्धारप्रासादनिर्णय' संज्ञक 159वें सूत्र से क्रमशः 3–6 हैं। प्रासादमण्डनम् का यह अध्याय उक्त सूत्र पर ही आधारित

है। इसका आरंभ करते हुए भुवनदेवाचार्य ने कहा है कि इन केसरी आदि प्रासाद पर्वतीय उपमा वाले हैं, इनके शिखर को विविधाकार अण्डकों से विभूषित करना चाहिए– सान्धारांश्च ततो वक्ष्ये प्रासादान् पर्वतोपमान्। शिखरैर्विविधाकारैर्नैकाण्डैश्च विभूषितान् ॥ [१]

भुवनदेव ने यह भी कहा है– संयोगेन च सान्धारान् कथयामि यथार्थतः ॥ दशहस्तादधस्तात्र प्रासादो भ्रमसंयुतः। षट्त्रिंशान्तं निरन्धाराः घाट्ये वेदादि हस्ततः ॥ पञ्चविंशतिः सान्धाराः प्रयुक्ता वास्तुवेदिभिः। भ्रमहीनास्तु ये कार्याः शुद्धच्छंदेषु नागराः ॥ चतुरश्रीकृते क्षेत्रे अष्टाष्टकविभाजिते। भागभागं भ्रमभित्तिर्द्विभागो देवतालयः ॥ निरन्धारे पदा भित्तिरर्धं गर्भं प्रकल्पयेत्। मध्यच्छन्दश्च वेदाश्रो बाह्ये कुम्भायतं शृणु ॥ [२]

प्रासादशृङ्गसङ्ख्यानि–

आद्यः पञ्चाण्डको$_5$ ज्ञेयः(देय ?) केसरीनाम नामतः।

चतुर्णां क्रमतो(तावदन्तं चतुः ?) वृद्धिर्यावदेकोत्तरं शतम्$_{100}$ ॥ 5 ॥[३]

जैसा कि कहा गया है, इन पच्चीस प्रासादों में केसरी प्रथम प्रासाद है। यह पञ्चाण्ड या पाँच शृङ्ग युक्त होता है। इसकी रचना पञ्चशिखरान्वित होती है जो चारों ही कर्णों सहित मुख्य शिखर से युक्त होता है। इसके अनुसार यदि चार-चार शृङ्ग सर्वतोभद्र, नन्दनो आदि सभी पच्चीस प्रासादों पर क्रमशः बढाते जाएं तो अंतिम मेरु प्रासाद पर कुल एक सौ शृङ्ग बनेंगे।

अथ अष्टादीनां विभागस्य तलमानं–

क्षेत्रऽष्टांशैर्विभक्ते$_8$ तु कर्णो भागद्वयं$_2$ भवेत्।

भद्रार्द्धं कर्णतुल्यञ्च भागेनैकेन निर्गमः ॥ 6 ॥

अब इन प्रासादों के लिए अष्टादि विभागीय तालमान के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। प्रासाद के समचोरस या चतुरस्र तल के आठ भाग करें और उन भागों में से दो भाग के कर्ण और दो ही भाग के भद्रार्ध की रचना करें। इनका निर्गम एक-एक भाग रखना चाहिए।

---

१. सूत्र 159, 1
२. वही 6–10
३. यह श्लोक अपराजितपृच्छा के उक्त सूत्र में द्वितीय क्रम पर है।

दश च द्वादशतलमानं–

दशांशे$_{10}$ सार्द्धं$_{1॥}$भागश्च भद्रार्द्धश्च प्रतिरथे:।

कर्णो(: ?) द्विभागः सूर्यांशे(सूयंशे ?) भद्रार्द्धं च प्रतिरथः(के ?)॥ 7॥

यदि चतुरस्र तल के दस भाग करने हों तो उनमें से डेढ़ भाग का भद्रार्ध और इतना ही प्रतिरथ तथा दो भाग के कर्ण बनाएं। इसी प्रकार यदि चतुरस्र के द्वादश भाग करने हों तो कर्ण को दो भाग का, दो का ही भद्रार्ध और इतना ही प्रतिकर्ण बनाना चाहिए।

चतुर्दशविभागतलमानं–

चतुर्दश$_{14}$ विभक्ते तु कर्णाद्यं द्वादशांशवत्$_{12}$।

भद्रपार्श्वद्वये कार्या भागभागेन नन्दिका॥ 8॥

यदि चतुरस्र के चौदह भाग करने हो तो उन में से कर्णादि रचनाओं के लिए मान को द्वादश तल विभागानुसार ही रखना चाहिए। आशय यह है कि दो-दो भाग के कर्ण, प्रतिकर्ण और भद्रार्ध बनाएं। ये कुल द्वादश भाग हैं। इसमें भद्र के उभयपार्श्व में एक-एक भाग की नंदिका अथवा कोणिका बनाएं तो कुल चौदह भाग हो जाते हैं।

षोडशविभागतलमानं–

षोडशांशे$_{16}$ प्रकर्त्तव्या कर्णप्रति रथान्तरे(रथेऽन्तरे ?)।

कोणिका भागतुल्यश्च शेषं चतुर्दशांशवत्$_{14}$॥ 9॥

यदि चतुरस्र के षोडश भाग करें तो वहां पर चौदह विभाग के अनुसार ही कर्ण प्रतिरथादि बनाएं अर्थात् दो भाग पर कर्ण, एक भाग की कोणी, दो भाग पर प्रतिरथ, एक भाग की नन्दी और दो भाग पर भद्रार्ध की रचना करनी चाहिए, इस प्रकार सोलह विभागीय तलमान होता है। इसमें कर्ण प्रतिरथ के मध्य में एक-एक भाग की कोणिका बनानी चाहिए।

अष्टादशविभागतलमानं–

अष्टादशांशे$_{18}$ भद्रस्य पार्श्वे द्वे$_2$ द्वे$_2$ च नन्दिके।

कर्त्तव्यैर्भागभागैश्च शेषं स्यात् षोडशांशवत्$_{16}$॥ 10॥[१]

यदि प्रासाद में चतुरस्र के अठारह भाग करने पड़ें तो वहां भद्र के दोनों ओर एक-एक भागमान से नन्दी की रचना करें। अन्य अङ्गों को षोडश विभागीय तलमान के अनुसार ही बनाना चाहिए अर्थात दो भाग का कर्ण, कोणी एक, प्रतिरथ दो, नन्दी एक, द्वितीय नन्दी एक तथा भद्रार्ध को दो भाग का बनाएँ। ये अठारह विभक्त तलमान कहे जाते हैं।

विंशविभागतलमानं–

चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे विंशत्यंश$_{20}$ विभाजिते(विवर्जिते ?)।

कर्णो द्विभागः$_2$ कोणी च(नंदिका ?) सार्द्धांशा$_{1॥}$ पृथुविस्तरैः॥ 11॥

प्रासाद के लिए यदि चतुरस्र को बीस भागों में विभाजित करना पड़े तो वहां पर दो भाग का कर्ण और डेढ़ भाग की कोणी बनाकर उसे विस्तार दें।

द्वि$_2$ भागस्तु प्रतिरथो नन्दिका सार्द्ध$_{1॥}$भागिनः(का ?)।

भद्रनन्दी(नन्दा ?) भवेद्भागा भद्रार्द्धं युग्म$_2$भागिकम्(का ?)॥ 12॥

उपर्युक्त बीस विभागीय तल पर दो भाग का प्रतिरथ, डेढ़ भाग पर नन्दिका, एक भाग की भद्र-नन्दी तथा दो भाग पर भद्रार्ध की रचना करें।

द्वाविंशविभागतलमानं–

द्वाविंशत्यंशके$_{22}$(कृते ?) नन्दी(नन्द्ये ?) भागैकाः$_1$ भद्रपार्श्वयोः॥

त्रयः$_3$ प्रतिरथाः कर्णो(कर्णौ ?) भद्रार्धश्च द्वि$_2$भागिकम्॥ 13॥

प्रासाद के लिए चतुरस्र को यदि बाइस भागों में बांटना पड़े तो उस पर एक-एक भाग की नन्दिका भद्र के दोनों ही ओर बनानी चाहिए। इसी पर दो-दो भाग के रथ, प्रतिरथ और उपरथ, कर्ण तथा भद्रार्ध की रचना करें।

अथ तलक्रमानुसारे प्रासादः

एक$_1$ द्वि$_2$ त्रि$_3$ त्रिकं त्रीणि$_3$ वेदा$_4$श्चत्वारि$_4$ पञ्च$_5$ च।

तलेषु क्रमतोऽष्टासु केऽप्याहुः शिखराणि हि(: ?)॥ 14॥

---

१. मातृका 'क' एवं कोलकता पाठ में यह श्लोक का 14वें क्रम पर है।

शिल्पशास्त्र के मतानुसार केसर्यादि प्रासादों का आठ प्रकार से तल विभाजन माना गया है। इनमें से क्रमानुसार एक, दो, तीन, तीन, तीन, चार, चार और पाँच प्रासाद बनते हैं। तल के अनुसार आठ से बाईस विभागीय बंटनकर इनको शिखर सहित बनाया जा सकता है, ऐसा क्षीरार्णव-वृक्षार्णवाकार आदि का मत है।

स्पष्टार्थ चक्र

तल	प्रासाद संख्या	योग
आठ	एक प्रासाद	1
दस	द्वितीय व तृतीय प्रासाद	2
बारह	चतुर्थ, पञ्चम व षष्ठ प्रासाद	3
चौदह	सप्तम, अष्टम और नवम प्रासाद	3
सोलह	दशम, एकादश व द्वादश प्रासाद	3
अठारह	त्रयोदश, चतुर्दश, पञ्चदश व षोडश प्रासाद	4
बीस	सत्रह, अष्टादश, एकोनविंश व विंश प्रासाद	4
बाईस	एकविंश, द्वाविंश, त्र्योविंश, चतुर्विंश व पञ्चविंश प्रासाद	5

अथाऽपराजिताकार मत:

शिखरं त्वेक-वेदैक-षट्-त्रि-वेद-युगद्वयम्।
तलेषु क्रमतः प्रोक्तो मूलसूत्रेऽपराजिते॥ 15॥

प्रासादों में तल विभक्ति के लिए अब शिल्पग्रंथ 'अपराजितपृच्छा' के रचनाकार भुवनदेवाचार्य का मत दिया जाता है। इस मूलसूत्र को निम्नाङ्कित तालिका से समझा जा सकता है-

केसर्यादिप्रासादतल

प्रासाद संख्या	तलविभक्ति
प्रथम प्रासाद	आठ तल
द्वितीय से पञ्चम प्रासाद	दस तल
षष्ठ प्रासाद	द्वादश तल
सप्तम से द्वादश	चतुर्दश तल
त्रयोदश से पञ्चदश	षोडश तल
षोडश से एकोनविंश	अष्टादश तल
विंश से त्रयोविंश	विंश तल
चतुर्विंश व पञ्चविंश	द्वाविंश तल

अथ तलानुसारे प्रासाद:

तलेष्वष्टासु$_{18}$ विहिताः प्रासादाः पञ्चविंशतिः$_{25}$।
त्रय$_3$स्त्रयः$_3$ क्रमेणैव चत्वार$_4$स्त्वष्टमे$_8$ तले॥ 16॥

यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि केसरी आदि पच्चीस प्रासादों के सम्बन्ध में जो आठ तल विभक्ति का वर्णन किया गया है, उनमें प्रति तलानुसार तीन-तीन प्रासाद हो सकते हैं और आठवाँ बाईस विभक्ति तलाधारित चार प्रासादों की गणना होती है।

स्वकीयमत-

त्रीणि$_3$ त्रीणि$_3$ स्वकीयानि(यांति ?) द्वे$_2$ द्वे$_2$ परः परस्य च।
शिखराणि विधेयानि विश्वकर्मवचो यथा॥ 17॥

यहां मण्डन का कहना है कि पूर्वोक्त श्लोक में तल विभक्त्यानुसार तीन-तीन प्रासादों के निर्माण का जो मत है, वह मेरा अपना है जबकि आगे तल विभक्ति पर दो-दो प्रासाद का जो मत कहा जा रहा है, वह अन्य ग्रंथों का है। यहां सभी पच्चीस प्रासादों के शिखर विधानपूर्वक निर्माण का निर्देश विश्वकर्मा प्रवर्तित नियमानुसार कहा गया है।

अन्यच्च:

द्वि$_2$द्व्यैक$_{2-1}$(द्विर्त्र्येक् ?) षट्$_6$त्रयोष्टादि$_8$ तलेषु पञ्चसु$_5$ क्रमात्।
सप्तैव$_7$ सप्तमे$_7$ षष्ठे$_6$ शिरांसि त्रीणि$_3$ चाष्टमे$_8$ (चोष्टमे ?)॥ 18॥

आठ तल विभाजनानुसार प्रथम पाँच तल विभाजन के क्रम से दो, दो, एक, छह तथा तीन प्रासाद होते हैं। षष्ठ तल विभाजन का एक प्रासाद, सात तल विभाजन से सात तथा अष्ट तल विभाजन से तीन प्रासादों की रचना होती है।

भेदाः पञ्चाश$_{50}$देकैकं(क ?) प्रोक्ताः श्रीविश्वकर्मणा।
तेनैक$_1$स्मिंस्तलेऽपि स्युः शिखराणि बहून्यपि॥ 19॥

आदि सूत्रधार विश्वकर्मा ने केसरी आदि सभी प्रासादों के पचास भेद किए हैं। इनमें एक ही प्रासाद तल पर अनेकानेक शिखरों का निर्माण भी किया जा सकता है।

अथ प्रासादालङ्करणनिर्देश:

रथिकां सिंहकर्णञ्च भद्रे कुर्याद्गवाक्षकान्।

प्रत्यङ्गैः तिलकाढ्यैश्च शोभितं(सोमितं ?) सुरमन्दिरम्॥ 20॥

सुर मन्दिरों का रथिका, सिंहकर्ण, भद्र में गवाक्ष, प्रत्यङ्ग तथा तिलक से अलङ्करण किया जाना चाहिए। रथिकादि प्रासादाङ्गों को देवालयों का आभूषण तुल्य माना गया है।

प्रासादाः केसर्याद्याश्च(केसरीमुख्या, मुखा ?) सर्वदेवेषु पूजिताः।

पुरराज्ञ:(राज्ञो ?) प्रजादीनां कर्त्तुः(कत्तुः) कल्याणकारिकाः॥ 21॥

इति केसर्यादिप्रासादाः पञ्चविंशतिः।

उक्त केसर्यादि पच्चीस प्रासाद सभी देवताओं के लिए पूजित स्वीकारे गए हैं। इसलिए इनका निर्माण किए जाने पर वे राजा ही नहीं, जन सामान्य के लिए भी कल्याणकारी होते हैं। इस प्रकार यहाँ केसरी आदि पच्चीस प्रसादों के विषय में कहा गया है।

निरन्धारप्रासादमाह–

षट्त्रिंशत्$_{36}$ करतोऽधस्ताद्यावद्ध(र्द्ध ?)स्तचतुष्टयम्$_{4}$।

विना भ्रमै(श्रमै ?)र्निरान्धाराः कर्त्तव्याः शान्तिमिच्छिता।। 22॥

ऐसे प्रासाद जिनका विस्तार मान चार से छत्तीस हाथ पर्यन्त होता है, उनका निर्माण शान्ति के अभिलाषी शिल्पी व्यक्ति परिक्रमण या भ्रम रहित और निरंधार या प्रकाश रहित भी कर सकता है।

पञ्चविधतलक्षेत्राणि–

वास्तोः(वास्तु ?) पञ्चविधं$_{5}$ क्षेत्रं(त्रे ?) चतुरस्त्रम् तथायतम्।

वृत्तं वृत्तायतञ्चैवाष्टास्त्रं देवालयादिषु(अष्टास्त्रंदेवस्यालयम् ?)॥ 23॥

प्रासाद तलाकृति के सम्बन्ध में कहा गया है कि 1. चतुरस्त्र, 2. लम्ब चतुरस्त्र, 3. वृत्त, 4. लम्बवृत्त तथा 5. अष्टकोणीय– ये देवालय के पञ्चविध वास्तुक्षेत्र अथवा प्रासाद तलाकृतियाँ कही गई हैं।

अथ लम्बचतुरस्त्रप्रसाद:

विस्तारे तु चतुर्भाग$_{4}$मायामे पञ्च$_{5}$भागिकम्(के ?)।

ऊर्ध्वं त्रि$_{3}$कलशान् कुर्यात् पृष्ठाग्रे सिंहकर्णकम्॥ 24॥

अब उक्त प्रासादों पर अङ्गविन्यास के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। लम्ब चतुरस्त्र प्रासाद के विस्तार में चार भाग तथा लम्बाई में पाँच भाग करें एवं छाद्य पर तीन कलश रखना चाहिए। इसके पृष्ठाग्र में चतुर्दिश सिंहकर्ण की रचना होती है।

वृत्तलम्बवृत्त चाष्टास्त्रप्रसाद:

वृत्तायतञ्च(तेथ ?) कर्त्तव्यं व्यासार्द्धं वाम-दक्षिणे।

कर्णांतं(कर्णये ?) च भ्रामते वृत्तं वृत्ते भद्राणि चाष्ट हि(कोणिका)॥ 25॥

वृत्तप्रासाद के विस्तार का अर्द्ध हिस्सा वृत्त के दोनों ही ओर विस्तृत करें तो बनने वाला प्रसाद 'वृत्तलम्ब' हो जाता है। इसमें तल के बीचो बीच से कर्ण तक आधे व्यास को मानकर एक वृत्त खींचे तो प्रासादतल 'वृत्त' होता है। चतुरस्त्र प्रासाद के चार भद्रों में यदि भद्र (कर्ण ?) की रचना करें तो उसकी संज्ञा 'अष्टास्त्र' होती है।

तथाच्च–

प्रासादो वर्त्तुलोऽष्टास्त्रः प्रायेणैकाण्डकः शुभः।

कर्णे वा श्रेणयोऽण्डानां(श्रेणइंडानां ?) मण्डपं तत्स्वरूपकम्॥ 26॥

इति पञ्चविधक्षेत्राणि।

यह स्मरणीय है कि वर्तुल या वृत्त तथा अष्टास्त्र प्रासाद को प्रायः एक ही अण्डक या एक शिखरान्वित ही बनाना अच्छा रहता है। इनमें शिखर के कर्णों में शृङ्गावली भी बनाई जा सकती है। इनमें इसी भांति मण्डप की रचना भी की जानी चाहिए।

अधुना नागरप्रासाद:

विविधै(विचित्रै ?) रूपसङ्घाटै(रूपसंङ्घातै ?)र्भद्रैर्गवाक्षभूषितैः।

वितान-फालना-शृङ्गैरनेकैर्नागरा मताः ॥ 27 ॥

नागर संज्ञक प्रासादों को विविध या विचित्र तलाकृतियुक्त सङ्घाट स्वरूपों, गवाक्षों, भद्रों और गवाक्षों के साथ-साथ वितान, शृङ्गमिश्रित फालनाओं से सुशोभित किया जाना चाहिए।

द्राविडप्रासादः

पीठोपरि भवेद्वेदी पीठानि त्रीणि$_3$ पञ्च$_5$ च(वा ?)।

पीठतो द्राविडे रेखा लता-शृङ्गादिसंयुता(: ?) ॥ 28 ॥

द्राविड़ या दक्षिण भारतीय मन्दिर शैली के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनमें आधार पर ही तीन और पाँच पीठ पर वेदी का निर्माण करें। पीठ की रेखा या कोने को लता, शृङ्गों से युक्त किया जाता है।

काश्यपशिल्पम् में कहा गया है- स्वाधिष्ठानसमोच्चं वा त्रिपादं सार्धमेव वा॥ पञ्चभागेऽग्रिभागं वा सपादं सार्धमेव वा। पादोनादिगुणं वाऽथ द्विगुणं वा विशेषतः॥ एवंमष्टविधः ख्यात उपपीठोदयो द्विज। दशधा भज्याधिष्ठानमेकद्वित्रिचतुष्टयम्॥ १

भूमिजप्रासादः

भूमिको(भूमिका ?)परिभूमिश्च ह्रस्वा-ह्रस्व(ह्रस्वावर्क) नवान्तकम्$_9$।

विभक्त(विभक्ति ?)दलसंयुक्ता मूर्ध्नि शृङ्गेण भूमिजाः ॥ 29 ॥

भूमिज संज्ञक प्रासादों का निर्माण ऊर्ध्वोत्तर एक से नौ भूमि तक किया जा सकता है। इनमें आधार से लेकर ऊपर तक की भूमियों को क्रमशः क्षीण रखा जाता है। पद विभक्तियुक्त किंतु शीर्ष शृङ्ग वाले हों- ऐसे प्रासाद भूमिज कोटि वाले होते हैं।

अथ लतिनश्रीवस्तनागरादीनां-

शृङ्गेणैकेन(लेकेन ?) लतिनाः श्रीवत्सावारिसंयुताः(म्बुपथान्विताः ?)।

नागरा भ्रमसंयुक्ताः साधारास्ते प्रकीर्त्तिताः ॥ 30 ॥

इति प्रासादानां जातय।

---

१. (5, 1-3) विशेष द्रष्टव्य समराङ्गणसूत्रधार पीठपञ्चकलक्षण तथा द्राविडप्रासादलक्षण नामक अध्याय।

एक शृङ्गयुक्त प्रासादों को लतिन संज्ञक, जलमार्ग युक्त प्रासादों को श्रीवत्स और परिक्रमण पथ युक्त अथवा सान्धार प्रासादों को नागर संज्ञक कोटि का प्रासाद माना जाता है। इस प्रकार ये प्रासादों की जातियाँ कही गई हैं।

अधुना मेरुप्रासादः

पञ्च$_5$हस्तो भवेन्मेरुरेकोत्तरशताण्डकः$_{100}$।

भेदाः पञ्चोनपञ्चाशत् करवृद्ध्या भवन्ति ते ॥ 31 ॥

पाँच हाथ विस्तार वाला प्रासाद 'मेरुप्रासाद' कहा जाता है, इसे पाँच हाथ से कम नहीं बनाया जाता। मेरुप्रासाद पर सौ अण्डक या शृङ्ग की रचना की जाती है। यदि पाँच के बाद पचास हाथ तक इसका विस्तार किया जाए तो इसके पैंतालीस भेद हो जाते हैं।

हस्ते-हस्ते भवेद्वृद्धिस्त्वण्डकानाञ्च विंशतिः$_{20}$।

एकोत्तरसहस्रं$_{1001}$ स्यात् शृङ्गाणाञ्च शतार्द्धके$_{50}$ ॥ 32 ॥

उक्त प्रासाद में एक-एक हाथ के विस्तार पर क्रमशः बीस-बीस शृङ्गों की रचना विशेष रूप से की जानी चाहिए। इस प्रकार बीस-बीस शृङ्गों की वृद्धि करते जाने से पचास हाथ के मेरु प्रासाद पर एक हजार एक शृङ्ग हो जाते हैं। इसकी गणना इस प्रकार होगी कि पाँच हाथ के विस्तार के मेरुप्रासाद पर 101, छह हाथ पर 121, सात हाथ पर 141, आठ हाथ पर 161, नौ हाथ पर 181 शृङ्ग होगें। यही क्रम पैंतालिस प्रसाद या पचास हाथ तक बढ़ाते रहने पर क्रमशः अन्तिम प्रासाद पर 1001 शृङ्ग होंगे।

अधुना विमाननागरः

केसरि(केसरी ?)प्रमुखाः कर्णे विमानाञ्चोरुशृङ्गकम्(मुरुशृङ्गकम् ?)।

तथैव मूलशिखरं पञ्च$_5$भूमिविमानकम् ॥ 33 ॥

केसरी प्रासादानुसार जिस देवालय के कर्णों पर अनेकानेक शृङ्ग निर्मित हों एवं भद्र पर उरुशृङ्गों का निर्माण हो और यदि मूल शिखर पञ्चभूमि वाला विमानवत् हो।

विमाननागरं जातिस्तदा प्राज्ञैरुदाहृता।

एवं(एक ?)शृङ्गेषु(शृङ्गोरु ?)शृङ्गाणि सम्भवन्ति बहून्यपि ॥ 34 ॥

उपर्युक्त निर्माण स्वरूप वाले प्रासाद को वास्तुविदों ने विमाननागर संज्ञक प्रासाद कहा है। इस कोटि के प्रासाद पर नाना प्रकारेण शृङ्ग व उरुशृङ्ग बनाए जाते हैं।

अथ मेरुप्रासादजातय:

श्रीमेरुरष्ट$_{8}$ भाग: स्यादेकोत्तरशताण्डक:$_{100}$ ।

अब मेरु प्रासाद के नौ विभिन्न भेदों का वर्णन किया जा रहा है। सर्वप्रथम 'श्रीमेरु' प्रासाद अष्टतल विभाजनयुक्त होता है। इसमें सौ शृङ्गों की संरचना होती है।

हेमशीर्षमेरौ–

हेमशीर्षो(र्षे ?) दशांश$_{10}$श्च(स्यात् ?) युत: सार्द्ध शताण्डके$_{150}$ ॥ 35 ॥

द्वितीय 'हेमशीर्ष' मेरुप्रासाद दसतल विभाजन वाला होता है जिसमें डेढ़ सौ शृङ्गों का निर्माण किया जा सकता है।

सुरवल्लभमेरौ–

भागैर्द्वादश$_{12}$भिर्युक्त: सार्द्धद्विशत$_{250}$ संयुत: ।

सुरवल्लभनामा तु(तं ?) प्रोक्तं श्रीविश्वकर्मणा ॥ 36 ॥

तृतीय 'सुरवल्लभ' संज्ञक मेरुप्रासाद का निर्माण द्वादश तल विभाजन पूर्वक किया जा सकता है, इसका निर्देश पूर्वकाल में विश्वकर्मा ने किया है।

कर्णो(कोणो ?) द्विभाग$_{2}$ एकांशा$_{1}$ कोणी सार्द्ध: प्रतीरथ: ।

अर्द्धांशा नन्दिका भद्रमर्द्धभागेन सम्मितम्(संयुतम् ?) ॥ 37 ॥

सुरवल्लभ मेरुप्रासाद में दो भाग का कर्ण, एक अंश की कोणी, डेढ़ भाग का प्रतिरथ, पुन: आधे भाग पर कोणी व एक भाग का भद्रार्ध, इस प्रकार द्वादश तल विभाजन किया जाता है।

भुवनमण्डनमेरौ–

त्रिशतं पञ्चसप्तत्या$_{375}$धिकैर्यत्राण्डकै: सह(यस्याण्डकानि हि ?)।

भक्तश्चतुर्दशांशैस्तु$_{14}$ नाम्ना भुवनमण्डन: ॥ 38 ॥

चतुर्थ प्रासाद 'भुवनमण्डनमेरु' है और इसमें 375 शृङ्गों का निर्माण किया जाता है। इसके लिए तल का चौदह विभाजन करना चाहिए।

कोण:(?) कोणी प्रतिरथो नन्दी भद्रार्द्धमेव च।

द्व्ये$_{2}$क$_{1}$द्व्य$_{2}$र्धांशै: $_{॥}$ सार्द्धांशै$_{1॥}$श्चतुर्दश$_{14}$विभाजिते ॥ 39 ॥

भुवनमण्डन मेरु प्रासाद के चौदह तलविभक्ति पर दो भाग का कर्ण, एक भाग पर कोणी, दो भाग पर प्रतिरथ, आधे भाग पर कोणी तथा डेढ़ भाग का भद्रार्ध बनाना चाहिए।

रत्नशीर्षमेरौ–

बाणै$_{5}$क$_{1}$वेद$_{4}$युग्मांशा$_{2}$ वेदा:$_{4}$ कर्णादिभागत:(गर्भत:)।

रत्नशीर्षो(रत्नेशीर्षो ?) भवेन्मेरु: पञ्चशतैक$_{501}$शृङ्गकै: ॥ 40 ॥

पञ्चम प्रकार के मेरुप्रासाद का नाम 'रत्नशीर्ष' है, इसमें तल को बत्तीस भागों में आबंटित कर पाँच भाग पर कर्ण, एक भाग पर कोणी, चार भाग पर प्रतिरथ, दो भाग की नन्दी और चार भाग पर भद्रार्ध बनाना चाहिए। इस प्रासाद के शिखर को 501 शृङ्गों से युक्त करना चाहिए।

किरणोद्भवमेरौ–

गुणै$_{3}$क$_{1}$युग्म$_{2}$चन्द्र$_{1}$(ा ?)द्वौ$_{2}$ पुराणांशै$_{18}$ विभाजिते(विंशभाजिते ?)।

किरणोद्भवमेरुश्च सपादषट्शताण्डक:$_{625}$ ॥ 41 ॥

मेरु प्रासादों की कोटि का षष्ठ प्रासाद 'किरणोद्भव' संज्ञक है जिसके लिए तल के अठारह भाग करें और तीन भाग पर कर्ण, एक भाग की कोणी, दो भाग का प्रतिरथ, एक भाग की नन्दी और दो भाग पर भद्रार्ध की रचना करनी चाहिए। इस सपाद प्रासाद पर छह सौ अण्डक या शृङ्ग का विधान करें।

कमलहंसमेरौ–

राम$_{3}$चन्द्र$_{1}$द्वि$_{2}$युग्मांशै:$_{2}$ नेत्रै$_{2}$र्विंशति$_{20}$भाजिते।

नाम्ना कमलहंस: स्यात् सार्द्धसप्तशताण्डक:$_{750}$ ॥ 42 ॥

सप्तम कोटि के 'कमलहंस' नामक मेरु प्रासाद के लिए तल के बीस भाग करें और उनमें से तीन भाग का कर्ण, एक भाग की कोणी, दो भाग पर का प्रतिरथ, दो भाग की नन्दी तथा इतना ही भद्रार्ध बनाएं। कमलहंस प्रासाद पर सात सौ पचास शृङ्गों की स्थापना होती है।

स्वर्णकेतुमेरौ–

भागैः कर्णादिगर्भान्तं वैदा$_4$र्द्ध$_{II}$सार्द्धत्र्ये$_{3II}$कांशैः$_1$।[१]

द्वाभ्यां$_2$ च(वै ?) स्वर्णकेतुश्च (स्यात् ?) पञ्चसप्ताष्टशृङ्गकैः$_{875}$ ॥ 43 ॥

स्वर्णकेतु संज्ञक आठवें मेरु प्रासाद के लिए तल के बाईस भाग करें और उनमें से चार भाग का कर्ण, आधे की कोणी, साढे तीन का प्रतिरथ, एक भाग की नन्दी और दो भाग का भद्रार्ध बनाएं। स्वर्णकेतु मेरु प्रासाद पर 875 शृङ्ग बनाए जाते हैं।

वृषभध्वजमेरौ–

वेदै$_4$क$_1$राम$_3$युग्मांशेः$_2$ नेत्रै$_2$र्जिन$_{24}$(नैत्रेजन ?) विभाजिते।

वृषभध्वजमेरुश्च सैकाण्डकसहस्रवान्$_{1001}$ ॥ 44 ॥

मेरु प्रासादों की कोटि में नवम प्रकार का प्रासाद 'वृषभध्वज' है जिसमें तल के चौबीस भाग करें। इनमें से कर्ण, कोणी, प्रतिरथ, नन्दी तथा भद्रार्ध को क्रमशः चार भाग, एक, तीन तथा दो-दो भाग की बनाना चाहिए। इस प्रासाद को एक सहस्र शृङ्ग वाला बनाना चाहिए।

सभ्रमो(संभ्रमो ?) भ्रमहीनश्च(स्य ?) महामेरुर्भ्रमद्वयम्$_2$।

सान्धारेषु प्रकर्त्तव्यं भद्रे चन्द्रावलोकनम्(भद्राविलोकनम् ?) ॥ 45 ॥

पूर्वोक्त नौ महामेरु प्रासाद होते हैं जिन्हें परिक्रमण पथ सहित और परिक्रमण पथ रहित भी बनाया जा सकता है। इनको दो परिक्रमण पथ युक्त भी बनाया जा सकता है। यदि दो परिक्रमणपथ या भ्रमयुक्त सान्धार प्रासादों का निर्माण किया जाए तो उनमें भद्र में गवाक्ष, जाली या चन्द्रावलोकन अवश्य बनाने चाहिए।

राज्ञश्च(स्यात् ?) प्रथमो मेरुस्ततो हीनोऽन्यवर्णज(द्विजादिकः ?)।

विना राज्ञोऽन्यवर्णन कृतो मेरुर्महाभयम्(मेरौ महद्भयम् ?) ॥ 46 ॥

इति नवमेरुलक्षणम्।

१. कोलकता पाठांतर है- भागैकनिर्गमा भित्तिर्वेदसार्द्धत्रिसार्धकैः। 'क' मातृका में यह रूप है- भागैकर्णादिगर्भति वेद सार्द्ध त्रिसार्द्धकै।

राजाओं को मेरुप्रासाद का निर्माण नहीं करना चाहिए और न ही अन्य वर्णवालों या धनाढ्य को भी इसे बनाना चाहिए। यदि विशेष स्थिति में इसका निर्माण करना भी पड़े तो राजा के साहचर्य से इसे पूरा करना चाहिए, अन्यथा यह निर्माण भय का कारण बनता है।

इति श्रीसूत्रधार मण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने

केसर्यादिप्रासादजातिलक्षणपञ्चक्षेत्र पञ्चचत्वारिंशन्मेरुलक्षणे षष्ठोऽध्यायः ॥ 6 ॥

॥ सप्तमोऽध्यायः ॥

मण्डप-बलाणक संवरणाधिकाराख्यः

अध्यायारम्भेमङ्गलम्-

रत्नगर्भाङ्कन(कणं ?) सूर्य-चन्द्र-तारावितानकम्।

विचित्रम् मण्डपम् येन कृतं(क्रतं ?) तस्मै नमः सदा ॥ 1 ॥

(अध्यायारम्भ में ग्रंथकार मण्डन का कथन है कि) अपने गर्भ में रत्नाङ्कन आकर वाली पृथ्वी और सूर्य, चन्द्रमा तथा तारे के समान तेज वाले वितान, इस प्रकार के विचित्र मण्डपों के आद्य रचयिता सर्वेश्वर को सदैव नमस्कार है। आशय यह है कि रत्नगर्भा पृथ्वी पर सूर्य, चंद्रमा तथा तारों से युक्त आकाशीय मण्डप रचना वाले विश्वकर्मा सदा ही प्रणम्य है।

अथ मन्दिराग्रे मण्डपविधयः

कर्णगूढो विलोक्याश्च(स्य ?) एक$_1$ त्रि$_3$ द्वारसंयुताः(युतः ?)।

प्रासादाग्रे प्रकर्त्तव्याः सर्वदेवेषु मण्डपाः ॥ 2 ॥

(अब मन्दिरों के गर्भगृह के आगे बनाए जाने वाले मण्डपों के विषय में कहा जाता है कि) कर्णगूढ़ा या दीवारयुक्त या बिना दीवार वाला खुला और एक या तीन द्वारयुक्त मंडप सभी देवताओं के प्रासाद के अग्रभाग में रखा जाना चाहिए।

जिनमण्डपे विशेषः

गूढस्त्रिकस्तथा(स्त्रीकथिता ?) नृत्यक्रमेण मण्डपास्त्रयः।

जिनस्याग्रे प्रकर्त्तव्याः सर्वेषां तु बलाणकम् ॥ 3 ॥

जिनालय या तीर्थङ्करालय के गर्भगृह के अग्रभाग में तीन मण्डप, क्रमशः गूढ़ मंडप, त्रिक् मण्डप तथा नृत्य मंडप बनाने चाहिए। अन्य देवताओं के गर्भगृह के अग्रभाग में बलाणक बनाएँ।

पञ्चविधमण्डपकथनम्

समं सपादं प्रासादात् (:) सार्द्ध पादोन(त!)द्वयम्।

द्विगुणं वा प्रकर्त्तव्यं मण्डपं पञ्चधा$_5$ मतम् (: ?) ॥ 4 ॥

मण्डप का प्रमाण प्रासाद के समान, सवाया, डेढ़ा, पौने दो गुना या दोगुना रखा जाता है। मण्डप के उपर्युक्त पाँच प्रमाण कहे गए हैं।

उक्त मत अपराजितपृच्छा के 'समस्तमण्डपनिर्णय सूत्र' के अनुसार है। भुवनदेवाचार्य ने गर्भाग्र के अग्रभाग में स्थापेय सात प्रकार के मण्डपों का निर्देश किया है जिसमें उक्त प्रमाणों के अतिरिक्त सवा दोगुना एवं ढाई गुना प्रमाण भी सम्मिलित हैं- अथातः सम्प्रक्ष्यामि मण्डपानां तु लक्षणम्। प्रासादस्य प्रमाणेन मण्डपं कारयेद्बुधः ॥ समं सपादं सार्धं च पादोनद्वयमेव च। द्विगुणं चाऽपि कर्तव्यं सपादद्वयमेव च ॥ सार्धद्वयं तु कर्तव्यमत ऊर्ध्वं न कारयेत् सप्तधा प्रमाणसूत्रं वास्तुविद्भिरुदाहतम् ॥ [१]

मण्डपमानकथनम्-

समं सपादं पञ्चाश$_{50}$त्पर्यन्तं दश$_{10}$हस्तकात् (कम् , तः ?)।

दशान्तं$_{10}$ पञ्चतः$_5$ सार्द्धं$_{1॥}$ द्विपादोन$_{1।।।}$ चतुष्करे$_4$ ॥ 5 ॥

त्रिहस्ते$_3$ द्विगुणं द्वये$_2$क$_1$हस्ते कुर्याच्चतुष्किकाम्।

प्रायेण मण्डपं सार्द्धं$_{1॥}$ द्विगुणं$_2$ प्रत्य(प्रति ?)लिन्दकैः ॥ 6 ॥

दस हाथ से लेकर पचास हाथ तक के प्रासाद के लिए यह प्रमाण है कि उसमें समान या सवाया, पाँच हाथ से दस हाथ तक के प्रासाद के लिए डेढ़ा, चार हाथ के प्रासाद के लिए पौने दो गुना तथा तीन हाथ के विस्तार वाले प्रासाद के लिए दोगुना मण्डप बनाया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त दो तथा एक हाथ के प्रासाद के लिए केवल चतुष्किका अथवा चौकी बनाएँ। मण्डप का प्रमाण डेढ़ा अथवा दोगुना अलिन्द के अनुसार ही रखा जाना चाहिए।

अपराजितपृच्छा में भी कहा गया है- पञ्चहस्तात्परं चैव यावत्स्याद् दशहस्तकम्। सार्धायामं मण्डपं च सृष्टं वै विश्वकर्मणा ॥ चतुर्हस्ते च प्रासादे पादोनद्वयंशविस्तरः। त्रिहस्ते द्विगुणश्चैव तद्विशिष्टा चतुष्किका ॥ चतुष्कं वाऽपि चाष्टांश शुकस्तम्भानुसारतः। वितानं वै संवरणा चोर्ध्वमानेन मण्डपे ॥ अलिन्दैर्द्विगुणैश्चाऽत्र द्विगुणं च प्रकल्पयेत्।

---

१. सूत्र 185, 1-3

द्वौत्रयश्चत्वारोऽलिन्दा द्विगुणात्परमण्डपे ?॥ वितानानि संवरणा विभक्तानि चतुष्किका ?। स्वके स्वके च स्थाने तु पादाद्या तद्भक्तिभिः ॥ [१]

घण्टाकलशशुकनाश्च–

मण्डपे स्तम्भपट्टाद्यः मध्यपट्टानुसारतः।

शुकनाससमा घण्टा न्यूना(नुना ?) श्रेष्ठा न चाधिका॥ 7॥

मण्डप में स्तम्भ तथा पट्ट आदि गर्भगृह के पट्ट आादि के अनुसार ही रखे जाने चाहिए। मण्डप के गुमट के घंटा, कलश की ऊँचाई शुकनास के बराबर रखें। यही मान श्रेष्ठ है, इससे न्यूनाधिक नहीं रखें।

आचार्य भुवनदेव का निर्देश है कि शीर्ष के शुकनास के बराबर ही आमलसार कलश की ऊँचाई रखनी चाहिए– शुकनाससमा घण्टा न न्यूना न ततोऽधिका॥[२]

समविषमतलं–

मुखमण्डपसङ्घाटो यदा भित्यन्तरे भवेत्।

न दोष(:) स्तम्भपट्टाद्यैः समं वा विषमं तलम्॥ 8॥

गर्भगृह तथा मुख मण्डप के मध्य में यदि दीवार का अन्तराल हो तो मण्डप में स्तम्भ पट्ट तथा तल सम विषम किया जाए। यह दोषपूर्ण नहीं होगा। उपर्युक्तानुसार गर्भगृह के पट्ट स्तम्भ अनुसार बराबर में मण्डप के पट्ट, स्तम्भ आदि रखा जाए लेकिन उक्त दोनों के ही मध्य में दीवार का अन्तराल हो तो सम विषम रखा जाने पर दोष नहीं माना जाता है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा के इस निर्देश से समतुल्यता लिए है– समं तलं च विषमं सङ्घाटो मुखमण्डपः। भित्यन्तरे यदा स्तम्भपट्टादिर्नैव दूषणम्॥ क्षणमध्येषु सर्वेषु सर्वेषु पदमेकं न दापयेत्। युग्मं च दापयेत्तत्र वेधदोष विवर्जितम्॥ क्षणमध्येषु सर्वेषु स्तम्भमेकं न दापयेत्। दद्याद्युग्माकारमेव मूलगर्भं न पीडयेत्॥ [३]

---

१. वही 5–9
२. वही 10
३. वही 20–22

अथ मुखमण्डपम्–

नवा$_9$ष्ट$_8$दश$_{10}$भागेषु त्रिभिश्चन्द्रावलोकनम्(ने ?)।

हस्तैकं(हस्तकं ?) त्र्यङ्गुलोनं वा तदूर्ध्वं मत्तवारणम्॥ 9॥

मुख मण्डप के लिए निर्देश है कि गर्भगृह के अग्रस्थ मुखमंडप के उदय का साढ़े तेरह, साढ़े चौदह या साढ़े पन्द्रह भाग करें। इनमें से आठ, नौ अथवा दस भाग का चन्द्रावलोकन रखा जाना चाहिए। आसनपट्ट पर एक हाथ या इक्कीस अङ्गुल का मत्तवारण अथवा कठेड़ा बनाया जाए।

मुखमण्डप के लिए अपराजितपृच्छा में स्पष्ट किया गया है– मूलगर्भ समुद्भूतः पट्टो धरः पीठान्तके। दशाष्टनवभागैश्च त्रिधा चन्द्रावलोकना॥ अथ चोच्छ्रयमध्यं चैकविंशत्यङ्गुलोत्रतम्। मत्तावरणशोभाढ्यं कक्षासनं करोत्रतम्॥ (184, 5-6)

सार्द्धपञ्चांश$_{5॥}$कैर्भक्तैः सपादं(ां ?) राजसेनकम्।

सपादत्र्यंशको$_{3।}$ वेदिर्भागेनासनपट्टकम्$_1$(पटकः, पेटकम् ?)॥ 10॥

इसी प्रकार खुले भाग के नीचे से मण्डप के तल तक साढ़े पांच भाग किए जाकर उसमें से सवा भाग का राजसेन, सवा तीन भाग को वेदी तथा एक भाग का आसनपट्ट बनाया जाए।

यह भुवनदेवाचार्य का निर्देश है– शेषं सार्धैः पञ्चभिश्च भागैरेवं प्रकल्पयेत्। राजसेनः सपादः स्यात् सपात्र्यंशा च वेदिका॥ भाग आसनपट्टश्च कूटागारैः समन्वितः। (वही 7–8)

तदूर्ध्वं सप्तसार्द्धांशे$_{7॥}$ यावत् पट्टस्य पेटकम्(के ?)।

सार्द्धं पञ्चांशकै$_{5॥}$ स्तम्भः पादोनं$_{।।।}$ भरणं भवेत्॥ 11॥

भागार्द्धं$_{॥}$ भरणञ्चापि सपादं$_।$ सार्द्धतः$_{1॥}$ शिरः(शरः, सिरः ?)।

इसके बाद आसनपट्ट के ऊपर से पट्ट के तलभाग तक साढ़े सात भाग किए जाकर उनमें से साढ़े पाँच भाग का स्तम्भ रखना चाहिए। उसके ऊपर पौन या आधा भाग की भरण तथा उसके ऊपर सवा अथवा डेढ़ भाग की शिरावटी रखनी चाहिए।

यही निर्देश अपराजितपृच्छाकार का है– तदूर्ध्वे सार्धसप्तांशं यावत् पट्टस्य पेटकम्॥ सार्धपञ्चोच्छ्रयः स्तम्भो घटिपल्लवभूषितम्। भरणं चार्धभागं च सार्धे स्याच्च तथा शिरः॥ पादोनं भरणं चाऽधः सपादं शिर उन्नतम्। एवंविधं प्रकर्तव्यं शीर्षोच्छालकसंयुतम्॥ (वही 8–9)

पट्टो द्विभाग$_2$स्तस्योर्ध्वे कर्त्तव्याश्छाद्यकोदयः ॥ 12 ॥

त्रिभागे$_3$ ललितं(लल, तलत ?)च्छाद्यं तत्पेटं पट्टपेटकैः ।

अर्द्धां$_{II}$शोर्ध्वा कपोतालिर्द्विभागे$_2$ पट्टविस्तरः ॥ 13 ॥

शिर अथवा शिरावटी के ऊपर दो भाग का पाट रखा जाए। इसके ऊपर तीन भाग मान से निकलता हुआ तथा पट्ट के पेटा भाग तक झुका हुआ सुन्दर छाद्य बनाया जाए। इसके ऊपर आधे भाग की कपोताली बनाएँ। पाट का विस्तार दो भाग मान से रखना चाहिए।

मण्डन का यह निर्देश अपराजितपृच्छा के मतानुसार है। तुलनीय है- पट्टं भागद्वयं कुर्यान्मध्योर्ध्वे छाद्यमुन्नतम्। त्रिभागं निर्गमं छाद्ये ललितं पट्टपेटकैः॥ विस्तारस्य दशांशेन हीनां हन्याच्च कर्त्तरीम्। कपोताली चार्धभागा दण्डच्छाद्यं तु मस्तके॥ चतुष्कम् चैव साष्टांशं षोडशांशमथोच्यते॥ द्विभागः पट्टविस्तारस्ततो वृत्तं च भ्रामयेत्॥ (वही 11–13)

स्तम्भविस्तारमानं–

प्रासादाद्(प्रासाद ?) दश$_{10}$रुद्राक्ष$_{11}$भागेन स्तम्भविस्तरः ।

वेदा$_4$ष्ट$_8$रवि$_{12}$विंशत्या$_{20}$ कर्णे वृत्तस्तु पञ्चधा$_5$ ॥ 14 ॥

प्रासाद का जो विस्तार हो, उसके अनुपात में दसवें, ग्यारहवें या बारहवें भाग के समतुल्य स्तम्भ का विस्तार रखा जाना चाहिए। यह स्तम्भ पाँच प्रकार से बनाया जाता है- चतुरस्र, अष्टास्र, द्वादशास्र या बारहकोणीय, विंशास्र या बीसकोणीय तथा वृत्ताकार।

अपराजितपृच्छा में इन स्तम्भों के नाम भी बताए गए हैं। साथ ही पृथक् से प्रासाद के विस्तार के तेरहवें और चौदहवें भाग के बराबर भी स्तम्भ का विस्तार रखने का निर्देश दिया गया है- चतुरस्राश्च रुचका भद्रका भद्रसंयुताः। वर्धमानाः प्रतिरथे तथाऽष्टांशैश्चाष्टाश्रकाः॥ आसानोर्ध्वे भवेद्भद्र भद्रमष्टकर्णैस्तुस्वस्तिकाः। प्रकर्तव्याः पञ्चविधाः स्तम्भाः प्रासादरूपिणः॥ प्रासादस्य दशांशेन स्तम्भानां विस्तरः पृथक्। एकादशांशैः कर्तव्यो द्वादशांशैरथोच्यते॥ त्रयोदशांशैः कर्तव्यः शक्रांशैश्च तथोच्यते। एतन्मानं समुद्दिष्टं स्तम्भानां विस्तरे पृथक्॥ [१]

१. वही 32–35

स्पष्टार्थचक्र

क्रम	स्तम्भकर्ण	संज्ञा
1.	चार कोना वाला	चतुरस्र
2.	भद्रवाला या संयुत	भद्रक
3.	प्रतिरथवाला	वर्द्धमान
4.	आठ कोना वाला	अष्टास्र
5.	आसनोर्ध्व भद्र, आठ कोने	स्वास्तिक

प्राग्ग्रीवमण्डपम्–

द्वाराग्रे स्तम्भवेद्याद्या प्राग्ग्रीवो(प्राग्रिवा ?) मण्डपो भवेत्।

द्वि$_2$द्वि$_2$स्तम्भविवृद्ध्या च षोडशैवं(षोडशा ?) च प्रकीर्त्तिताः ॥ 15 ॥

प्रासाद के द्वार के अग्रभाग में दो स्तम्भ वाली प्रथम वेदी, प्राग्ग्रीव मण्डप है। उसमें दो–दो स्तंभ बढ़ाने से सोलह प्रकार का प्राग्ग्रीव मण्डप बनता है।

मण्डप ने यहां प्राग्ग्रीव मण्डप के लिए संकेतभर दिया है। अपराजितपृच्छा में सोलह प्रकार के प्राग्ग्रीव मण्डपों को नाम क्रमानुसार विस्तार से समझाया गया है- प्रासादस्याग्रतः कार्या लतिनेषु च मण्डपाः।ताननुक्रमतः सूत्र कथयामि यथाविधिः॥ प्राग्ग्रीवश्च चतुष्कश्च सन्मुखस्त्रिजगस्तथा। श्रीधरः पुष्पगश्चैव श्रीपदः त्रियानन्दकः॥ सवराख्यः पृथ्वीधरः पुण्यभद्रो जयन्तकः। शङ्कुपर्णश्च गोविन्दो महाभोगो दिवौकसः॥ द्विरष्ट मण्डपाः प्रोक्ता प्राग्ग्रीवादि समुद्भवाः। छन्दलक्षणसम्युक्ता उक्ता वै सूत्रमार्गतः॥ प्रासादाग्रे तु द्वौ स्तम्भौ प्राग्ग्रीवः परिकीर्तितः। चतुष्कश्च चतुस्तम्भैः षड्भिः स्तम्भैश्च सन्मुखः॥ अष्टस्तम्भैश्च त्रिजगो दशस्तम्भैस्तु श्रीधरः। दक्षिणे त्रिकप्रकारौ स्तम्भा द्वादश पुष्पकः॥ चतुष्किका तदग्रे द्विसप्तस्तम्भैश्च श्रीपदः। द्व्यष्टस्तम्भैः त्रियानंदः संवरोऽग्र चतुष्किकः॥ त्यक्तचतुष्किकः पक्ष प्राग्ग्रीवे पृथिवीधरः। अग्रे च त्यक्तप्राग्ग्रीवश्चतुष्की मध्यतस्था॥ पुण्यभद्रस्तदानाम जयन्तश्चाग्रसंयुतः। पूर्वे तिस्रश्चतुष्क्यश्च शङ्कुपर्णश्च संज्ञितः॥ प्राग्ग्रीवा त्रिपदा पक्षे पूर्वे चैका चतुष्किका। गोविन्दश्च तदा नाम भोगी स्यात्त्रिपदाग्रकः॥ मुक्तकोणेऽथ पूर्वे तु त्रिदशाख्यश्च नामतः। पञ्चपीठो परिकुर्याद् विख्यातान्नृत्यमण्डपान्॥ [१]

१. सूत्र 188, 1–11

अष्टगूढमण्डपाः

भित्तिः प्रासादवद्गूढे(गेहे ?) मण्डपेऽष्टविधेषु च।

चतुरस्त्रः सुभद्रश्च (शुभस्तस्य ?) तथा प्रतिरथान्वितः ॥ 16 ॥

देवगृह में अष्ट प्रकार के गूढ मण्डपों की भित्ति को प्रासाद की थर-संरचना के अनुसार ही निर्मित किया जाना चाहिए। इसको चोकोर, सुभद्र तथा प्रतिरथ संरचना से युक्त किया जाना चाहिए।

मुखभद्रयुतो वापि द्वि$_2$त्रि$_3$प्रतिरथैर्युतः।

कर्णोदकान्तरेनाथ(रेणाथ ?) भद्रोदकविभूषितः ॥ 17 ॥

गूढ मण्डपों की भित्ति के आगे मुखभद्र को दो या तीन प्रतिरथ वाले कर्ण से युक्त करें और फिर भद्रों को अलङ्कृत करना चाहिए। इस प्रकार के आठ गूढ मण्डप बनते हैं। इसमें गूढ मण्डप समचोरस, सुभद्र, प्रतिरथान्वित, मुखभद्र, दो या तीन प्रतिरथ युक्त, कर्ण जलान्तर या भद्र जलान्तर युक्त– ये आठ गूढ मण्डप होते हैं।

गूढमण्डपफालना–

दलेनार्द्धेन पादेन दलस्य नि(नी ?)र्गमो भवेत्।

मूलप्रासाद(वद्) वाह्ये पीठजङ्घादिमेखला ॥ 18 ॥

मण्डपों में फालनाओं के निर्गम के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यह निर्गम अपना चतुर्थ अथवा अर्द्ध भाग का रखें और पीठ, जङ्घा इत्यादि की मेखलाओं को मुख्य प्रासाद के भाँति ही निर्गमित रखी जानी चाहिए।

श्रीभगवानदास संपादित पाठं में 18वें क्रम पर 'कर्णतो द्विगुणं भद्रं पादोनप्रतिकर्णकः। भद्रार्ध मुखभद्रं च शेषं षड्वसु भाजितम्' श्लोक अतिरिक्त मिलता है किंतु यह मूल मातृका में नहीं है। इसका आशय है कि कर्ण से दो गुना भद्र एवं पौन भाग का प्रतिरथ, भद्र से आधा मुखभद्र रखें, शेष नंदी इत्यादि छठे या आठवें भाग से रखे जा सकते हैं।

गवाक्षेनान्वितं भद्रमथ जालकसंयुतम्।

गूढोऽर्थ(गुहश्च ?) कर्णगूढो(गृहो तु ?) वा भद्रे चन्द्रावलोकनम् ॥ 19 ॥

मण्डपों में गूढ मण्डप के भद्र में झाँकने के लिए जालिका या गवाक्ष का निर्माण करना चाहिए। कर्णगूढ़ों को इस प्रकार बनाएँ कि वे गुप्त या गूढ़ रहें। इसके साथ ही भद्र स्थान पर देखने के लिए चंद्रावलोकन रखना चाहिए।

त्रि$_3$द्वारे चैक$_1$वक्त्रेऽथ मुखे कार्या चतुष्किका।

गूढे(गुहे ?) प्रकाशके वृद्धिर्मधोदय करोटकम्(: ?) ॥20 ॥

इत्यष्टगूढमण्डपाः।

गूढ मण्डप में तीन द्वार या एक द्वार रखना चाहिए और मुखद्वार के आगे चौकी आकार का मण्डप बनाएँ। इसके बाद इस मण्डप की गोलाई के विस्तार मान से अर्द्ध मान का करोटक अथवा गूमट बनाया जाना चाहिए।

अपराजितपृच्छा में इन आठ मण्डपों के प्रकार एवं नामादि विस्तार से बताए गए हैं– वर्द्धमानः स्वस्तिकाख्यो गरुडः सुरनन्दनः। सर्वतोभद्रकैलासेन्द्रनीला रत्नसम्भवः॥ चतुरश्रो वर्धमानः स्वस्तिको भद्रसंयुतः। गरुडः सप्रतिरथः सुरानंदः प्रभद्रकैः॥ कर्णोदैः सर्वतोभद्रः कैलासो भद्रकोदकैः। प्रतिरथाविन्द्रनीलः त्रिभिः स्याद्रत्नसंभवः॥ इत्यष्टौ च समाख्याता वर्धमानादिमण्डपाः। बाह्यच्छन्दे प्रकर्तव्या मण्डपाः सर्वकामदाः॥ पादोनकर्णः प्रथः प्रभद्रो द्विगुणरततः। भद्रार्धे मुखभद्रं च शेषाश्चैवं षडंशकाः॥ निर्गमो दलार्धपादैः कर्तव्यः सर्वकामदः। भद्रद्विगुणनिष्कासः कर्तव्यः शान्तिमिच्छता॥ दलभक्तिक्रमः प्रोक्तः मूलप्रासादसङ्ख्यया। कर्तव्या निर्गमैर्हीनाः स्वस्वाकाराश्च मण्डपाः॥ सपीठमण्डोवरादि प्रासादाकृतिर्मेखला। भद्रे गवाक्षकोपतं मूलप्रासादसन्निभम्॥ उक्ताः कर्णे कुम्भकाद्या मानः प्रासादसोमार्धकम्। रथोपरथभद्राणां पीठाद्यं वाह्यनिर्गतम्॥ भित्तिः प्रासादमानेन पीठान्तोत्तानपट्टकः। एकं वा त्रीणि वा कुर्याद् द्वाराणि कामदानि वै॥ शुकस्तम्भानुसूत्रेण चाष्टांशं भित्तिमाचरेत्। मध्यपीठोच्छ्रयोत्सेधा मण्डपाद्याः समस्तकाः॥ अष्टांशवृत्तोर्ध्वतश्च वितानान्तं समुच्छ्रितिः। चतुष्किका याम्योत्तरे अग्रे वा वामतोऽथवा॥ या प्रासादे द्वारशाखा तद्विधं मण्डपादिकम्। करोटकं स्यात्तदूर्ध्वे बुधाबन्धो ? तु कारयेत्॥[१]

विश्वकर्माभाषित ज्ञानरत्नकोश में गूमट के तीन प्रकार के उदय बताए गए हैं– वामनोदय, अनन्तोदय तथा वाराहोदय– अर्धोदयश्च यत्प्रोक्तो वामन उदयो भवेत्। कृते चैव भवेच्छान्तिः सर्वयज्ञफलं लभेत्॥ अर्धोदयश्च नवधा द्वौ भागौ परिवर्जयेत्॥ अनन्त उदयो नाम सर्वलोकसुखावहः॥ अर्धोदयश्च नवधा त्रयभागान् परित्यजेत्। वाराह उदयो नाम अनन्तफलदायकः॥

---

१. सूत्र 187, 1-13

स्पष्टार्थचक्र

क्रम	नाम	उदयमान	फल
1.	वामन	विस्तार आधा मान	यज्ञतुल्यफल, शांति
2.	अनंत	उदय के नौ भागकर 7वें भाग का करोटक	सर्व सुखकारक
3.	वाराह	उदय के नौ भाग कर छह भाग का करोटक	अनन्तफलदायक

एकत्रिचतुष्कादीनां द्वादशमण्डपानां

एक$_1$ त्रि$_3$ वेद$_4$ षट्$_6$ सप्त$_7$ ङ्क$_9$ चतुष्काश्चत्रिकत्रये।

अग्रे(अर्ध ?)भद्रं विना(विभागेन ?) पार्श्वे पार्श्वयोरग्रतस्तथा ॥ 21 ॥

गूढ मण्डप के आगे एक, तीन, चार, छह, सात तथा नौ चौकी वाले मण्डप बनाए जा सकते हैं। ये कुल छह प्रकार के मण्डप हैं। छठे नौ चौकी वाले मण्डप के आगे एक चौकी हों तो सातवाँ प्रकार का मण्डप होता है।

अग्रतस्त्रि(स्त्री ?)चतुष्कश्च तथा पार्श्वे(र्श्व ?)द्वयेऽपि च।

मुक्तकोणे चतुष्के चेदिति द्वादश$_{12}$ मण्डपाः ॥ 22 ॥

गूढ मण्डप के आगे यदि चौकी न हो परन्तु दोनों पार्श्व में एक-एक चौकी हों तो आठवाँ प्रकार का मण्डप, दोनों पार्श्व में और आगे एक चौकी हो तो नौ अथवा तीन चौकी हो अर्थात् तीन-तीन चौकी वाली चार पङ्क्तियाँ निर्मित होती हो तो दसवें प्रकार का मण्डप बनता है। इसके भी दोनों पार्श्व में एक-एक चौकी हो तो एकादश प्रकार और दोनों पार्श्व में पुनः आगे एक-एक चौकी बनाई जाए तो बारहवें प्रकार का मण्डप तैयार होता है। इस प्रकार चौकी के अनुसार निर्मित बारह मण्डप होते हैं।

गूढ(गृह ?)स्याग्रे प्रकर्त्तव्या नाना चतुष्किकान्विताः।

चतुरस्रादिभेदेन वितानैर्बहुभिर्युताः ॥ 23 ॥

इति द्वादशत्रिक्मण्डपाः।

पूर्वानुसार बारह प्रकार के गूढ मण्डप के आगे नाना प्रकार की चौकियां अथवा चतुष्किकाएं बनायी जानी चाहिए। ये मण्डप समचोरस या चतुरस्र भेद से बनते हैं और इन पर यथेष्ठ वितान की संरचनाएँ इन्हें आकर्षक बनाती हैं।

अपराजितपृच्छा में गूढ मण्डप के आगे बनाए जाने वाले 1.सुभद्र 2.किरीटी 3.दुन्दुभि 4.प्रान्त 5.मनोहर 6.शान्त 7.नंदाख्य 8.सुदर्शन 9. रम्यक 10.सुनाभ 11.सिंह तथा 12. सूर्यात्मक मण्डपों की विशेष जानकारी दी गई है- *सुभद्रश्च किरीटी च दुन्दुभिः प्रान्त एव च। मनोहरश्च शान्तश्च नन्दाख्यश्च सुदर्शनः ॥ रम्यकश्च सुनाभश्च सिंहः सूर्यात्मकस्तथा। निर्गूढाग्रे त्रिकं ख्यातं द्वादश मुखमण्डपाः ॥ द्वाराग्रे चैव निर्गूढं तदग्रे च चतुष्किका। सुभद्रो नाम विज्ञेयो मण्डपः सर्वकामदः ॥ उभयोः कक्षयोर्दद्यात् किरीटी नामतः स्मृतः। एकं च दुन्दुभिः पूर्वे अथोभौ प्रान्तस्तथा। पूर्वे चतुष्किकायां च कामदश्च मनोहरः। शान्तश्चैतदुभाभ्यां च स्तम्भैर्द्वर्षष्टभिरेव च॥ मूलप्रासादद्विगुणं त्रिकाणां पृथुनिर्गतम्। त्रिभिश्चतुष्किकाऽऽयामे पृथुत्वे त्रिभिरेव च। सर्वप्रासादपीठस्य समाख्यातं त्रिकं तथा। पुनरेव प्रवक्ष्यामि तद्विधान् षट् च मण्डपान्॥ तस्य बाह्ये पुनर्दद्यात् प्रत्यलिन्दमनुक्रमात्। चतुष्कीक्रमयोगेन मण्डपान् षट् च लक्षयेत्॥ चतुष्किके चेत्पूर्वेऽग्रे नन्दाख्यः सर्वकामदः। त्यक्त्वाग्रे चोदरे गर्भे दद्याच्चैव सुदर्शनः॥ उभे कक्षे पुनःश्चाग्रे रम्यकः समुदाहृतः। अग्रे द्विचतुष्किकाभ्यां सुनाभो नाम सम्प्रतः॥ अलिन्दयुक्तौ द्वौ पक्षौ सिंहनामा स उच्यते। मुक्तकोणाकृतिः स्थित्वा पूर्वकर्णे सूर्यात्मकः॥ नालोद्भवः पृथुत्वेच चतुःक्षणाग्रनिर्गतः। क्षणे-क्षणे चतुष्क्या वितानसंवरणोदयः॥* [१]

नृत्यमण्डपाः

त्रिकाग्रे रङ्गभूमिर्या(भूमाथ ?) तत्र वै नृत्यमण्डपः(पान्)।

प्रासादाग्रेऽथ सर्वत्र न प्रकुर्याच्च विधानतः ॥ 24 ॥

देवालय में चौकी मंडप के अग्रभाग में अवस्थित रंगभूमि के ऊपर ही नृत्य मण्डप की संरचना की जानी चाहिए। ऐसा समस्त प्रासादों के अग्रभाग में बनाने का विधान किया गया है।

वास्तुमञ्जरी में कहा गया है- *नृत्यार्थं द्वादशस्तम्भो द्विद्विस्तम्भ विवर्धनम्॥ यावत् स्तम्भाश्चतुषष्टि सप्ताविंशति मण्डपाः। नृत्यमण्डप वच्चोर्ध्वा भूमिमूर्ध्वे वितानका॥* [२]

---

१. वही 15-16

अथ सप्तविंशतिमण्डपा:

सप्तविंशति$_{27}$ रुक्ता(उक्ता ?) ये मण्डपा विश्वकर्मणा।

तलैस्तु विषमैस्तुल्यैः क्षणैः स्तम्भैः समैस्तथा॥ 25॥

भगवान् विश्वकर्मा ने (अपराजितपृच्छादि में) सङ्ख्या भेद के अनुसार 27 प्रकार के पुष्पकादि मण्डपों का विधान किया है। इन मण्डपों के आधारतल को सम या विषम किया जा सकता है किंतु उनमें खण या क्षण (?) तथा स्तम्भ को सम सङ्ख्या में ही रखे जाने चाहिए।

तल के सम विषय के सम्बन्ध में ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में भी यही मत दिया गया है- तलैस्तु विषमास्तुल्यैः क्षणैः स्तम्भैः समैस्तथा। विषमे तु तुलापट्टे गूढे चन्द्रावलोकना॥ (10, 85)

प्रथमो(प्रर्थमो ?) द्वादशस्तम्भो द्वि$_2$द्वि$_2$स्तम्भविवर्द्धनात्।

यावत् षष्टिश्चतुर्युक्ता सप्तविंशति$_{27}$ मण्डपाः॥ 26॥

पूर्वोक्त विधान के अनुसार प्रथम मण्डप बारह स्तम्भों वाला होता है। इसके बाद दो-दो स्तंभ की वृद्धि करते हुए चौसठ स्तम्भ तक बढ़ाते जाने से बनने वाले मण्डपों की संख्या सत्ताइस होती है।

समराङ्गणसूत्रधार में धाराधिपभोज ने इसके विपरीत क्रम से कहा है कि पहला मण्डप चौसठ स्तम्भों वाला होगा। इसके बाद दो-दो स्तम्भ घटाते जाने से अन्तिम सत्ताइसवाँ मण्डप 12 स्तम्भों वाला बनेगा- कार्या त्रिभागहीना वा मण्डपास्तु समैः क्षणैः। स्वविस्तारसमं भद्रे मुखे चैषा प्रकीर्तिता॥ कर्णा द्विभागिका ज्ञेयास्तेषां कोणचतुष्टये। वामदक्षिणभागाभ्यां सह भद्रं षडंशकम्॥ प्रतिभद्रे नचैतस्मिन् विदध्याग्रपृष्ठयोः। चतुःषष्टिधरोऽयं स्यात् पुष्पको नाम मण्डपः॥[१]

यही मत भुवनदेवाचार्य का है- द्विद्विस्तम्भह्रासयोगे चतुष्षष्ट्या द्वादशान्तम्। पुष्पकाद्या इमे सूत्र सप्तविंशतिमण्डपाः॥[२]

दोनों ग्रंथों में इन मण्डपों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं- पुष्पकः पुष्पभद्रश्च सुप्रभो मृगनंदनः। कौशल्यो बुद्धिसङ्कीर्णो गजभद्रो जयावहः॥ श्रीवत्सो विजयश्चैव

१. अध्याय 67, 10-12

२. सूत्र 186, 26

वस्तुकीर्णश्च श्रीधरः। यज्ञभद्रो विशालाख्य सुश्रेष्ठः शत्रुमर्दनः॥ भूजयो नन्दनश्चैव तथा विमानभद्रकः। सुग्रीवो हर्षणश्चैव कर्णिकारः पदाधिकः॥ सिंहकः सिंहभद्रो च समसूत्रस्तथैव च। इत्येते मण्डपा प्रोक्ताः सप्तविंशतिसङ्ख्यया॥ (186, 1-4)

अष्टास्रषोडशास्र-

क्षेत्रार्द्धस्य$_{॥}$ षडंशोन$_6$-मेका$_1$स्रेऽ(चैकास्रा ?)ष्टास्र$_8$मुच्यते।

कलास्र$_{16}$(स्रेः ?) क्षेत्रषड्$_6$भागास्तत्षडंशेन$_6$ संयुतः(ः ?)॥ 27॥

स्तम्भादि के लिए अष्टास्र, षोडशास्र ज्ञात करने के लिए नियम यह है कि क्षेत्र के विस्तार के आधे के छह भाग किए जाकर उसमें से एक भाग कम करके अन्य पाँच भाग के मान की अष्टास्र की एक भुजा का मान समझें। इसी प्रकार यदि षोडशास्र का मान लेना हो तो क्षेत्र के विस्तार के छह भाग करें। इसमें से एक भाग का छठा अंश विस्तार के छठे भाग में जोड़ दिए जाने से प्राप्त होने वाला क्षेत्रमान ही षोडशास्र की एक भुजा के बराबर होता है।

मण्डन ने राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में अष्टास्र एवं षोडशास्र के क्षेत्रफल ज्ञात करने की विधियां दी हैं जो इस सम्बन्ध में विचारणीय है- अष्टास्रकस्य पृथलेन दैर्घ्यं गुण्यं हि तद् रागविभागहीनम्। षड्भागकस्याष्टयुगांशभागं कुर्याद् विहिनं पुनरेव शेषात्॥ यत्षोडशास्रं रसभागहीनं तद्वर्गमूलस्य षडंशकस्य। शक्रांशहीनं कथितं पुनश्चेच्छेषं बुधैर्वास्तुमतानुसारि॥ 10, 10-11, ये ही विधियां अपराजितपृच्छा के गणितक्षेत्रनिर्णय नामक 47वें सूत्र में क्रमशः 30 एवं 32वें श्लोक में हैं।

वितानर्णय-

अष्टास्रं षोडशास्रं च वृत्तं कुर्यात्तदूर्ध्वतः।

उदयं विस्तरार्द्धेन षट्$_6$पञ्च$_5$सप्त$_7$ वा भवेत् (तं षष्ठ्यं चांशभाजयेत्?)॥ 28॥

इन मण्डपों में वितान का उदयमान निकालने की विधि इस प्रकार से है- पहले पट्ट के ऊपर अष्टास्र बनाकर उस पर षोडशास्र बनाएं। इस पर वृत्ताकृति बनानी चाहिए। मण्डप के विस्तार से आधा वितान का उदय रखा जाकर उसमें पाँच, छह अथवा सात थर बनाए जाने चाहिए।

अपराजितपृच्छा के विताननिर्णय, वितानवर्णन, वितानदेवतानुक्रम एवं वितान छन्द संज्ञक सूत्रों में इस सम्बन्ध में विशेष विवरण द्रष्टव्य है।

वितानार्थथर–

कर्णदर्दरिका सप्त$_7$ भागेन निर्गमोच्चता(निर्गमोवृत, निर्गमोच्छ्रय ?)।

रूपकण्ठस्तु पञ्चांशं$_5$ द्वि$_2$ भागेनात्र निर्गमः(म् ?) ॥ 29 ॥

इसी प्रकार वितान के थर के सम्बन्ध में ज्ञातव्य है कि कर्ण दर्दरिका के थर का उदय सात भाग तथा निर्गम भी सात भाग का ही रखें। इसके बाद रूपकण्ठ का उदय पाँचवें भाग तथा निर्गम दो भाग रखा जाना चाहिए।

विद्याधरैः(र ?) समायुक्तं षोडशा$_{16}$ष्ट$_8$ दिवाकरैः$_{12}$ ।

जिनसंख्या$_{24}$ मितैर्वापि दंत$_{32}$ तुल्योवि(ल्यैर्वि ?)राजितम् ॥ 30 ॥[१]

वितान के अलङ्करण के लिए निर्देश है कि उस पर आठ, बारह, सोलह, चौबीस या बत्तीस विद्याधरों की रचना की जाए।

विद्याधरः पृथुत्वेन सप्तांशो$_7$ निर्गमोदश$_{10}$(दयः ?)।

तदूर्ध्वे चित्ररूपाश्च नर्त्तक्यो(क्यः ?) नृत्यशोभिताः(शालभञ्जिका) ॥ 31 ॥

विद्याधरों की प्रथुलता का निर्माण सप्तांश मान से किया जाए और उसमें निर्गम को दस भाग का रखें। उनके ऊपर चित्ररूप अथवा नाना मुद्राओं में नृत्य मण्डलियों का अलङ्करण किया जाना चाहिए।

गजतालस्तु षट्सार्धा$_{6॥}$ प्रथमा द्वितीया तु षट्$_6$ ।

तृतीया सार्द्धपञ्चांशा$_{5॥}$ कोलानि त्रीणि$_3$ पञ्च$_5$ च(वा ?) ॥ 32 ॥

वितान में पहला गजताल साढ़े छह, दूसरा छह और तृतीय स्तर पर साढ़े पांच अंश तथा कोल के थर को तीन अथवा पांच अंशमान का बनाया जाना चाहिए।

मध्ये वितानं कर्त्तव्यं चित्रवर्णविराजितम्।

नाटकादि-कथारूपै-र्न्नानाकारैर्विराजितम् ॥ 33 ॥

मध्य में चित्र-विचित्र वर्णों से युक्त वितान की संरचना की जाए और उसमें विभिन्न नाट्य कथाओं, पौराणिक आख्यानों को नाना आकार में विराजित किया जाना चाहिए।

---

१. यह श्लोक इस रूप में भी मिलता है–विद्याधरः पृथुत्वेन सप्तांशो निर्गमो दश। तदूर्ध्वे चित्ररूपाश्च नर्तक्यः शालभञ्जिकाः ॥ गुजराती पाठ मातृका 'क' में यह श्लोक नहीं हैं।

यही निर्देश अपराजितपृच्छा में भी उपलब्ध है– चतुःषष्टिर्विद्याधरास्तदूर्ध्वे च वराङ्गनाः ॥ ततानद्धघनाद्यैश्च वादित्रैः सुस्वैस्तथा। नाटकैर्नृत्यरङ्गाद्यैर्गीतनादैरनेकधा ॥[१]

वितानसङ्ख्या–

एकादशशतान्येव वितानानां त्रयोदश$_{1113}$ ।

शुद्धसङ्घाटमिश्राणि क्षिप्तोत्क्षिप्तानि यानि च ॥ 34 ॥

शास्त्रों में एक हजार एक सौ तेरह प्रकार के वितान बताए गए हैं। ये वितान चार प्रकार के हैं– 1.शुद्ध संघाट अथवा समतलीकृत, 2. संघाट मिश्र अथवा सम-विषमतलीकृत, 3. क्षिप्त अथवा निम्न भाग में झूलते थरों वाले तथा 4. उत्क्षिप्त अथवा ऊपर उठी हुई गोलाईवाले।

यही संख्या अपराजितपृच्छा में दी गई है– वितानानि समस्तानि एकादशशतानि च। त्रयोदशाधिकान्येव विचित्राणि भवन्ति च॥ सूत्र 189, 26, किंतु भुवनदेव ने वितानों के तीन प्रकार ही कहे हैं– वितानानि विचित्राणि क्षिप्तान्युत्क्षिप्तकानि च। समतलानि ज्ञेयानि उदितानि त्रिधा क्रमात्॥ त्रयोदशाधिकशतं सहस्रं च वितानकाः। प्रोक्ताश्च विविधाश्च्छन्दा लूमास्तत्र त्वनेकधा॥[२]

वितानानि विचित्राणि वस्त्रचित्रादिभेदतः।

शिल्पी(तानि ?) लोके प्रवर्त्तन्ते तस्मादूह्यानि लोकतः ॥ 35 ॥

जिस प्रकार विविध प्रकार के चित्र, बूटों आदि के अङ्कन से वस्त्रों के विभिन्न प्रकार हो जाते हैं, ठीक वैसे ही आकृत्यादि भेद से शिल्पशास्त्रियों ने इस लोक में देवालयों के निमित्त नाना प्रकार के वितानों का प्रवर्तन किया है।

रङ्गभूमि–

मण्डपेषु च सर्वेषु पीठान्ते रङ्गभूमिका(म् ?)।

ुर्यादुत्तेनपटे(ट्टे ?)न चित्रपाषाणजेन च ॥ 36 ॥

इति मण्डपाः।

---

१. सूत्र 190, 14–15

२. वही 4–5

सभी मण्डपों की पीठ के अन्तिम भाग की भूमि रङ्गभूमि कहलाती है। रङ्गभूमि को लम्बे-चौड़े और विविध प्रकार के चित्र-विचित्र पाषाणों से बनानी चाहिए ताकि वह शोभित स्वरूपा हो।

यह श्लोक ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में इस रूप में हैं- मण्डपेषु च सर्वेषु पीठान्ते रङ्गभूमिका॥ कुर्याद् वै द्वित्रिषेन चित्रपाषाणजेन वा। (10, 87-88)

अथ पञ्चविधबलाणकं-

बलाणे देवगेहाग्रे राजद्वारे गृहे तथा (पुरे!)।

जलाश्रयेऽथ कर्त्तव्यं सर्वेषां मुखमण्डपम्॥ 37॥

देवालय के द्वार के अग्रभाग में और द्वार के ऊपर, राजमहल, गृह, नगर के द्वारों के अग्रभाग में बलाणक या मुखमण्डप बनाया जाना चाहिए। इसी प्रकार सभी प्रकार के सरोवरों में जहां कि घाट, पौड़ी के लिए पोल बनते हैं, वहाँ पर भी मुखमण्डप का निर्माण किया जाना चाहिए।

वास्तुमञ्जरी में कहा गया है- ब्रह्मेश विष्णु चन्द्रार्क जिनाग्रे स्याद् बलाणकः। प्रासादाग्रे गृहे दुर्गे राजद्वारे जलाशये॥ वामनश्च विमानश्च हर्म्यशालश्च पुष्करः। तथा चोतुङ्गा नाभा च पचैते च बलाणकाः॥ (वही (150-151) अन्तिम श्लोक अपराजितपृच्छा में भी है)[१]

बलाणकमानं-

जगतीपादविस्तीर्ण(र्णां ?) पाद$_4$पादेन$_4$ वर्जितम्।

शालालिन्देन गर्भेण प्रासादेन समं भवेत्॥ 38॥

देवालयादि में बलाणक का विस्तार कितना हो, इस सम्बन्ध में निर्देश है कि बलाणक का विस्तार जगती के चौथे भाग का अथवा चौथे का चौथा भाग अल्प, शाला तथा अलिन्द के मान से प्रासाद के गर्भमान के या प्रासाद के मान के बराबर रखना चाहिए।

प्रासादबलाणकस्थानानि-

उत्तमे कन्यसं मध्ये मध्यं ज्येष्ठे तु कन्यसम्।

एक$_1$द्वि$_2$ त्रि$_3$चतुः $_4$पञ्च$_5$रस$_6$ सप्त$_7$पदांतरे॥ 39॥

१. सूत्र 122, 7

ज्येष्ठमान के प्रासाद में कनिष्ठ मान का, मध्यममान के प्रासाद में मध्यम मान का तथा कनिष्ठमान के प्रासाद में ज्येष्ठमान वाले बलाणक का निर्माण किया जाना चाहिए और प्रासाद से एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह अथवा सात पद के अन्तराल पर बलाणक को रखा जाना चाहिए।

वास्तुमञ्जरी में मण्डन के अनुज सूत्रधार नाथा का मत है- बलाणं जगती पादः व्यासं पादो नितं हि वा। एक्र द्वि त्रि चतुः पञ्च रस सप्त गुणान्तरे॥[१]

मूलप्रासादवद् द्वारं मण्डपे च बलाणके।

न्यूनाधिकं न कर्त्तव्यं दैर्घ्ये हस्ताङ्गुलाधिकम्॥ 40॥

इसी प्रकार ज्ञातव्य है कि मण्डप द्वार तथा बलाणक का द्वार मुख्य प्रासाद के द्वार के बराबर रखना चाहिए। इससे न्यूनाधिक नहीं रखे किंतु यदि उसे बढ़ाने की आवश्यकता हो तो द्वार की ऊंचाई को हस्ताङ्गुल अथवा जितने हाथ का हो, उतने ही अङ्गुल बढ़ाया जा सकता है।

यह श्लोक ज्ञानप्रकाशदीपार्णव से है। 10, 104, अपराजितपृच्छा में स्पष्ट किया गया है- प्रासादादिक्रमद्वारं मण्डपान्ते निवेशयेत्। तत्क्रमेण प्रकर्तव्यं द्वारं तस्य बलाणके॥ हस्तेऽङ्गुला भवेद्वृद्धिरङ्गुलं हस्तमानतः। कर्तव्यं पूर्वमानेन हीने हीनं समे समम्॥ (122, 11-12)

अथोत्तरङ्गाधोभागं-

पे(प ?)टकं चोत्तराङ्गाणां सर्वेषां समसूत्रतः।

अङ्गणेन(तु ?) समं पेटं जगत्याश्चोत्तरङ्गजम्॥ 41॥

उत्तरङ्ग का निम्न भाग जिसे पेटा भाग भी कहा जाता है, को समसूत्र में स्थापित किया जाना चाहिए। जगती के द्वार के उत्तरङ्ग के निम्न भाग को आयतन के आङ्गन, जगती के ऊपरीभाग के समान रखा जाए।

अपराजितपृच्छाकार का निर्देश है- जगती तु शिरोदेशे जठरं चोत्तमाङ्गजे। जगत्युदयो द्वारं कर्तव्यं तु बलाणके॥ द्वारं चैतेन मानेन प्रकुर्याच्च बलाणके। परानपर विभागेन हीनं वा अधिकं यदि॥[२]

१. वही 152

२. वही 13-14

जगत्याग्रे चतुष्किया(चतुष्की या ?) वामनं तद्बलाणकम्।

वामेऽथ दक्षिणे द्वारे(ऽ ?) वेदिका(द्वौकामा ?)मत्तवारणम्॥ 42 ॥

जगती के आगे की चौकी पर वामन नामाभिधान वाला बलाणक स्थापित होता है। यह चौकी के ऊपर स्थापित होता है और इसके बांये तथा दांये द्वार पर वेदिका तथा मत्तवारण स्थापित किया जाना चाहिए।

ऊर्ध्वा (उर्ध्व)भूमिः प्रकर्त्तव्या नृत्यमण्डपसूत्रतः।

मत्तवारणकं-वेदी-विताने-तोरणैर्युताः॥ 43 ॥

बलाणक की ऊर्ध्वभूमि अथवा ऊपरी संरचना को नृत्यमण्डप के बराबर सूत्रानुसार रखी जानी चाहिए। इस ऊर्ध्वभूमि का अलङ्करण मत्तवारण, वेदी, वितान और तोरणों से किया जाना चाहिए।

कस्यस्थाने किं बलाणकः

राजद्वारे बलाणे च पञ्च$_{5}$ वा सप्त$_{7}$ भूमिका।

तद्विमानं बुधैः प्रोक्तं पुष्करं वारिमध्यतः॥ 44 ॥

राजद्वार पर जो बलाणक स्थापित किया जाता है, उसे पाँच या सात भूमि अथवा मंजिल वाला बनाना चाहिए। यह विमान संज्ञक है। (इसे उत्तुङ्ग भी कहा गया है)। विमान के लिए भी बलाणक बनाएँ। जलाश्रयों के लिए बनाये जाने वाले बलाणक का विद्वान शिल्पियों ने पुष्कर नामाभिधान किया है।

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में पाँच बलाणकों के नाम दिए गए हैं- वामनश्च विमानश्च हर्म्यशालश्च पुष्करः। तथा चोत्तुङ्गनामा च पञ्चैते च बलाणकः॥ वर्त्तनं कथयिष्यामि पदं संस्थानमानतः। प्रासादग्रे च प्रकारे मन्दिरे वारिमध्यतः॥ (10, 94-95)

हर्म्यं-राजगृहे वापि कर्त्तव्यं गोपुराकृतिः(श्रितः)।

एक$_{1}$ भूम्योस्त्रि$_{3}$ भूम्यन्तं गृहाग्रेद्वारमस्तके:॥ 45 ॥

इति पञ्चविधबलाणकम्।

राजगृहों के सम्मुख गोपुर निर्माण करना कर्तव्य है। ऐसे गोपुरों को हर्म्यशाल या हर्म्यराज कहा जाता है। गृह के द्वार मस्तक के ये बलाणक एक से तीन भूमि वाले होते हैं।

यह श्लोक विश्वकर्मोक्त ज्ञानप्रकाशदीपार्णव से हैं। वही 106 यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है- वामनो देवताग्रे च विमानोत्तुङ्गौ राजवेश्मनि। हर्म्यशाले गृहे वाऽपि प्रासादे नगरानने॥ पुष्करं वारिमध्यस्थ-मग्रतश्चैव भूषितम्। सप्तनवभूम्यतुङ्गमत ऊर्ध्वं न कारयेत्॥ [१]

यही मत वास्तुमञ्जरी में भी द्रष्टव्य है- हर्म्यगृहे वाऽपि गोपुरे नगरानने। पुष्करं वारिमध्यस्थमग्र तथैव भूषितम्॥ विमानस्तुङ्गनामा च राजवेश्माग्रतः शुभः। सप्तभूम्यं नवभूम्यं अतऊर्ध्वं न कारयेत्॥ लक्षणं तस्य वक्ष्यामि स्थानमानं च भूमिकाम्। [२]

स्पष्टार्थचक्र-

1. **वामन**-देवप्रासाद की जगती के आगे या जगती के बराबर का बलाणक।
2. **विमान या उत्तुङ्ग**- राजप्रासाद के आगे का बलाणक। यह 5 या 7 भूमि का होता है किंतु 9 भूमि से अधिक नहीं।
3. **हर्म्यशाल**- भवनों के आगे का बलाणक। यह मूल भवन से निम्न बनता है।
4. **गोपुर**- नगर के द्वार या प्रतोली के उपर का बलाणक।
5. **पुष्कर**- सरोवर के मध्य या घाट के सोपान के पहले बनाया गया बलाणक।

अथ संवर्णोपदेशः

संवरणा(सांवर्णा ?) च प्रकर्त्तव्यां प्रथमा पञ्च$_{5}$घण्टिका।

चतु$_{4}$र्घण्टाभिवृद्ध्या च यावदेकोत्तरं शतम्$_{101}$ ॥ 46 ॥

मण्डप आदि के शीर्ष पर संवरणा की स्थापना की परम्परा रही है। इसमें से प्रथम संवरणा को पञ्चघण्टी वाला बनाया जाता है। ऐसी पञ्चघण्टी में उत्तरोत्तर चार-चार घण्टी की वृद्धि सौ एक घण्टी तक की जा सकती है। ये सभी संवरणाएँ भी मण्डपों पर स्थापित की जा सकती है।

यह मत विश्वकर्मा ने ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में दिया है- अथातः संप्रवक्ष्यामि संवर्णामानमुत्तमम्। एकहस्तादितः कृत्वा यावद्धस्तशतार्द्धकम्॥ प्रथमा पञ्चघण्टा च द्वितीयानवघण्टिका। तावच्च चतुरोवृद्धिर्यावदेकोत्तर शतम्॥ (11, 1-2)

पञ्चविंशति$_{25}$रित्युक्ताः प्रथमा(प्रभाव ?) वसुभागिका।

---

१. वही 96-97

२. वही 154-155

वेदोत्तरशतं$_{104}$ यावद् वेदांशा$_{4}$ वृद्धिरिष्यते ॥ 47 ॥

इस प्रकार घण्टिकाओं की वृद्धि के साथ बनने वाली संवरणाएँ पच्चीस प्रकार की बनती है। इनमें प्रथम संवरणा की ऊंचाई या भूमि आठ भाग करें, तदोपरान्त प्रत्येक संवरणा में चार-चार भाग एक सौ चार भाग तक बढ़ाए जाकर मण्डपों पर स्थापित किए जा सकते हैं।

यही मत ज्ञानप्रकाशदीपार्णव का है- पञ्चविंशतिरित्युक्ता विभक्तिर्भागसङ्ख्यया। विभक्तिरष्टभागाद्या यावद् वेदोत्तरं शतम्॥ तदनन्तरं वृद्धिश्च चतुर्भागा यथोत्तरम्। चतुर्घटोद्भवा वृद्धिः सङ्ख्याभेदैश्च नामतः ॥ [१]

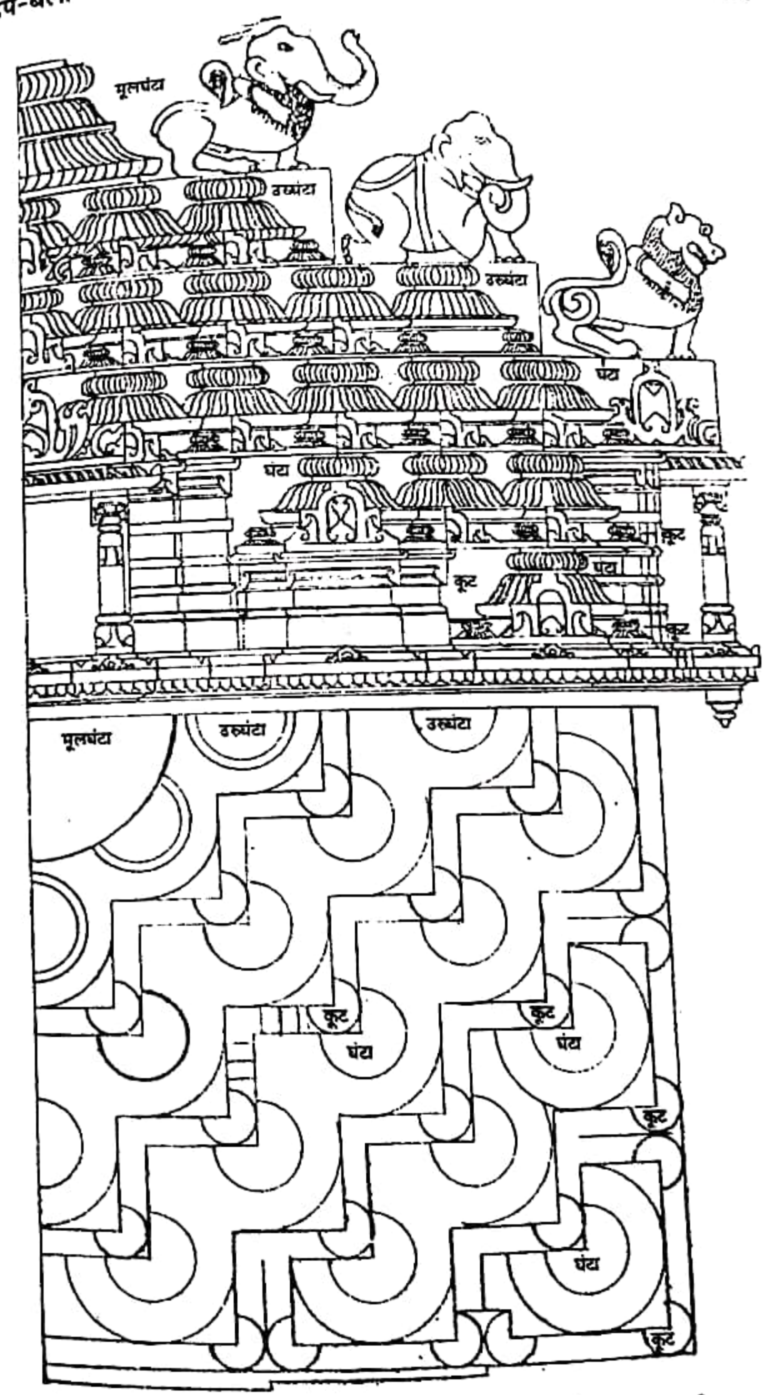
वास्तुमञ्जरीकार ने भी इस मत को स्वीकार किया है- पञ्चाद्यैकोत्तरं शतं घण्टा संवरणा भवेत्॥ पञ्चविंशतिरित्युक्ता प्रथमा वसुभागिका। [२]

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव, अपराजितपृच्छादि में इन पच्चीस संवरणाओं के नामों का विवरण इस प्रकार मिलता है-1. पुष्पिका 2. नंदिनी 3. दशाक्षा 4. देवसुंदरी 5. कुलतिलका 6. रम्या 7. उदभिन्ना 8. नारायणी 9. नलिका 10. चंपका 11. पद्मा 12. समुद्भवा13. त्रिदशा 14. देवगान्धारी 15. रत्नगर्भा 16. चूडामणी 17. हेमकूटा 18. चित्रकूटा 19. हिमा 20. गन्धमादनी 21. मंदरा 22. मेदिनी 23. कैलासा 24. रत्नसंभवा और 25. मेरुकूटा- अथ नामानि वक्ष्यामि संवरणा यथास्थिता:। पुष्पिका नंदिनी चैव दशाक्षा देवसुंदरी॥ कुलतिलका रम्या च उद्भिन्ना च नारायणी। नलिका चम्पका चैव पद्माख्या च समुद्भवा॥ त्रिदशा देवगान्धारी रत्नगर्भा चूडामणि:। हेमकूटा चित्रकूटा हिमाख्या गंधमादनी॥ मंदरा मेदिनी ख्याता कैलासा रत्नसंभवा। मेरुकूटोद्भवाख्याता: संख्यया पञ्चविंशति: ॥ (वही 5-8)

---

१. वही 3-4

२. वही 156-157



प्राचीन शैली की शामरण का तलदर्शन और सन्मुखदर्शन

भद्रार्द्धे रथिकार्द्धे(न ?) तवङ्ग(तंवंग ?)वाम-दक्षिणे।

अर्द्धोदयेन रथिका-घण्टा-कूटं-तवङ्गकम्॥ 48॥

इन घण्टिकाओं के साथ ही भद्रार्ध की रथिका के मान के बराबर दोनों ओर तवङ्ग निर्मित किए जाने चाहिए। यहां शिल्पी को यह ध्यान रखना चाहिए कि रथिका, घण्टा, कूट, तवङ्ग को विस्तार के अर्द्ध उदय में ही रखें।

कलाकूटान्विता पूर्वा पञ्चभिः कलशैर्युता।

भागतुल्यैस्तथा सिंहै-रेवमन्याश्च लक्षिताः(लीक्षितः)॥ 49॥

इति मंडपोर्ध्वसंवरणोपदेशः।

गहली संवरणा जो पाँच घण्टाकलश वाली होती है, सोलह कूट युक्त होती है। इस पर कर्ण और आधार के ऊपर तल भाग के बराबर आठ सिंहों को रखा जाना चाहिए और इसी के अनुसार अन्य संवरणाओं का निर्माण किया जाना चाहिए।

अपराजितपृच्छा, ज्ञानरत्नकोश, क्षीरार्णव, जयपृच्छा, समराङ्गणसूत्रधार, ज्ञानप्रकाश दीपार्णव आदि में भी संवरणा विषय पर विस्तार से विमर्श मिलता है। *विश्वकर्मीय ज्ञानप्रकाश* का वर्णन इस प्रकार है- *चतुरस्त्रीकृते क्षेत्रे अष्टभागविभाजिते। भागौ द्वौ रथिका कार्या चतुर्दिक्षु व्यवस्थिता॥ कर्णे घण्टिका द्विभागा तदधः कूटकोणतः। मूलघण्टा त्रय (चतुः)भागा भागैकं कलशं भवेत्॥ उदयं च प्रवक्ष्यामि भागाश्चत्वार एव च। छाद्योद्गमास्तरकूटः तदूर्ध्वं घण्टिका भवेत्॥ तद्रूपा भद्रघण्टा च चतुष्कूटा ह्यधस्तथा। सिंहस्थानं (कर्ण?) गर्भघंटा उरुघण्टा तदूर्ध्वतः॥ गर्भमूलोद्गमे कार्या रथिकाद्वयंशविस्तरा। भागोदये छाद्योद्गमं कूटा वै सर्वकामदा॥ तदूर्ध्वे च चतुःकर्णे भागोच्छ्राया च घण्टिका। तस्योपरि मूलघण्टा चतुष्कोणे चतुष्कूटा॥ कूटोर्ध्वे त्रिभागायामे मूलघण्टा सार्द्धोदया। सिंहं वै उद्गमोर्ध्वे तु उरुघण्टा भागोपरि॥ तदुपरि सिंहस्थानं भागैकं च विनिर्गतम्। सिंहविद्याधरयक्ष-सिंहगजैश्चतुर्दिशि॥ अष्टसिंहैः पञ्चघण्टैः कूटैरेवं द्विरष्टभिः। चतुर्भिर्मूलकूटाश्च पुष्पिकानाम नामतः॥ भानुभागं भवेत्क्षेत्रं कर्णो भागत्रयस्तथा। षड्भागभद्रविस्तारश्चतुर्दिक्षु नियोजयेत्॥ तवङ्गकूटयोर्मध्ये तिलकं द्वयंशविस्तरम्। भागोदयं विधातव्यं रूपसङ्घाटभूषितम्॥ सिद्धविद्याधरयक्षसिंहगजैश्चतुर्दिशि। कूटोपरि हि कूटश्च भद्रकर्णे चतुर्दिशि॥ कर्णे च कूटघण्टा च तस्योपरि पुनर्भवेत्। अष्टचत्वारिंशत्कूटा मूले स्युः पूर्ववत्तथा॥*

नवघण्टासमा युक्ता तदूर्ध्वे सूर्यसिंहकाः। नन्दिनीनामविख्याता कर्त्तव्यः सर्वकामदा॥ कार्या तिलकवृद्धिश्च यावत्क्षेत्रं वेदाश्रकम्। मण्डपदलनिष्काशैर्भक्तिभागैस्तु कल्पना॥ वृहद्दलैर्भिन्नोद्भिन्ना मण्डपक्रमभागतः। आसां युक्तिर्विधातव्या मेरुकूटान्त कल्पना॥[१]

इति श्रीसूत्रधार मण्डनविरचिते प्रासादमण्डने वास्तुशास्त्रे मण्डपबलाणकसंवरणाधिकारः सप्तमोऽध्यायः॥ 7॥

---

१. वही 9-24

॥ अष्टमोध्यायः ॥

जीर्णोद्धारविधिदोषार्देवपुरराजपुराणिमण्डपस्य दिङ्निर्देशादि

अथाध्यायप्रयोजनम्–

अथ साधारणोऽध्यायः सर्वलक्षणसंयुतः।

विश्वकर्म(र्मा ?)प्रसादेन विशेषेण(विशेण ?) प्रकथ्यते ॥ 1 ॥

सूत्रधार मण्डन कहते हैं कि यह अध्याय साधारण संज्ञक है और विश्वकर्मा की कृपा से इसमें प्रसादादि के सर्व लक्षणों को समन्वित कर विशेष रूप से अभिव्यक्त किए जा रहे हैं।

शिवलिङ्गैन्यूनाधिकमानं–

वृषं (मानं ?) न्यूनाधिकं वापि स्वयंभू बाणरत्नजे(जैः)।

घटितेषु विधातव्यमर्चा लिङ्गेषु शास्त्रतः ॥ 2 ॥

शिवलिङ्ग के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि पूजा के लिए यदि स्वयं उद्भुत लिङ्ग, बाणलिङ्ग और रत्न निर्मित शिवलिङ्ग का मान न्यूनाधिक हो तो दोष नहीं लगता किंतु शिल्पी द्वारा बनाया गया लिङ्ग और प्रतिमा हो तो उसका मान शास्त्रसम्मत ही होना चाहिए, अन्यथा पूजक दोष का भागी होता है। जहां स्वयंभू, बाण व रत्नलिङ्ग हों वहां पर नंदी का मान भी न्यूनाधिक रखा जा सकता है।

यही मत सूत्रधार नाथा ने भी वास्तुमञ्जरी में उद्धृत किया है– मानन्यूनाधिकं वापि स्वयंभू बाण रत्नजे॥ घटितेषु विधातव्यमर्चा लिङ्गेषु शास्त्रतः। जगत्यांस्त्रीचतुःपञ्चगुणां देवपुर त्रिधाः ॥ (2, 157–158)

वृष के लिए ज्ञानप्रकाशदीपार्णव के 15वें अध्याय में ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ मान बताए गए हैं। इसके निर्माण के सम्बन्ध में मण्डन ने कहा है कि वाहनं मूर्तिलिङ्ग च मूल प्रासादमानतः। वृषभस्य विष्णवान्ते च लिङ्गे दृष्टां नियोजयेत्। सूर्यास्याग्रे भवेत् सोमस्तनसूत्रसमोदयः ॥ (6, 169) ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में विश्वकर्मा

का कथन है– लक्षणहीने हरेद्राजा कर्णहीने तथा प्रजा॥... गुणदोषान् न जानाति तं शिल्पिनं तु वर्जयेत्॥ (15, 12–16)

मण्डन ने देवतामूर्तिप्रकरणम् में अष्टधातु के लिङ्गों का विवरण दिया है– अष्टलोहानि लिङ्गार्थे स्वर्णं रौप्यं च ताम्रकम्। कांस्यपित्तलवङ्गानि नागं लोहं तथाष्टमम् ॥ (6, 61)

स्वयंभू आदि लिङ्गों के सम्बन्ध में ज्ञानप्रकाशदीपार्णव में कहा गया है– बाणलिङ्गे तु लिङ्गनिर्माणे च स्वयंभूवे। पीठं प्रासादरूपं च यथेष्ट कारयेत् सुधीः ॥ (14, 38)

रत्नलिङ्ग के सम्बन्ध में मण्डन का मत है कि वे धातुलिङ्ग को मानानुसार तैयार किए जा सकते हैं– कर्तव्यं धातु लिङ्गस्य प्रमाणेन हि रत्नजम्।[१]

बाणलिङ्ग तीर्थों में मिलता है तथा तीन या पाँच बार तौल करने पर भी उसका वजन पृथक्–पृथक् होता है– कुरुक्षेत्रे च लिङ्गानि सरस्वत्यां तथा पुनः। वाराणस्या प्रयागे तु गङ्गायाः सङ्गमेषु च॥ यानि वै नर्मदायां च अन्तर्वेदे च सङ्गमे। केदारे च प्रभासे च बाणलिङ्गं सुखावहम्॥ त्रिपञ्चवारं यस्यैव तुलासाम्य न जायते। तदा बाणं समाख्यातं शेष पाषाण संभवम् ॥[२]

मण्डन ने इस निर्देश के लिए अपराजितपृच्छा के निर्देश को भी दृष्टिगत रखा है– अर्चा श्रेष्ठा तथा लिङ्गं निलयांशेषु सर्वतः। बृषं न्यूनाधिकं बाणे रत्नजे च स्वयंभुवि ॥[३]

अथातौ वास्तुदोषः

बहुलेपोऽ(चा ?)ल्पलेपश्च समसन्धिः शिरोगुरुः।

सशल्यम् पादहीनम् तु तच्च वास्तु विनश्यति ॥ 3 ॥

यहां प्रासाद निर्माण के समय दोष पर विचार करते हुए सावचेत किया जा रहा है कि जो गृह या प्रासाद अधिक लेपयुक्त हो, न्यून लेपयुक्त हो, समसंधि हो, जिसमें ऊपर का भाग स्थूल और निम्न भाग क्षीण हो, जहां से शल्य या अस्थि को नहीं निकाला गया हो, वह शीघ्र ही ध्वस्त हो जाता है।

---

१. वही 63

२. वही 103–105 तथा ज्ञानप्रकाशदीपार्णव 14, 2–4

३. सूत्र 109, 11

यह श्लोक अपराजितपृच्छा के प्रासादजीर्णवास्तुनिर्णय संज्ञक सूत्र से है। तुलनीय है– अल्पलेपं बहुलेपं समसन्धि शिरोगुरुः। अप्रतिष्ठं पादहीनं तच्च वास्तु विनश्यति॥ सशल्यं पादहीनं च ह्येकद्रव्येण पूरितम्। अचिरात्तच्चालयेद्वा तूर्ध्वगं तद्विनश्यति॥[१]

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में कहा गया है– भित्तेमूलं स्थापनीयं जलान्ते पाषाणे वा हेमरत्नैः सगर्भं। शीर्षे गुर्वी लेपहीनाधिका वा सन्धिश्रेणी पादहीनार्धहान्यै॥ (1, 26) भूमि को शल्यरहित करने का भी निर्देश दिया है– शल्यं गवां भूपभयं हयानां रुजं शुनोत्वोः कलहप्रनाशौ। खरोष्ट्रयोर्हानिमपत्यनाशं स्त्रीणामजस्याग्निभयं तनोति॥ (वही 21)

बृहत्संहिता में वराहमिहिर का कथन है– सम्पाता वंशानां मध्यानि समानि यानि च पदानाम्। मर्माणि तानि विन्द्यात्र तानि परिपीडयेत्प्राज्ञः॥ तान्यशुचिभाण्डकीलस्तम्भाद्यैः पीडितानि शल्यैश्च। गृहभर्तुस्तत्तुल्ये पीडामङ्गे प्रयच्छन्ति॥ (53, 57–58)

वास्तुकार्येनिषिद्धद्रव्यः

अन्यवास्तुचिते(च्यूतं!) द्रव्येह्यन्यवस्तु निवेशिते(योजयेत् ?)।

प्रासादे न भवेत्पूजा गृहे तु(च ?) न वसेत्पतिः (गृही ?)॥ 4॥

किसी ध्वस्त वास्तु का कोई भी द्रव्य– पाषाण, ईंट, काष्ठादि नए कार्य में प्रयोग नहीं करना चाहिए। यदि पुराने द्रव्य का मन्दिर में प्रयोग किया जाता है तो वहां स्थापित देवता अपूजित ही रहते हैं और यदि भवन में प्रयोग किया जाए तो वहां गृहपति का रहना कठिन हो जाता है।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा से तुलनीय है– एकवास्तुचितं द्रव्यमन्यवास्तु निवेशयेत्। प्रासादे न भवेत्पूजा गृहे च न वसेत्पतिः॥ वही 3

वास्तुसौख्यम् में कहा गया है कि अन्य किसी गृहादि की सामग्री का नए निर्माण में प्रयोग नहीं करना चाहिए– अन्यवेश्मस्थितं दारु नैवान्यस्मिन्नियोजयेत्। न तत्र वसते कर्ता वसन्नपि न जीवति॥ इष्टिकालोष्ठपाषाणमृत्तिकाचूर्णमायसम्। तृणं पत्रं बुधैः प्रोक्तं दारु नव्यं गृहाय वै॥ नूतने नूतनं काष्ठं जीर्णो जीर्णे प्रशस्यते। जीर्णे च नूतनं श्रेष्ठं नो जीर्णं नूतनं शुभम्॥ (117–119) यही मत समराङ्गणसूत्रधारकार भी है।

शंभुस्थलौत्थापन निषेधः

स्वस्थाने संस्थितं यच्च (यस्य ?) विप्रवास्तुशिवालयम्।

१. वही 2–3

अचाल्यं सर्वदेशेषु चालिते राष्ट्रविभ्रमः॥ 5॥

ऐसे शिवालय को कि जिसकी विप्रों ने विधिपूर्वक प्रतिष्ठा की हो और जो सदा स्थिर हो, उसे कभी स्थानान्तरित नहीं किया जाना चाहिए। यदि ऐसा प्रयास किया जाता है तो राष्ट्र में विभ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

अपराजितपृच्छा में कहा गया है– अचाल्यं चालयेद्वास्तु प्रासादे शिवब्रह्मणोः। वंशच्छेदो भवेत्तस्य ह्यचिरेणैव शाश्वतः॥ पूर्वस्थितं परित्यज्यं चान्यद् वास्तु तथोपरि। पूर्वत्यागानुदोषैश्च कर्ता तु नरकं व्रजेत्॥[१]

इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कुम्भाकाल में शिवालय को छोड़कर विष्णु आदि प्रासादों को स्थानांतरित किया गया था, जैसा कि चित्तौड़ दुर्ग स्थित कुम्भश्याम प्रासाद के लिए कहा जाता है कि वह उत्तर गुप्तकालीन मंदिर है, वह मूलतः नगरी या माध्यमिका गांव में था, जिसे कुम्भा के आदेश पर चित्तौड़ दुर्गस्थ किया गया था। जीर्णोद्धारादि के प्रसंग में मयमतम्, अग्निपुराण, अपराजितपृच्छादि के विशेष विधान विचारणीय है। मण्डन के पुत्र सूत्रधार गोविंद ने इस कृत्य के लिए 'उद्धारधोरिणी' संज्ञक ग्रंथ की रचना की है।

अथातौ पुनरूद्धारपुण्यं–

वापी–कूप–तडागानि प्रासादभवनानि च।

जीर्णान्युद्धरते(जीर्णान्युद्धार्यंते ?) यस्तु पुण्यमष्टगुणं लभेत्॥ 6॥

यदि पूर्वकाल में निर्मित वापि, कूप, जलाशय और प्रासादादि जीर्णशीर्ण हो गए हों तो उनका पुनरूद्धार कार्य किया जाना चाहिए। पुनरूद्धार का पुण्य नवनिर्माण की अपेक्षा आठ गुना अधिक होता है।

यह मत अपराजितपृच्छा के प्रासादन्यूनाधिकलक्षणात्मक सूत्र से हैं। तुलनीय है– वापीकूपतडागानि प्रासादभुवनानि च। भग्नानि तूद्धरेद्योऽसौ लभतेऽष्टगुणं फलम्॥[२]

अत्रैव जीर्णोद्धारविधिः

तद्रूपं तत्प्रमाणं स्यात्पूर्वसूत्रं न चालयेत्।

हीने तु जायते हानिरधिके तु धनक्षयः(स्वजनक्षयः!)॥ 7॥

१. वही 4–5
२. सूत्र 113, 12

पुनरूद्धार करते समय शिल्पी और उद्धारकर्त्ता को ध्यान रखना चाहिए कि जिस निर्माण का जीर्णोद्धार करवाना हो, उसका पूर्वमान ही यथावत् रखें, न विस्तार करें और न ही न्यून करें। यदि पुनरूद्धार में मान को न्यूनाधिक किया जाता है तो मान को न्यून करने पर हानि होती है तथा विस्तार किया जाता है तो धन या स्वजनों का क्षय संभावित होता है।

भुवनदेवाचार्य का कहना है- *तस्तात् सर्वप्रयत्नेन पूर्वसूत्रं न चालयेत्। चलिते चालिते चव तस्य स्थाने तु विग्रहम्॥ हीने हानिं प्रकुरुते ह्यधिके स्वजनक्षयम्। आयहीने तु प्रासादे स्वामिनस्तु क्षयो भवेत्॥ स्तम्भवेधे भयं घोरं स्वकुलोच्छेदनं भवेत्। हन्याद् बन्धून् मर्मवेधे त्रिशूले च महाभयम्॥ शल्ये चार्थविनाशस्तु छन्दहीने सुताद्भयम्॥*[१]

अग्निपुराण में भी यही निर्देश है- संकोचे मरणं प्रोक्तं विस्तारे तु धनक्षयः। तद् द्रव्यं श्रेष्ठव्यं वा तत्कार्यं तत्प्रमाणकम्॥[२]

वास्तु द्रव्याधिकं कुर्यान्मृत्काष्ठे शैलजं हि (शैलजेऽपि हि ?) वा।

शैलजे धातुजं चैव(वापि ?) धातुजे रत्नजेऽथवा (रत्नजं तथा!)॥ 8॥

वास्तु के जीर्णोद्धार प्रसङ्ग में विचारणीय है कि यदि पूर्व निर्मित वास्तु अल्पद्रव्य का हो तो उसे विशेष द्रव्ययुक्त अथवा अधिक द्रव्य वाला बनाना चाहिए। इसे इस रूप में समझा जा सकता है कि यदि पूर्व वास्तु मृण से निर्मित हो तो उसे काष्ठ का, काष्ठ का बना हो तो पाषाण का, पाषाण का हो तो धातु का तथा धातु निर्मित हो तो उसे रत्नादि से बनाना चाहिए।

भुवनदेवाचार्य का निर्देश है- मृतकाष्ठे शैलजं कुर्याच्छैलजे धातुजं तथा। धातुजे रत्नजं कुर्यादुत्तमोत्तमतो न्यसेत्॥[३]

मयमतम् के अनुकर्मविधानम् संज्ञक अध्याय जीर्णोद्धार कार्य पर आधारित है। इसके कुछ निर्देश विचारणीय है- भवनं भिन्नं पतितं वक्रं प्राचीनतत्त्वं च जीर्ण च॥ जातिश्छन्दविकल्पा भाससंस्थानकेभ्य इतरं च। यान्यप्यलक्षणानि हि तानि च तत्तल्लिङ्ग भेदवशात्॥ तत्र द्रव्यैरन्यैरुत्कृष्टैर्वा नवैस्तु घटैः। आयाद्यथोचितं तद्विस्तारोच्चादिभिस्त्व-

१. सूत्र (111, 16-19)
२. अध्याय (103, 22)
३. सूत्र (109, 26)

लङ्कार्यैः॥ यानि सलक्षणकानि प्रत्यङ्गोपाङ्गदेशेषु। तानि च (तत्) तद्द्रव्यैर्हीनादीन्येव येन केन (चित्)॥ यावद्घनतां यान्ति यावत्सौम्यप्रयोज्यानि। यावत्तदेव धीमात्रवतां प्रकर्तुमिच्छति चेत्॥ तत्तद्विपुलोत्सेधे सौष्ठिककोष्ठाद्यलङ्कारैः। नात्येकमुदितं तत्स्वाकृत्या सर्वथा तज्ज्ञैः॥ नागरभवने नागरमुदितं स्याद् द्राविडभवने द्राविडमुदितम्। वेसरभवने स्याद् वेसरं शुभदमर्पितभवनेऽप्यर्पितभवनम्॥ अर्पितादितरभवनेऽप्यर्पितादितर (भवनम्)। योज्यं क्रमेण विदुषा वस्तु सदा सर्वयत्नेन॥ सप्राकार (विमाने) सालाद्बहिर्वाबहिस्तूकाः। प्रासादे या गतयः कुरुते तद्विधिं सम्यग्गाढमथ वक्ष्ये॥ मूलविमानसमं वा तदधिकमन्यतरं निरुतेष्टम्। दिक्षु समोत्रतत्त्वं विदिषु शेषेषु वा कुर्यात्॥ विमान निष्क्रमं मूलाष्टमूलाब्धिहीनं तु युक्तिवशात्। उत्तरतो वा पुरतः परितः सालं तु वर्धयेद् विधिना॥ भवने जीर्णमथ तत्कर्तव्यं चेतदन्यस्मिन्। दिक्षु चतुर्ष्वपि नेष्टं तस्य बाह्ये वस्तुविदा॥ विपरीते तु विपत्यै तस्माद्युक्तक्रमेण कर्तव्यम्। सन्त्यज्य नष्टवस्तुगर्भविधानात् पुनः स्थाप्यम्॥ (35, 2-14)

अथ दिङ्मूढः

पूर्वोत्तरदिशामूढं मूढं पश्चिम-दक्षिणे।

तत्र मूढममूढं वा यत्र तीर्थं समाहितम्॥ 9॥

यदि देवालय ईशान और नैर्ऋत्य कोण में टेढ़ा भी बन गया हो तो वहां दिङ्मूढ़ उसी प्रकार नहीं माना जाता जैसे कि तीर्थस्थल में निर्मित प्रसाद में मूढ़ामूढ़ का दोष नहीं होता है।

किञ्चित पाठांतर के साथ यह श्लोक अपराजितपृच्छा में हैं- पूर्वोतरं तु दिग्मूढं मूढं पश्चिम-दक्षिणम्। मूढामूढं च तेषां स्याद्यत्र तीर्थं समाहितम्॥[१]

दिङ्दोषपरिहार-

सिद्धायतनतीर्थेषु नदीनां सङ्गमेषु च।

स्वयंभूबाणलिङ्गेषु तत्र(तस्य!) दोषो न विद्यते॥ 10॥

जहां सिद्धों के तपस्या स्थल हो, तीर्थ और सरिततट या सङ्गम स्थल हो वहां निर्मित प्रासाद तथा स्वयं उद्भुत लिङ्ग या बाणलिङ्गायतन हो तो वे दिङ्मूढ दोष से रहित होते हैं।

१. सूत्र 110, 9

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में 110, 10 इसी रूप में है। अग्निपुराण में कहा गया है कि जो शिवलिङ्ग शास्त्रीय लक्षणों से रहित हो जाए, टूट जाए, मोटा हो या जिस पर घात लगने से विकृताङ्ग हो गया हो, उसे त्यागना चाहिए व उसकी पिण्डिका व नांदी को भी हटा दिया जाना चाहिए- जीर्णादीनां च लिङ्गानामुद्धारं विधिना वदे। लक्ष्मोज्झितं च भग्नं च स्थूलं वज्रहतं तथा। सम्पुटं सम्पुटितं व्याङ्गं लिङ्गमित्येवमादिकं॥ इत्यादिदुष्टलिङ्गानां त्याज्या पिण्डी तथा वृषः॥ चालितं चलितं निम्नमर्थ विषमस्थितिम्। दिङ्मूढं पातितं लिङ्गं मध्यस्थं पतीतं तथा॥ एवं विधं च संस्थाप्य निर्व्रणं च भवेद्यदि। नादेयेन प्रवाहेण तदापिक्रियते यदि॥ १

मय का कथन है- नदीतीरं चेत् (स्पृष्टं) मन्दिररहितं तु तल्लिङ्गम्॥ पूर्वस्यामुत्तरतो नीत्वान्यस्मिन् शुभेद देशे। सुस्थापितं (च) लिङ्गं पूर्ववदेवानाप्य विधिना-(ऽपि)॥ बेरं वाप्येवं तत्तद्युक्त्यान्यस्मिन्नवे देशे। स्थाप्यं यदि निर्दोषं सर्वमनुक्तं तु तलिलङ्गे॥ द्वादशवर्षादूर्ध्वं शून्यत्वं याति यल्लिङ्गम्। तत्तन्निर्दोषं यदि नाग्राह्यमिदं वदन्ति केचिज्ज्ञाः॥ शिलामयं तर्ह्युदके निक्षिपेत् त्वरितं बुधः। २

अव्यक्तप्रासादविचारः

अव्यक्तं(व्यक्तं तु ?) मृण्मयं चाल्पं त्रिहस्तान्तं तु शैलजम्।

दारुजं पुरुषार्द्धं च अत ऊर्ध्वं न चालयेत्॥ 11॥

अब अव्यक्त प्रसाद के सम्बन्ध में विचार किया जा रहा है कि अगर अव्यक्त प्राचीन जीर्ण प्रासाद मृण निर्मित हो तो उसके स्थान पर पुनः प्रासाद बनाएं। यदि पाषाण का बना हो तो वहां तीन हस्त विस्तार वाला और काष्ठ का हो और अर्द्ध पुरुष मान तक ऊंचाई वाला रहा हो तो उसे चलिष्णु करें किंतु अर्द्ध पुरुष मान (60 अङ्गुल) से अधिक रहा हो तो उसे स्थानांतरित या चलिष्णु नहीं करना चाहिए।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में 110, 11 क्रम पर अल्प पाठांतर के साथ है। तुलनीय है- व्यक्तं तु मण्मयं चाल्यं त्रिहस्तान्तं तु शैलजम्। दारुजं पुरुषार्धं तु तत ऊर्ध्वं न चालयेत्॥

सिद्धस्थापितस्थलविचारः

विषमस्थानमाश्रित्य भग्नं यत्स्थापितं सुरैः(पुरा, पुरैः ?)।

१. वही 1-4

२. वही 29-33

तत्र स्थाने(न ?) स्थिता देवा भग्नाः पूजा(पूज्या ?)फलप्रदाः॥ 12॥

जिन देवालयों, प्रासादों और चत्वरों पर सिद्धों, महापुरुषों ने देवी-देवताओं की स्थापना की हो और यदि वे विषम स्थानाधारित भी हों और भग्न हो गए हों तो भी पूजनीय होते हैं। सिद्ध स्थापित स्थलों पर देवार्चाओं में देवात्माओं का निवास होता है और वे पूजक को यथेष्ट फल प्रदान करती हैं।

अपराजितपृच्छा में कहा गया है- पातनाद् व्याधिदातात्मा महादुःखाय जायते। सतोत्सवयात्राश्च तेषां रूपाणि कारयेत्॥ स्तम्भवेधैर्यथावास्तु वास्तुवेधैस्तथा सुराः। देववेधे भवेन्मृत्युः शिल्पिकारावरादिषु॥ १

इस प्रसंग में मयमयोक्त लिङ्गजीर्णोद्धार निर्देश विचारणीय है- पतितं स्फुटितं लिङ्गं दुस्तरपारासुवृत्त च। वक्रमधोगतलिङ्गं लिङ्गादत्यूर्ध्वगतलिङ्गम्॥ परितर्कैरुपकामं तदङ्गेन स्थापितं लिङ्गम्। भिन्नं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटनं तु भग्नं च॥ चोरादिभिरुद्धृतं किंदेशं स्थानं तु दूषितैः स्पष्टम्। विपरीतमयोगं यल्लिङ्गं संदृश्यते तु भुवि॥ तेन सदाशिवमुदितं तज्ज्ञैर्लोकेऽपि जन्तूनाम्। पतिते चेत्स्थापिते लिङ्गे स्मित्रज्ञेन केनापि॥ अन्यत्सूर्य किरणान्निहतं लिङ्गं स्थापयेत् तत्र। अन्त्येनान्तरितं वा श्वभ्रान्तं नैव संप्राप्तम्॥ अनभीष्टमार्गतास्यं तल्लिङ्गं तुच्छमिति कथितम्। तत्रैव तु तल्लिङ्गं सम्यग्विद्वान् यः समीकुर्यात्॥ वक्रं च वक्रवृत्तं तल्लिङ्गं यत्तदेव तत्समितम्॥ तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालज्ञातं त-(थ-)ा वापि। तदधोगतमित्युक्तं तल्लिङ्गं चो-(द्धरेत् समितम्)॥ तल्लिङ्गं तु निमग्नं कालाज्ञातमूर्ध्वगतम्। तत्र स्थाप्य(पुनरपि) निर्दोषकं यदिदम्॥ (सरितः स्रोतः) पतितं नीत्वा शतदंडमन्यस्मिन्। स्थाप्यं तद्दैविकविधिना शुद्धे देशे मुखं प्राग्वत्॥ मंत्रक्रियेतरलिङ्गं सर्वेषां लक्षणोपेतम्। अज्ञस्थापितमेतत्तद्योजयेद्विधिना॥ हीनं ज्वलनालीढं जीर्णं सस्फोटकं च भग्नं च। लिङ्गं साध्यं त्यक्त्वा पुनस्तत्स्थापयेत्रवं लिङ्गम्॥ अधरोत्तरमज्ञानां मोहेन वाऽप्यन्यदाननयुक्तम्। विपरीतं त्यजेत् सहसा उचितं यत्रवमन्यत्तत्रैव स्थापयेद् विधिना॥ अत्रोचितलक्षणं तत् शून्यं तलं तु वा चाक्षम्। (अ-)ग्राह्यं क्षेत्रगतं यत्र तद्योग्यं सर्वथा त्याज्यम्॥ तत्रैवान्यल्लिङ्गं नवमुचितं स्थापयेद् विधिना। चोरादुद्धृतकं तदन्तः पतितं चेत्पञ्चसन्धानम्॥ तत्र तदेव स्थाप्यं निर्दोषं पूर्ववद् विधिना॥ चण्डालशूद्रकाद्यैः स्पृष्टं च लिङ्गं तर्ह्ययोग्यकं शस्तम्। २

यद्यथा स्थापितं(स्थापिता ?) वास्तु तत्तथैव हि कारयेत्।

१. वही 12-13

२. वही 15-29

अव्यङ्गं(क्तं ?) चालितं तत्तु दारुणं(दार्वश्म ?) कुरुते भयं(मयं ?)॥ 13

महापुरुषों ने पूर्वकाल में जिन देव प्रासादों की स्थापना की हो यदि आवश्यकता होने पर उनके पुनरूद्धार का कार्य हाथ में लेना हो तो उनकी पूर्वरूपता को यथावत रखने का प्रयास करना चाहिए। प्राचीन देवायतन में यदि प्रतिमा-अर्चादि अखण्ड हो तो उसे हिलाए-डुलाए नहीं, न ही अपने स्थान से च्युत करें, यदि ऐसा किया जाता है तो दारुण दुःख और भय की आशंका रहती है।

यह मत अपराजितपृच्छाकार का है- यद्यस्य स्थापितं वास्तु तत्तथैव हि कारयेत्। अव्यङ्गं चालितं वास्तु दारुणं कुरुते भयम्॥ (109, 17)

अग्निपुराणकार ने भी कहा है कि असुरों, मुनियों और महान तान्त्रिकों ने जिस मन्दिर और शिवलिङ्ग की स्थापना की हो, वह जीर्ण या भग्न भी हो तो विचलित नहीं किया जाना चाहिए- असुरैर्मुनिभिर्गोत्रैस्तन्त्रविद्भिः प्रतिष्ठितम्। जीर्णं वाऽप्यथ वा भग्नं विधिनाऽपि न चालयेत्॥ एष एव विधिः कार्यो जीर्णधामसमुद्धृतौ। खडगे मन्त्रगणं न्यस्य कारयेन्मन्दिरान्तरम्॥ १

जीर्णोद्धारप्रसङ्गेपरामर्शः

अथ तच्चालतः(अर्थ तःश्चालयेत् ?) प्राज्ञो जीर्णं व्यङ्गं च दूषितम्।

आचार्यः शिल्पिभिः प्राज्ञैः शास्त्रदृष्ट्या समुद्धरेत्॥ 14॥

जो देवायतन जीर्णशीर्ण हो गया हो, जिसमें अर्चाओं के अङ्ग-भङ्ग हो गए हों, उनका पुनरूद्धार किया जाना चाहिए किंतु इस कार्य में विद्वान वास्तुविद, आचार्य और शिल्पी की सम्मति आवश्यक हैं तथा शास्त्र मतानुसार ही उसका उद्धार कार्य किया जाना चाहिए।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में 109, 18 क्रम पर 'अथ चेत् चाल्यते तत्तु' भेद के अतिरिक्त इसी रूप में है।

जीर्णप्रासादपातनं विधौ-

स्वर्णजं रौप्यजं वापि कुर्यान्नागमथो वृषम्(: ?)।

तस्य शृंगेण दन्तेन पतितं पातयेत् सुधीः॥ 15॥

इति जीर्णोद्धार विधिः।

१. वही 20-21

जिस वास्तु का पुनरूद्धार किया जाना हो, उसे पहले गिराएं और इसके लिए पूर्व में स्वर्ण या रजत का गज या वृषभ वनाएं। इस गज के दांत या वृषभ के शृंग से ही जीर्ण प्रासाद को ध्वस्त करने का कार्य आरंभ करें। वाद में उसे पूर्ण रूप से अथवा आवश्यकतानुसार गिराएं, यह विधि दोष मुक्त व निरापद है।

इस सम्बन्ध में अपराजितपृच्छा का मत तुलनीय है- अपतितानि पातयेच्च क्रियादिकैः। स्वर्णमयं गजं कुर्याद् वृषभं वा यथोचितम्॥ अथरूप्यमयं वापि गजं वा वृषभं तथा। पातयेद् गजदन्ताग्रैर्वृषशृङ्गैरथापि वा॥ ततोऽनुक्षाल्यमानेऽपि वास्तुस्थानं न चालयेत्। ह्रस्ववृध्धी न कर्त्तव्ये कृते दोषो महाभयम्॥ १

निर्माणेमहादोषः

मण्डलं जातकं चैव कीलकं सुषिरं तथा(स्तथा ?)।

छिद्रं सन्धिश्च काराश्च महादोषा(रोषा ?) इति स्मृताः॥ 16॥

अब जीर्ण प्रासाद के लक्षण बताए जा रहे हैं। ये लक्षण यदि कहीं दिखाई दे तो उनको महादोष समझना चाहिए। ये हैं- चूना या अराइश पर धब्बे या मण्डल पड़ जाना, जाले या छज्जे बन जाना, कीलें ही कीलें लग जाना, पोला या सुषिर हो जाना, दीवारों में छिद्र हो जाना, सन्धियों का उघड़ जाना या दीवार फट जाना और निरंतर बंद ही पड़े रहना।

यह श्लोक अपराजितपृच्छा में 109, 25 क्रम पर इसी रूप में है।

भिन्नाभिन्नदोषः

भिन्न(न्नं ?)दोषकरं यस्मात् प्रासादमठमन्दिरम्।

मूषा(मुखा ?)भिर्जालकैर्द्वारै रश्मिवातैः प्रभेदितम्॥ 17॥

देवायतन, मठ और भवन में सूर्य की किरणों से तब दोष होता है जबकि मूषा या विस्तृत अलिन्द से, जालिकाओं अथवा किसी द्वार से वेधित हों। इस दोष को भिन्न दोष माना जाता है।

१. सूत्र 111, 7-9

भुवनदेवाचार्य ने कहा है- प्रासादमठवेश्मान्यभिन्नानि शुभदानि हि॥ मूषाभिजालकैर्द्वारैगर्भो यत्र न भिद्यते। अभिन्नं कथ्यते तच्च प्रासादो वेश्म वा मठः॥ कुक्षिद्वारैस्तथा जालैर्मूषा रश्मिप्रभेदिता। (110, 3-5)

देवगृहेदोषविचारः

ब्रह्म-विष्णु-शिवार्काणां भिन्नं दोषकरं नहि।

जन-गौरी-गणेशानां गृहं भिन्नं विवर्जयेत्॥ 18॥

यदि उपर्युक्त भिन्न दोष ब्रह्मायतन, विष्णवायतन और शिवालय में हो तो वहां दोष नहीं लगता है किंतु जिनालय, देव्यायतन और गणपति मंदिरों के संदर्भ में यह दोष अवश्य लगता है अतः इनका परिहार कर ही प्रासादों का निर्माण किया जाना श्रेयस्कर होता है।

यही मत अपराजितपृच्छा के प्रासादनवजीर्णवास्तुकम् सूत्र में कहा गया है- अभेद्यपतितं भेद्यं नार्चागेहे सुरालयम्। शस्ताकारमिदं प्रोक्तं मूर्तास्तास्तत्र देवताः॥ ब्रह्मविष्णुरवीनां च शंभोः कार्या यदृच्छया। गिरिजाया जिनादीनां मन्वन्तरभुवां तथा। ऐतेषां च सुराणां च प्रासादा भिन्न वर्जिताः।[१]

अधुना व्यक्ताव्यक्तायतनं-

व्यक्ताव्यक्तं गृहं कुर्याद्भिन्नं भिन्नाभिन्नस्य(भिन्नान्दा ?) मूर्त्तिकम्।

य(अ, यद्यथा ?)था स्वामिशरीरं स्यात्प्रासादमपि तादृशम्॥ 19॥

इति भिन्नदोषाः।

उपर्युक्तानुसार भिन्नाभिन्न दोष वाली देव प्रतिमाओं, अर्चाओं के संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जो प्रतिमा भिन्नदोष से रहित हो उनके निमित्त प्रकाशयुक्त प्रासाद बनाएं तथा जो भिन्नदोषयुक्त देव प्रतिमा हो उनके लिए प्रकाश रहित प्रासादों का निर्माण किया जाना शुभ होता है। गृहस्वामी जिस प्रकार अपने अनुकूल गृह का निर्माण कराता है, उसी प्रकार देवरुचि, प्रकृति के अनुसार प्रासादों का निर्माण किया जाना चाहिए।

१. वही 1-3

यह मत भुवनदेव के ही उक्त सूत्र से है। तुलनीय- व्यक्ताव्यक्तं लयं कुर्यादभिन्ना भिन्न मूर्तयोः। मूर्तिलक्षणजं स्वामी प्रासादं तस्य तादृशम्॥ (वही 7)

अथ महामर्मदोषप्रकारादि-

भिन्नं चतुर्विधं ज्ञेयमष्टधा मिश्रकं मतम्।

मिश्रकं पूजितं तत्र भिन्नं वै दोषकारकम्(कारणम् ?)॥ 20॥

देव प्रासादों में भिन्नदोष चार प्रकार के होते हैं और मिश्र संज्ञक दोषों के आठ प्रकार हैं। वास्तुशास्त्रानुसार मिश्र दोष ग्राह्य होते हैं किंतु भिन्नदोष अग्राह्य और दोषकारक माने गए हैं।

उक्त मत भुवनदेवाचार्य का है। पाठांतर तुलनीय है- भिन्नाश्चतुर्विधा ज्ञेया अष्टधा मिश्रका मताः। मिश्रकाः पूजितास्तत्र भिन्ना वै दोषकारकाः॥[१]

छन्दभेदो न कर्त्तव्यो जातिभेदस्तथा(भेदोऽपि वा ?) पुनः।

उत्पद्यते महामर्म जातिभेदकृते सति॥ 21॥

जिस प्रकार कविता के छन्द या प्रस्तारक्रम में गुरु (ऽ) या लघु (।) के अनुचित प्रयोग से छन्दभङ्ग होता है, वैसे ही प्रासादों में छन्द, प्रस्तारक्रम के नियमानुसार नहीं होने से प्रासाद दूषित हो जाते हैं। इससे महामर्म दोष होता है।

उक्त श्लोक अपराजितपृच्छा से हैं- छन्दोभेदा न कर्तव्या जातिभेदास्तथा पुनः। हीनशाखा न कर्तव्या लतिने चंद्रलोकनम्॥ तलच्छन्दानुसारेण हीनाङ्गं शिखरं भवेत्। ऊर्ध्वं तु फांसनाकारं जातिभेदोऽत्र जायते॥ हीनशाखा न कर्तव्या लतिने चंद्रालोकना। भिन्नदोषाश्च चत्वारः प्रासादे दारुकर्मणि॥[२]

समराङ्गणसूत्रधार के 26वें अध्याय एवं अपराजितपृच्छा के 68वें सूत्र में वास्तुछन्दों का विस्तृत विवरण हैं। भुवनदेव ने गृहप्रासादसम्भूतच्छन्दभेदसूत्र में प्रासादोपयोगी छहों छन्दों- मेरु छन्द, खण्डमेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट एवं नष्ट छन्द को स्पष्ट किया है- मेरुश्च खण्डमेरुश्च पताका सूचिका तथा। उद्दिष्टं नष्टमित्युक्ताश्छंदाः षड्बुधसम्मिताः॥ 68, 3,इनके उपभेद भी बताए हैं- पृथ्व्याकारो यथा छन्दो मेर्वाकारसमुद्भवः। षड्विधं मेरुच्छन्दश्च षट्त्रिंशच्छन्दभेदकाः॥ भैदेस्तत्र त्र्यष्टशतैर्दशभिर्गुणितैस्ततः। चतुर्विंशत् सहस्राणि छन्दभेदाश्च सङ्ख्यया॥ (वही 26-

१. वही 15

२. वही 16-18

27) मण्डन ने वास्तुमण्डनम् के प्रारंभ में इन छन्दों का विवरण उक्त दोनों ही ग्रंथों के आधार पर ही दिया है।

अन्यविविधदोषफलं-

द्वारहीने हनेच्चक्षुर्नाली(र्नाभि ?)हीने धनक्षयम् (: ?)।

अपदे(द ?) स्थापिते(तैः ?) स्तम्भैर्महारोगं विनिर्दिशेत् ॥ 22 ॥

यदि प्रासाद का द्वार निर्धारित मान से हीन हो तो नेत्र क्षति होती है। प्रासाद में प्रणाल (नाभि ?) नहीं रखा जाए तो धनक्षय, निर्धारित स्थान पर स्तम्भ को नहीं रखा जाए तो प्रासाद निर्माता को महारोग की आशंका रहती है।

मण्डन द्वारा प्रासाद के विभिन्न अङ्गों, उपाङ्गों के निर्धारित मान से न्यूनाधिक होने के फलाफल अपराजितपृच्छा से दिए गए हैं- हीनमाने तु ये दोषाः कथये तान् समासतः। भिन्नदोष आयुर्हानिं द्वारहीने नालिहीने धनक्षयः॥ अपदस्थापितैः स्तम्भैर्महारोगं विनिर्दिशेत्। [१]

स्तम्भव्यासोदये हीने कर्त्ता(कांता!) तत्र विनश्यति।

प्रासादे पीठहीने तु नश्यन्ति गज-वाजिनः ॥ 23 ॥

यदि प्रासाद में स्तम्भ का व्यास-मान विस्तारपूर्वक हो अथवा उदयारंभ में न्यूनता हो तो प्रासाद निर्माता (उसकी पत्नी!) का विनाश होता है। इसी प्रकार प्रासाद की पीठ यदि हीन मान वाली हो तो गज-अश्वादि वाहनों की क्षति होती है।

यह निर्देश भुवनदेवाचार्य का है- स्तम्भव्यासोदये हीने कान्ता तत्र विनश्यति॥ प्रासादे पीठहीने तु नश्यन्ति गजवाजिनः। [२]

रथोपरथहीने तु प्रजापीडां विर्निदिशेत्।

कर्णहीने सुरागारे फलं क्वापि न विद्यते(लभ्यते ?) ॥ 24 ॥[३]

१. सूत्र 113, 4-5

२. वही 5-6

३. कोलकता पाठ में लिपिकार की त्रुटि से 'रथोपरथहीने तु कर्त्ता तत्र विनश्यति। प्रासादे पीठहीने तु प्रजापीडां विनिर्दिशेत्' श्लोक का किञ्चित पाठ भेद के साथ पुनर्लेखन हो गया है। ३

प्रासाद में रथ और उपरथादि के अङ्ग निर्धारित मान से हीन हो तो प्रजा का विनाश होता है और सुरागार कर्ण से हीन हो तो पूजादि का फल नहीं मिलता है।

यह मत अपराजितपृच्छाकार का है- रथोपरथहीने तु प्रजापीडां विनिर्दिशेत्॥ कर्णहीनो यदा वास्तुरयुक्तफमादिशेत्। क्रीडन्ति राक्षसास्तत्र फलं क्वापि न विद्यते॥ [१]

जङ्घाहीने हरेद्बन्धुः(बंधून् ?) कर्त्तृकारापरादिकान्(कारपितादिकान्)।

शिखरे हीनमाने तु पुत्र-पौत्र-धनक्षयः ॥ 25 ॥

यदि प्रासाद का जङ्घाभाग हीन हो तो बंधु-बांधवों का क्षय होता है और कर्त्ता को बहुहानि उठानी पड़ती है। शिखर का निर्माण प्रमाणानुसार नहीं हुआ हो तो पुत्र, पौत्र और धन-संपत्ति का क्षय होता है।

यह मत अपराजितपृच्छा से तुलनीय है- जङ्घाहीने भवेद्बन्धुकर्तृकावरनाशनम्। शिखरे हीनमाने तु नश्यन्ति पुत्र-पौत्रकाः॥ [२]

अतिदीर्घे कुलच्छेदो ह्रस्वे(-धि ?) व्याधि समुद्भवः (विनिर्दिशेत् ?)।

तस्माच्छास्त्रोक्त (स्त्रेस्तु ?) मानेन सुखदं सर्वकामदम् ॥ 26 ॥

देवालय में यदि शिखर निर्धारित मान से अधिक दीर्घ हो तो कुलनाश होता है तथा न्यून हो तो नाना व्याधियां उत्पन्न होती है। विद्वान शिल्पी को इस प्रकार फलाफल को दृष्टिगत रखते हुए ही शास्त्रोक्त विधि व मानानुसार प्रासाद का निर्माण करना चाहिए। विधि पूर्वक बना हुआ वास्तु ही सुखद होता है और सभी कामनाओं को पूर्ण करता है।

मण्डन के इस मत का आधार अपराजितपृच्छा है। तुलनीय है- अतिदीर्घे कुलोच्छेदो ह्रस्वे व्याधिसमुद्भवः। स्थपुटस्थापने पीडा कर्ता तत्र विनश्यति॥ [३]

जगत्यां(न् ?) रोपयेच्छालां(लोपयेच्छालं ?) शालायां चैव मण्डपम्।

मण्डपेन च प्रासादो ग्रस्तो वै दोषकारकः ॥ 27 ॥

इति विविध दोषाः।

१. वही 6-7

२. वही 8

३. वही 9

प्रासादों में जगती, शाला व मण्डपादि का दोष भी विचारणीय है। यदि जगती में शाला अथवा चौकी मण्डप बनाएं अथवा मण्डप की संरचना करें या फिर मण्डप सें प्रासाद का ग्रस्त करें तो भी दोष होता है।

अपराजितपृच्छा के कहा गया है- स्कंधहीनः कबन्धश्च समसन्धिः शिरोगुरुः। अप्रसारितपादश्च पञ्चैते धननाशनाः॥ मानाधिको न कर्तव्यो मानहीनं न कारयेत्। शास्त्रोक्तविधिमानेन शुभदं सर्वकर्मसु॥ [१]

अथ छायाभेदाः

प्रासादोच्छ्रायविस्ताराज्जगती वाम-दक्षिणे।

छायाभेदा न(भेदेन ?) कर्त्तव्या यथा लिङ्गस्य पीठिका(पिड़का ?)॥ 28॥

देवालय के उदय और विस्तार के अनुसार ही उसके वाम-दक्षिण भाग में जगती की रचना शास्त्रमान से करनी चाहिए। इसके विपरीत किए जाने पर छायादोष होता है। जिस प्रकार शिवलिङ्ग की जगती उसकी पीठिका होती है वैसे ही प्रासाद रूपी लिङ्ग की पीठिका जगती होती है।

देवपुरराजमंदिरादीनां विस्तृतिदैर्घ्यप्रमाणञ्च-

जगत्याम् त्रि$_3$चतुः$_4$पञ्च$_5$गुणम् देवपुरम् त्रिधा$_3$।

एक$_1$द्वि$_2$वेद$_4$साहस्त्रैर्हस्ते$_{1000}$ स्याद्राजमन्दिरम्॥ 29॥

देवस्थान पुर के निमित्त जगती का शास्त्रीय मान तीन, चार अथवा पाँच गुणा निर्धारित किया गया है। इसी प्रकार राजाओं के महलों, राजहर्म्य या राजनिवेश का मान एक हजार, दो हजार अथवा चार हजार हाथ रखा गया है।

कला$_{16}$ष्ट$_8$वेद$_4$साहस्त्रै$_{1000}$र्हस्तै (ह्रस्वेस्या ?) राजपुरं समम्।

दैर्घ्ये तुल्यं सपादांशं(सपादाष्टं ?) सार्धांशेनाधिकं शुभम्॥ 30॥

शास्त्रानुसार राजधानियों के विस्तारादि का मान सोलह, आठ अथवा चार हजार हाथ निर्धारित किया गया है। इसकी लंबाई का मान विस्तार के समान अथवा उससे सवा या डेढ़ा रखना भी शुभकारक होता है।

---

१. वही 10-11

मण्डन ने राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में भी इसी मत को प्रतिपादित किया है-हस्तानां च युगाष्टषोडशासहस्त्रं भूपतीनां पुरं तन्मध्ये दशधा वदन्ति मुनयो वृद्धा सहस्त्रेण तत्। आयामे च सपादसार्धवसुतो भागः प्रशस्तोऽधिकस्त्वेकैकं च चतुर्विधं निगदितं कार्यं समं कर्णयोः॥ (4, 10)

पुरमध्ये चत्वरत्रिपुरादीनां-

द्वादश$_{12}$(द्वारस्या ?) त्रिपुराणि स्युर्देवस्थानानि चत्वरे(चोत्तरे ?)।

षट्त्रिंशत्$_{36}$षड्$_6$विवृद्ध्या यावदष्टोत्तरं(-देकोत्तरं ?) शतम्$_{108}$॥ 31॥

उत्तम राजधानी वाले नगर में बारह चत्वरों के साथ छत्तीस त्रिपुरों की रचना करवानी चाहिए। विशेष विस्तार हो तो वहां छह-छह के क्रम से वृद्धि करते हुए एक सौ आठ तक त्रिपुर बनाए जा सकते हैं।

राजधान्यालङ्करणादि-

पुरं प्रासादगेहे(-गृहैः ?) स्यात् सौधैर्जालगवाक्षकैः।

कीर्त्तिस्तम्भैर्जलारामै-र्गैहैर्भाण्डैः(मठै,गंढैर्माडैश्च ?) सुशोभितम्॥ 32॥

राजधानी वाले नगर को विविध देवालयों, राजगृहों से युक्त करें जिनमें सुंदर जालियां और गवाक्षों का निर्माण हो। वहां शोभा के लिए कीर्त्तिस्तम्भ, आकर्षक जलाशय, दुर्भेद्य दुर्ग और मण्डपों की संरचना भी की जानी चाहिए।

इति देवपुरराजमन्दिरपुराणि।

यत्याश्रममठादीनां-

प्रासादस्योत्तरे याम्ये तथाग्नौ पश्चिमेऽपि च (वा ?)।

यतीनामाश्रमं कुर्यान्मठं(कुर्यात्सततं ?) तद् द्वि$_2$त्रि$_3$भूमिकम्॥ 33॥

यति, तपस्वियों के आश्रम, मठ आदि को प्रासाद की उत्तर अथवा दक्षिण दिशा में बनाएं। अग्निकोण या पश्चिम में भी इनका निर्माण हो सकता है। इनको दो या तीन भूमियुक्त अथवा मंजिल वाला बनाएं।

षडदारुश्चपट्टशालादीनां-

द्विशालमध्ये षड्दारुः पट्टशालाग्र शोभितम्।

मत्तवारणमग्रे च तदूर्ध्वं पट्टभूमिषु(पट्टभूमिका ?)॥ 34॥

मठ, आश्रमादि को विस्तृत बनाएं। उसकी द्विशाला के मध्य में षडदारु रखें और आगे के भाग को पट्टशाला से सुशोभित करें। तदोपरांत मत्तवारण के अग्रभाग में पट्टभूमिका की संरचना की जानी चाहिए।

आगम रहस्य में शालादि के संदर्भ में कहा गया है- *प्रागेव दीक्षादिवसात् सप्तभिर्विधिवद् दिनैः। सर्वमङ्गलसंपत्त्यै विदध्या-दङ्कुरार्पणम्॥ मण्डपस्योत्तरे भागे शालां पूर्वापरायताम्। गूढां कुर्यात् ततस्तस्यां मण्डलं रचयेत् सुधीः॥ विंशत्या तु करैर्मान दशायामेन विस्तृतः। शालाया उत्तमं मानमर्धादौ मध्यमादिकम्॥ पञ्चहस्तप्रमाणानि पञ्चसूत्राणि पातयेत्। पूर्वापरायतान्येषामन्तरे द्वादशाङ्गुलं॥ दक्षिणोत्तर सूत्राणि तद्वदेकादशार्पयेत्। पदानि तत्र जायंते चत्वारिंशत् प्रमार्जयेत्॥*[१]

अन्यान्यस्थानानि-

कोष्ठागारं च वायव्ये वह्निभागे महानसम्।

पुष्पगेहं तथैशाने नैर्ऋत्ये पात्रमायुधम्॥ 35॥

मठ और आश्रम के वायव्य कोण में धान्यादि का कोष्ठागार बनाएं, आग्नेय कोण में महानस या भोजनशाला, ईशान कोण में पुष्पगृह तथा नैर्ऋत्यकोण में आवश्यक यति पात्र और आयुधागार का निर्माण करना चाहिए।

सत्रा(छत्रा ?)गारं च पुरतो वारुण्यां च जलाश्रयम्।

मठस्योपरितः (पुरतः, पुरतौ ?) कुर्याद्विद्याव्याख्यानमण्डपम्॥ 36॥

इति मठाश्रमः।

इसी प्रकार मठ एवं आश्रम के अग्रिम हिस्से में यज्ञार्थ वेदिका और पश्चिम दिशा में कुण्डादि जलस्थान की रचना करें। मठ के आगे ही विद्याध्ययन कक्ष और व्याख्यान-प्रवचन पीठिका या मण्डप का निर्माण भी किया जाना चाहिए।

प्रतिष्ठादिवस विमर्शः

पूर्वोक्ता सप्तपुण्याहप्रतिष्ठा सर्वसिद्धिदा।

रवौः(रवेः ?) सौम्यायने कुर्याद्देवानां स्थापनादिकम्॥ 37॥

इस ग्रंथ के पूर्व में, प्रथम अध्याय में पुण्यदायक जो सात विमर्श निर्दिष्ट किए गए हैं, उनके अनुसार देवालयादि का प्रतिष्ठाकर्म सर्वसिद्धि प्रदायक माना गया है।

---

१. आगम रहस्य भाग 1, श्लोक 3630-3634

ज्योतिष, वास्तु विषयक शास्त्रों में देव प्रतिष्ठा काल के रूप में सूर्य की उत्तरायण अवधि को श्रेष्ठ कहा गया है।

देवालय के निर्माणारंभ से लेकर देव प्रतिष्ठा तक सात कर्म होते हैं जिन्हें यथा विधि, निर्देश पूरा करना चाहिए। ये कर्म हैं- कूर्म स्थापना, द्वार स्थापना, पद्म शिला स्थापना, प्रासाद पुरुष की स्थापना, कलश और ध्वजारोहण तथा देव प्रतिष्ठा। इन सभी अवसरों पर वास्तु पूजन आवश्यक है- अथ पुण्याहसप्तकम्- कूर्मसंस्थापने द्वारे पद्माख्यायां तु पौरुषे। घटे ध्वजे प्रतिष्ठायामेव पुण्याहसप्तकम्॥ अपराजितपृच्छा में भी सप्तपुण्याह को विश्लेषित किया गया है- कूर्मशिला तथाद्वारं पद्मकं पुरुषः क्रमात्। कलशो ध्वजः प्रतिष्ठा च सप्तपुण्याहकानि च॥ (114, 10)

प्रतिष्ठोपयोगीर्क्षं-

प्रतिष्ठा(ष्ठे ?) चोत्तरामूल आर्द्रायां च पुनर्वसौ(सु ?)।

पुष्ये-हस्ते-मृगे-स्वाती-रोहिण्यां श्रुति(श्रुति ?)मैत्रभे॥ 38॥

उत्तरा त्रय (उत्तराषाढ़, उत्तराभाद्रपद व उत्तराफाल्गुनी), मूल, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, मृगशिरा, स्वाती, रोहिणी, श्रवण और अनुराधा नक्षत्र देव प्रतिष्ठाकार्य के लिए शुभ माने गए हैं।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में कहा है कि उत्तरायण में, शुक्लपक्ष में, चन्द्र और गुरु के षड्वर्ग में, स्थिर लग्न में, स्थिर नवांश में, शुभग्रह पञ्चम, नवम, लग्न, चतुर्थ, सप्तम और दशम स्थान में हों, पापग्रह तृतीय, षष्ठ, दशम और एकादश में हों, तीनों उत्तरा, रोहिणी, मृगशिरा, रेवती, चित्रा, अनुराधा, श्रवण, पुष्य और स्वाती नक्षत्रों में, मङ्गल को छोड़कर शेष दिनों में और प्रतिष्ठा करने वाले के शुभ करने वाले समय में देवता का स्थापन शुभ होता है- उदगयने सितपक्षे शिशिरगभस्तौ च जीववर्गस्थे। लग्ने स्थिरे स्थिरांशे सौम्यैर्धीधर्मकेंद्रगतैः॥ पापैरुपचय संस्थैध्रुवमृदुहरितिष्यवायुदेवेषु। विकुजे दिनेऽनुकूले देवानां स्थापनं शस्तम्॥ (60, 20-21)

तिथ्यौगादीनां-

तिथिरिक्तां कुजं धिष्ण्यं क्रूरविद्धं विधुं (विद्धयुतं ?) तथा।

दग्धातिथिं च गण्डान्तं चरभोपगृहं त्यजेत्॥ 39॥

रिक्ता तिथि (4, 9, 14), क्रूरग्रह से दृष्ट या वेधित नक्षत्र व चंद्रमा, दग्धा तिथि; नक्षत्र, मास, तिथि और लग्नादि का गण्डान्तयोग, चर राशि और उपग्रह प्रतिष्ठा कर्म की दृष्टि से सर्वथा वर्जनीय स्वीकारे गए हैं।

सुदिने सुमुहूर्ते(शुभनक्षत्रे ?) च लग्ने सौम्ययुतेक्षितौ(-ते ?)।

अभिषेकः प्रतिष्ठा च प्रवेशादिकमिष्यते(-मुच्यते ?)॥ 40॥

शुभदिवस, शुभ मुहूर्त या नक्षत्र, शुभ लग्न, शुभ ग्रह की स्थिति पर विचार कर राजा या देवाभिषेक तथा प्रतिष्ठा कार्य और गृह प्रवेशादि शुभ कार्य किया जाना उचित होता है।

ज्योतिषरत्नमालाकार श्रीपतिभट ने कहा है कि पुष्य, धनिष्ठा, मृदुसंज्ञक, स्वाती, मूल, तीनों उत्तरा, रोहिणी, अश्विनी, श्रवण, शतभिषा और हस्त नक्षत्र में प्रवेश, प्रतिष्ठादि शुभ स्वीकारे गए हैं, इससे पुत्र-पौत्रादि से घर-परिवार भरापूरा रहता है- पुष्ये धनिष्ठा मृदुवायुमूलस्थिराश्विनी विष्णुजलेशहस्ते। एषु प्रवेशो बहुपुत्रपौत्रैः चिरं वसेद् भूरिसमागमैश्च॥ (17, 29)

भूलोकमल्लसोमेश्वर कृत मानसोल्लास में प्रवेश व प्रतिष्ठामुहूर्त के लिए कहा गया है- उत्तरात्रितयं हस्तो रोहिणी रेवती मृगः। पुष्योनुराधा चित्रा च स्वात्याश्विन्यभिजित्तया॥ धनिष्ठा वारुण चेति प्रवेशर्क्षाणि वेश्मनः। सूर्यभूमिसुतौ त्यक्त्वा प्रवेशेऽन्ये शुभावहाः॥ धनुः कुम्भस्तथा कन्या मिथुनं वृषभस्तथा। मीनश्चेति शुभाः वारा राशया लग्नसंगताः॥ लग्नं चतुर्थं दशमं सप्तमं केन्द्रसंक्षितम्। नवं प्रञ्चमं लग्नात् त्रिकोण परिकीर्तितम्॥ केन्द्रत्रिकोणगाः शस्ताः गुरुशुक्रबुधा ग्रहाः। पापास्त्रिलाभषष्ठास्थाः शुभा वेश्मप्रवेशने॥ सुधाकरबलं लब्ध्वा नातिक्षीणे निशाकरे। तिथिं रिक्तां परित्यज्य विशेन्मन्दिरमूर्जितम्॥ (विंशति 3,1,116-121)

मण्डपस्य दिङ्निर्देशः

प्रासादाग्रे तथैशाने(तथैशान्ये ?) उत्तरे मण्डपं शुभम्।

त्रि$_3$ पञ्च$_5$ सप्त$_7$ नन्दै$_9$ कादश$_{11}$ विश्व$_{13}$ करान्तरं(करान्तरे, कम् ?) ॥41॥

प्रतिष्ठा मण्डप के सम्बन्ध के कहा गया है कि देवालय के अग्रभाग में या ईशान कोण अथवा उत्तर दिशा में मण्डप की रचना की जाए। प्रासाद से प्रतिष्ठा मण्डप को तीन, पाँच, सात, नौ, एकादश अथवा तेरह हाथ दूर रखना चाहिए।

कुण्डमण्डपसिद्धि में मण्डप के भूमि की ऊँचाई एवं दो मण्डपों के मध्य अंतराल को भी स्पष्ट किया गया है- उच्चां भूमिं मण्डपस्य प्रकुर्याद्धस्तोन्मानामर्ध हस्तोन्मिता वा। मध्ये भूमिं मण्डपेनोन्मितां च त्यक्त्वा कुर्यान्मण्डपश्चेद् द्वितीयः॥ 1, 14, सिद्धांतशेखर का मत है- स्थलादर्काङ्गुलोच्छ्रयं मण्डपस्थलमीरितम्॥

मण्डपः स्यात् करैरष्ट$_8$ दश$_{10}$ सूर्य$_{12}$ कला$_{16}$ मितैः।

षोडश$_{16}$ हस्ततः कुण्डवशादधिक इष्यते॥ 42॥

मण्डप की रचना आठ, दस, बारह अथवा सोलह हाथ मान से चतुरस्र की जानी चाहिए। यदि कुण्डों का विस्तार हो तो वहां सोलह हाथ से अधिक विस्तृत मण्डप भी बनाया जा सकता है।

कुण्डमण्डपसिद्धि में अधम (10-12 हाथ), मध्यम (12-14 हाथ) तथा उत्तम मण्डप (16-18 हाथ) बताए गए हैं- दशसूर्यकरोन्मितोऽधमः स्यादिनशक्रप्रमितैः करैस्तु मध्यः। धृतिभूपकरोन्मितो वरीयात्रखहस्तोऽप्यथ मण्डपस्तुलायाम्॥[1]

इसी प्रकार लिङ्गपुराण का मत है- दशद्वादशहस्तौ च द्विद्विवृद्ध्या ततः क्रमात्। विंशद्धस्तप्रमाणेन मण्डपं कूटमेव वा। तथाऽष्टादशहस्तेन कलाहस्तेन वा पुनः॥

सिद्धांतशेखर में दस, बीस एवं तीस हाथ के मण्डपों का उल्लेख है- त्रिषूत्तमेषु चैवोक्तस्त्रिंशद्धस्तप्रमाणतः। विंशत्या मध्यमेषूक्तस्त्वन्येषु दशभिः करैः॥

कात्यायनीय शुल्बसूत्रम् में विशेष विवरण है- चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन्मध्यादे निपात्य पार्श्वतः परिलिख्य तत्र यदतिरिक्तं भवति, तस्य तृतीयेन सह मण्डलम् परिलिखेत्स समाधिः॥ (3, 13)

मण्डपमध्यैवेदिकाकुण्डानि-

स्तम्भैः षोडश$_{16}$ भिर्युक्तं(संयुक्तं ?) तोरणादिविराजितम्।

मण्डपे(मण्डपं ?) वेदिका मध्ये पञ्चा$_5$ ष्ट$_8$ नव$_9$ कुण्डकम्॥ 43॥

---

१. वही 15,

प्रतिष्ठा मण्डप को सोलह स्तम्भों वाला बनाएं और स्तम्भों के मध्य भाग को तोरणों से आच्छादित करें। मण्डप के मध्य भाग में वेदिका के साथ पाँच, आठ अथवा नौ यज्ञ कुण्ड भी बनाएं।

वेदिका के सम्बन्ध में आगम रहस्यकार ने कहा है-ततो मण्डपसूत्रं तु त्रिगुणं परिकल्पयेत्। पूर्वादिषु क्रमात् तस्य मध्यभागेन वेदिका॥ [१]

पुनः क्रियासार, संहिता, यामल, कपिल पञ्चरात्रादि के साथ ही सिद्धांतशेखर का मत भी दिया है- वेदी चतुर्विधा तत्र चतुरस्रा च पद्मिनी। श्रीधरी सर्वतोभद्रा दीक्षासु स्थापनादिषु॥ चतुरस्रा चतुःकोणा वेदी सर्वफलप्रदाः तडागादिप्रतिष्ठायां पद्मिनी पद्मसन्निभाः॥ राज्ञां स्यात् सर्वतोभद्रा चतुर्भद्राभिषेचने। विवाहे श्रीकरी वेदी विंशत्यस्र समन्विता। दर्पणोदरसंकाशा निम्नोन्नत विवर्जिता॥ [२]

कुण्डमण्डपसिद्धि में मण्डप के चारों ओर द्वार बनाने का निर्देश है- दिगन्तराले द्विकरं भवेद् द्वाः चतुष्टयं वेदगजाङ्गुलैस्तत्। विवर्धितं मध्यवरिष्ठयोः स्याद्वेदी त्रिभागेन समाकरोच्चा॥ (वही 16)

कुण्डमानम-

हस्तमात्रं भवेत् कुण्डं मेखला-योनिसंयुतम्।

आगमैर्वेदमन्त्रैश्च होमं कुर्याद् विधानतः॥ 44॥

यज्ञ कुण्ड को एक हाथ मान का बनाएं और उसे तीन मेखलाओं और योनि से युक्त करें। कुण्ड निर्माणोपरांत वहां आगम, वेद मन्त्रों से विधि-विधानपूर्वक होम-हवन करना चाहिए।

आगमरहस्यकार ने सोमशंभु के मत से मेखलादि को चतुर्वर्ण मतानुसार बनाने को कहा है- त्रिमेखलं द्विजे कुण्डं क्षत्रियस्य द्विमेखलम्। मेखलैकं तु वैश्यस्य प्रोक्तं कुण्ड विशारदं॥ [३]

इसी प्रसंग में कुण्डसिद्धिकार का मत विचारणीय है- अधमा मेखलैका स्यात् मध्यमं मेखलाद्वयम्। श्रेष्ठास्तिस्रोऽथवा द्वित्रिपञ्चस्वधमतादिकम्॥ वही 49 क्रियासार

१. भाग 1, श्लोक 3616
२. वही 3621-3623
३. वही 3720

का मत है- नाभियोनिसमायुक्तं कुण्डं श्रेष्ठं त्रिमेखलम्। कुण्डं द्विमेखलम् मध्यमं नीचं स्यादेकमेखलमिति॥ इसी प्रकार लक्षणसंग्रहकार का कहना है- मुख्यास्तु पञ्च ताः प्रोक्ता मध्यमास्तिस्र एव च। द्वे स्यातां मध्यमे पक्षे एका स्यात्त्वधमाधमेति॥

आहुतिसंख्यानुसारेमानं-

अयुते$_{10000}$ हस्तमात्रं$_1$ च (स्याद, हि ?) लक्षार्द्धे$_{50000}$ तु द्वि$_2$हस्तकम्।

त्रि$_3$हस्तं लक्षहोमे$_{100000}$ तु (स्याद् ?) दशलक्षे$_{1000000}$ चतुः$_4$करम्॥ 45॥

यदि प्रतिष्ठा, वास्तुकर्मावसर पर दस हजार आहुति देनी हो तो एक हाथ का यज्ञ कुण्ड बनाएं। पचास हजार आहुति देनी हो तो दो हाथ, एक लाख आहुति देनी हो तो तीन हाथ तथा दस लाख आहुति देनी हो तो चार हाथ मान का यज्ञ कुण्ड तैयार किया जाना चाहिए।

त्रिंशलक्षे$_{3000000}$ (विंशल्लक्षे ?) पञ्च$_5$हस्तं कोट्यर्धे$_{5000000}$ षट्$_6$करं मतम्।

अशीतिलक्ष$_{8000000}$ऽद्रि$_7$करं कोटि$_{10000000}$होमेऽष्ट$_8$हस्तकं (कराष्टकं ?) 46॥

इसी प्रकार यदि बीस लाख आहुतियां दी जानी हो तो पाँच हाथ, पचास लाख आहुति देनी हो तो छह हाथ, अस्सी लाख आहुति देनी हो तो सात हाथ तथा कोटि आहुतियां देनी हो तो आठ हाथ मान का यज्ञ कुण्ड तैयार किया जाना चाहिए।

आगम रहस्यकार ने इस प्रसङ्ग में शारदातिलक का मत उद्धृत किया है- सर्वसिद्धिकरं कुण्डं चतुरस्रमुदाहतम्॥ पुत्रप्रदं योनिकुण्डमर्धेन्द्वाभं शुभप्रदम्। शत्रुक्षयकरं त्र्यस्रं वर्तुलं शांतिकर्मणि॥ छेदमारणयोः कुण्डं षडस्रं पद्मसन्निभम्। पुष्टिदं रोगशमनं कुण्डमष्टास्रमीरितं। मुष्टिमात्रमितं कुण्डं शतार्द्धे संप्रचक्षते। शतहोमेऽरत्निमात्रं हस्तमात्रं सहस्रके॥ द्विहस्तमयुते लक्षे चतुर्हस्तमुदीरितम्। दशलक्षेषु षड्हस्तं कोट्यामष्टकरं स्मृतम्॥ एक हस्तमितं कुण्डमेकलक्षे विधीयते। लक्षाणां दशकं यावत् तावद् हस्तेन वर्धयेत्। दश हस्तमितं कुण्डं कोटिहोमे विधीयते॥ [१]

भविष्यपुराण का मत है- मुष्टिमात्रं शतार्द्धे तु शते चाररत्निमानकम्। सहस्रे त्वथ होतव्ये कुण्डं कुर्यात्करात्मकम्॥ द्विहस्तेमयुते तच्च लक्षहोमे चतुष्करम्। दशलक्षमिते होमे षट्करं संप्रचक्षते। अष्टहस्तात्मकं कुण्डं कोटिहोमेषु नाधिकम्॥

ग्रहपूजाविधानेन (च ?) कुण्डमेक$_1$करं भवेत्।

१. वही 3691-3696

मेखला त्रितयं$_3$ वेद$_4$राम$_3$युग्मा$_2$ङ्गुलेः (युग्माङ्गुलैः ?) क्रमात् ॥ 47 ॥

यदि ग्रह पूजार्थ यज्ञ संपादन करना हो तो एक हाथ मान का कुण्ड बनाएं। इन कुण्डों पर विधि पूर्वक तीन मेखलाएं क्रमशः चार तीन, चार और दो अङ्गुल मान की बनानी चाहिए।

कुण्डसिद्धिकार का मत है कि दिशानुसार कुण्डों का आकार तय किया जाना चाहिए। पूर्व दिशा में चतुरस्र, अग्निकोण में योनि के आकार का, उत्तर में अर्द्धचन्द्र, नैर्ऋत्य में त्रिकोण, पश्चिम में गोलाकार, वायव्य में षटकोण, उत्तर में अष्टदलीय पद्माकार और ईशान कोण में यज्ञ कार्य किया जाना हो तो अष्टकोण वाला कुण्ड तैयार करना श्रेयस्कर है, ये दिशानुसार आठ दिक्पालों के कुण्ड माने गए हैं। कुण्ड की विधि वर्णानुसार भी कही गई है- प्राच्याश्चतुष्कोणभगेन्दुखण्ड त्रिकोणवृत्ताङ्गभुजाम्बुजानि। अष्टास्त्रिशक्रेश्वरयोस्तु मध्ये वेदास्त्रि वा वृत्तमुशन्ति कुण्डम् ॥ आशेशकुण्डैरिह पञ्चकुण्डी चैकं यदा पश्चिमसोमशैवे। वेद्याः सपादेन करेण यद्वा पदान्तरेणाखिलकुण्डसंस्था॥ विप्राच्छुत्यस्त्रं च वृत्तं च वृत्तार्द्धं त्र्यस्त्रि स्याद्वेदकोणानि वापि। सर्वाण्याहुर्वृत्तरूपाणि चान्ये योन्याकाराण्यङ्गनानां तु तानि॥[१]

<u>नवकुण्डीचक्रम्-</u>

दिशा	कुण्ड	फल	योन्यग्र	होतामुख
पूर्व	चतुरस्र	सिद्धिलाभ	दक्षिणयोनि उदग्रा	उत्तरमुख
आग्नेय	योनि	पुत्रलाभ	योनि रहित	उत्तरमुख
दक्षिण	अर्द्धचंद्र	शुभफल	दक्षिणयोनि उदग्रा	उत्तरमुख
नैर्ऋत्य	त्रिकोण	शत्रुनाश	पश्चिमयोनि उदग्रा	पूर्वमुख
पश्चिम	वृत्तकुण्ड	शान्ति	पश्चिमयोनि उदग्रा	पूर्वमुख
वायव्य	षट्कोण	मृत्युच्छेदन	पश्चिमयोनि उदग्रा	पूर्वमुख
उत्तर	पद्मकुण्ड	वर्षा	पश्चिमयोनि उदग्रा	पूर्वमुख
ईशान	अष्टास्र	आरोग्य	पश्चिमयोनि उदग्रा	पूर्वमुख
पूर्वेशान	चतुरस्र	आचार्यकुण्ड	दक्षिणयोनि उदग्रा	उत्तरमुख

मध्य		या वृत्त	प्रथम हवन	
एककुण्डीय		पक्षे चतुरस्रं वृत्तं वा यानि:	पश्चिमपूर्वाग्रा	पूर्वमुख

<u>अथ पञ्चकुण्डीचक्रम्-</u>

क्रम	दिशा	कुण्ड का आकार
1.	पूर्व	चतुरस्राकार
2.	दक्षिण	अर्द्ध चन्द्राकार
3.	पश्चिम	वृत्ताकार
4.	उत्तर	पद्माकार
5.	ईशान	अष्टास्र, चतुरस्र या वृत्ताकार

अथ मण्डलम्-

एक$_1$द्वि$_2$ (हि ?) त्रि$_3$करं कुर्यात् वेदिकोऽपरि मण्डलम्।
ब्रह्म-विष्णु-रवीणां तु (च ?) सर्वतोभद्रमिष्यते ॥ 48 ॥

वेदिका के शीर्ष पर एक, दो अथवा तीन हाथ के मान का मण्डल बनाना चाहिए। ब्रह्मा, विष्णु और सूर्यदेव की प्रतिष्ठा की जानी हो तो सर्वतोभद्र संज्ञक मण्डल की रचना शास्त्रसम्मत है।

शारदातिलक से आगम रहस्यकार ने सर्वतोभद्र मण्डल की विधि को उद्धृत करते हुए कहा कि वास्तुमण्डल की रीति के अनुसार दो कर्ण सूत्र के साथ चौकोर मण्डल सर्वतोभद्र होता है- अथ वेद्यां प्रकुर्वीत मण्डलानि यथाक्रमात्। चतुरस्रे चतुष्कोष्ठे कर्णसूत्रसमन्विते। चतुर्ष्वपि च कोष्ठेषु कर्णसूत्रचतुष्टयम्॥ मध्ये-मध्ये यथा मत्स्या भवेयुः पातयेत् तथा। पूर्वापरायते द्वे-द्वे मंत्री याम्योत्तरायते॥ पातयेत् तेषु मत्स्येषु समं सूत्रचतुष्टयम्॥[१]

भद्रं तु सर्वदेवानां नव$_1$नाभिस्तथा त्रयम्$_3$।
लिङ्गोद्भवं शिवस्यापि लतालिङ्गोद्भवं तथा ॥ 49 ॥

विभिन्न देवों की प्रतिष्ठा के अवसर पर भद्र संज्ञक मण्डल बनाया जाना चाहिए। साथ ही नौ नाभियुक्त लिङ्गोद्भव मण्डल भी बनाएं। शिवलिङ्ग की प्रतिष्ठा के अवसर पर लिङ्गोद्भव तथा लतालिङ्गोद्भव संज्ञक मण्डल बनाना चाहिए।

आगम रहस्यकार ने नवनाभ मण्डल का विधान इस प्रकार बताया है- चतुरस्रे चतुःषष्टिपदान्यारचयेत्। सुधीः। पादैश्चतुर्भिः पद्मं स्यान्मध्ये तत्परितः पुनः॥ वीथीश्चतस्रः कुर्वन्ति मण्डलान्ता-वसानिकाः। दिग्गतेषु चतुष्केषु पङ्कजानि समालिखेत्॥ विदिग्गत चतुष्कानि भित्त्वा षोडशधा सुधीः। मार्जयेत् स्वस्तिकाकारान् श्वेतपीतारुणासितैः। रजोभिः पूरयेत् तानि स्वस्तिकानि शिवादितः। प्राक् प्रोक्तेनैव मार्गेण शेषमन्यत् समापयेत्॥ [१]

भद्रं(भद्रां च ?) गौरीतिलकं च देवीनां पूजने हितम्।

अर्द्धचन्द्रं तडागेषु चापा(वाप्रा ?)कारं तथैव च॥ 50॥

यदि देवियों का पूजन और प्रतिष्ठाकार्य हो तो वहां भद्र और गौरीतिलक संज्ञक मण्डल की रचना करनी चाहिए। जलाशय की प्रतिष्ठा हो तो अर्द्धचन्द्र या धनुषाकार मण्डल की रचना करें।

तन्त्रान्तर ग्रंथ मत को उद्धृत करते हुए आगमरहस्यकार ने कहा है- शक्तस्तु वाञ्छेद् यदि सिद्धिमुग्रां तद्वर्णरत्नैरिह मण्डलानि। आभूषयेन्मौक्तिक पुष्प-राग-माणिक्य-नीलैर्हरितैश्च रत्नैः॥ [२]

टङ्काभं स्वस्तिकं चैव वापी-कूपेषु(कूपादि ?) पूजयेत्(पूजने ?)।

पीठिकाजलपट्टेषु(पीठेषु ?) योन्याकारं तु कामदम्॥ 51॥

वापी, कूपादि की प्रतिष्ठा में टङ्काभ और स्वास्तिक संज्ञक मण्डल की पूजा करनी चाहिए। पीठिका तथा जलपीठ या जलपट्ट की प्रतिष्ठा में योन्याकार मण्डल की पूजा करने से मनोरथ सिद्ध होते हैं।

गजदन्त(जगदन्तं ?) महादुर्गे प्रशस्तं मण्डलं यजेत् (भवेत् ?)।

टङ्काभं चतुरस्रं च गजदन्त मिहायतम्(महायतम् ?)॥ 52॥

वृहद् दुर्ग की प्रतिष्ठा के अवसर पर गजदंत संज्ञक मण्डल की पूजा करें। गजदंत मण्डल लंबाकार होता है जबकि टङ्काभ मण्डल चतुरस्र या समचोरस है।

१. वही 3818–3821
२. वही 3308

विख्यातं सर्वतोभद्रं ज्ञेयान्यानि च लोकतः(ज्ञेयमन्योऽन्यलोकतः ?)।

पूर्वादितोरणं प्लक्ष-यज्ञाङ्ग-वट-पिप्पलैः॥ 53॥

सभी मण्डलों में सर्वतोभद्र मण्डल ही विशेष रूप से प्रसिद्ध है, इसके और अन्य मण्डलों के आकार-निर्माणादि के विषय में सूत्रसंतान या अपराजितपृच्छादि अन्य शास्त्रों का अवलोकन करना चाहिए। पूजा, हवनादि के अवसर पर यज्ञ मण्डप में पूर्वादि दिशाओं में प्लक्ष या पाकड़, यज्ञाङ्ग या उदुम्बर, वट और पीपल के पत्तों के तोरण बनाकर टांगने चाहिए।

अथातौ ऋत्विजसङ्ख्यया-

द्वात्रिंशत्$_{32}$ षोडशा$_{16}$ष्टौ$_{8}$ च ऋत्विजो(रुत्तमान् ?) वेदपारगान्।

कुलीनानङ्गसंपूर्णान्(कुलिनोऽनङ्गसर्वज्ञान् ?) यज्ञार्थमभिमन्त्रयेत्॥ 54॥

यज्ञ अवसर पर विद्वान पुरुष को यज्ञकर्म विशारद 32, 16 या 8 ऋत्विजों को आमन्त्रित करना चाहिए। ऋत्विजों को सम्पूर्ण रूप से वेद-वेदाङ्गों का ज्ञान हो और वे अच्छे कुल से तथा सर्वाङ्ग या अङ्गभङ्ग दोष से मुक्त होने चाहिए।

अथातो देवस्नानविधौ-

मण्डपस्य त्रि$_{3}$भागेन चोत्तरे(उत्तरे ?) स्नानमण्डपम्।

स्थण्डिलं वालुकं कृत्वा शय्यायां(सौर्म्यां ?) स्नापयेत्सुरम्॥ 55॥

देव पूजा, स्नानादि के लिए निर्देश है कि सर्व प्रथम मण्डप को इस प्रकार नौ भागों में विभाजित करें कि आठों दिशा में आठ भाग और मध्य में एक भाग बनें। इसमें उत्तर दिशा के भाग में स्नान मण्डप बनाएं और उसी में बालु का एक स्थण्डिल बनाकर उस पर उचित आसन पर प्रतिष्ठेय देव को स्नानार्थ बिराजित करें।

स्थण्डिल की रचना के संदर्भ में आगमरहस्य में पिङ्गलामत, वायवीयसंहिता, शारदातिलक, कुण्डसिद्धि के मत से कहा गया है- होमे प्रशस्यते कुण्डं स्थण्डिलं वा हसन्तिका। अथाग्निकार्यं वक्ष्यामि कुण्डे वा स्थण्डिलेऽपि वा। वेद्यां वाप्यायसे पात्रे मृण्मये वा नवे शुभे॥ स्थण्डिलं बालुकाभि र्वा रक्तमृदुरजसापि वा॥ नित्यं नैमित्तिकं होमं स्थण्डिले वा समाचरेत्। हस्तमात्रेण तत् कुर्याद् बालुकाभिः सुशोभनम्। अङ्गुलोत्सेधसंयुक्तं चतुरस्रं समन्ततः॥ अथवापि मृदा सुवर्णभासा करमानं चतुरङ्गुलोच्चमल्पे। हवने विदधीत चाङ्गुलोच्चं विबुध स्थण्डिलमेव वेदकोणम्॥ मृदा

स्वर्णभया वापि सूक्ष्मवालुकयापि वा। अङ्गुलोच्चं तथा वेदाङ्गुलोच्चं स्थण्डिलं विदुः॥ चतुःकोणमुदक्प्राचीप्लवमल्पाहुतौ शुभम्। पञ्चाङ्गुलोच्च मथवा वस्वङ्गुलसमुन्नतम्॥ यथोक्तानि विधायाथ कुण्डानि मण्डलान्यथ। रचयेदुक्तमार्गेण यागपूर्तिकराणि च॥[१]

पञ्चगव्यैः कषायैश्च वल्कलैः क्षीरवृक्षजैः।

स्नापयेत् पञ्चकलशैः शतवारं$_{100}$ जलेन च॥ 56॥

इसके बाद पञ्चगव्य से, कषाय वर्ग की औषधियों और खिरनी वृक्ष की छाल के चूर्ण से स्नान योग्य विशिष्ट जल को तैयार करें। इस विशेष जल के पाँच-पाँच कलश एक साथ भरकर सौ बार उक्त देव को स्नानकरा शुद्ध कराएं।

देवस्नपनविधि प्रतिष्ठामयूख में विस्तार से आई है- *दश क्रमात्पुष्पैः फलः सौवर्णजलेन गोशृङ्गोदकेन धान्यैः सहस्रछिद्रैः सर्वौषधिभिः पञ्चपल्लवैस्तीर्थोदकैर्नवरत्नर्युताः कार्याः॥ अवशिष्टेषु दशसु कलशेषु कदम्बशाल्मलीजंब्वशोकप्लक्षचूतटबिल्वनागकेशर पलाशपल्लवान्क्रमेण निक्षिप्य शुद्धजलमापूर्य लोकपालानावाहयेत्। सर्वेऽप्याकलशेष्वित्तेन स्थाप्याः।*[२]

एतद् अवसरेकरणीयकृत्याः

वेद मन्त्रादि (मन्त्रैश्च ?)-वादित्रै-गीतमङ्गलनिःस्वनैः।

वस्त्रेणाच्छादयेद्देवं(दीशं ?) वेद्यांतं(वेद्यंते ?) मण्डपे न्यसेत्(यजेत् ?) 57

प्रतिष्ठेय देवता के स्नानोपचार के अवसर पर ऋचाओं का उच्चारण हों, वाद्यवृंद वाद्यवादन करें, नाना प्रकार के माङ्गलिक गीतों से गगन गुञ्जार हो। स्नानोपचार के उपरांत देवार्चा को पवित्र वस्त्राच्छादित करें और पुनः मण्डप स्थित स्थण्डिल पर स्थापित करें।

प्रतिष्ठामयूख के अनुसार मृत्तिका स्नान के समय निम्न मंत्र का उच्चारण करें- अग्निमूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम्। अपां रेतासि जिन्वति॥[३]

कषायस्नान के समय इस मंत्र का निर्देश है- यज्ञायज्ञा वो अग्नये गिरागिरा च दक्षसे। प्रप्र वयममृतं जातवेदसं प्रियं मित्रं न संशिषम्॥[४]

१. वही 3776-3781
२. पृष्ठ 42
३. ऋग. 8, 44, 16
४. वही 6, 48, 1

गोमूत्र से स्नान के समय यह मंत्र उच्चारित करें- तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥[१]

गोबर स्नान के समय निम्न मंत्र उच्चारित करने का निर्देश है- गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम्। ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम्॥[२]

भस्मी से स्नान के समय का मंत्र है- मा नस्तो के तनये मान आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान् मा नो रुद्रभामिनोवधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥[३] *इसी प्रकार गन्धजल से स्नान के समय 'तत्सवितुः' मंत्र उच्चारित करें।*

देवशयनौ-

तल्प(तूल्या ?)मारोपयेद्वेद्यामुत्तराङ्घ्री(राङ्घि ?) न्यसेत् ततः।

कलशं तु शिरोदेशे पादस्थाने कमण्डलुम्॥ 58॥

इसी अवसर पर ईशानकोण की वेदिका के ऊपर देवता का शय्यासन स्थापित करें और देव के चरण उत्तर दिशा में रखें। देव के शीर्ष के समीप कलश और चरणों के निकट कमण्डलु रखा जाना चाहिए।

व्यजनदर्पणादि-

व्यजनं दक्षिणे देशे दर्पणं वामतः शुभम्।

रत्नन्यासं ततः कुर्याद्दिक्पालादिकपूजनम्॥ 59॥

देवता के दक्षिण भाग में व्यजन या विजण-पङ्खा तथा वामाङ्ग में दर्पण को रखना चाहिए। इसके बाद अग्र निर्देशानुसार पूर्वादि दिशाओं में वज्रादि रत्नों को स्थापित कर दिक्पालों का पूजन करें।

आग्नेयां गणेशं विद्यादीशानेग्रहमण्डलम्।

नैर्ऋत्ये वास्तुपूजा च वायव्ये मातरः स्मृताः॥ 60॥[४]

१. वही 3, 62, 10
२. ऋग.परि.11, 9
३. ऋग. 1, 114, 8
४. यह श्लोक मातृका 'क' एवं कोलकाता पाठ में नहीं है।

देवता के आग्नेय कोण में गणेश और ईशानकोण में नवग्रह मण्डल बनाना चाहिए। नैर्ऋत्यकोण में वास्तुपूजा तथा वायव्यकोण में मातृ देवता की स्थापना करने का विधान है।

अथ रत्नन्यास:

वज्रं-वैडूर्यकं-मुक्ता-मिन्द्रनीलं-सुनीलकम्।

पुष्परागं च गोमेदं प्रवालं(चन्द्रं ?) पूर्वादितो न्यसेत् (पूर्वत: क्रमात्)॥ 61

देवता को रत्नन्यास करने के लिए पूर्वादि दिशाओं में सृष्टि क्रम से आठ रत्नों को रखना चाहिए। ये रत्न हैं- वज्र अथवा हीरा, वैडूर्य, मुक्ता, इन्द्रनील, नीलम, पुष्पराग, गोमेद और प्रवाल।

अथ धातुन्यास:

सुवर्णं-रजतं-ताम्रं-कांस्यं-रीतिं च सीसकम्।

बङ्गं-लोहञ्च पूर्वादौ(पूर्वादि ?) सृष्ट्या धातूनिहा न्यसेत्॥ 62॥

देवता को धातु न्यास करने के लिए पूर्वादि दिशाओं में सृष्टिक्रम से स्वर्ण, रजत, ताम्र, कांस्य, पीतल, सीसा, रांगा और लोह धातुओं को रखना चाहिए।

अथ औषधिन्यास:

वज्री(वचा ?)-वह्नि:-सहदेवी-विष्णुक्रान्ते-न्द्रवारुणी।

शङ्खिनी-ज्योतिष्मती-चैवेश्वरी तान्(ता ?) क्रमान्न्यसेत्॥ 63॥

सृष्टिक्रमानुसार ही पूर्वादि दिशाओं में वज्रदन्ती, वह्नि या चित्रक, सहदेवी, विष्णुकांता, इन्द्रवारुणी, शङ्खपुष्पी, मालकांगुनी या ज्योतिष्मती और शिवलिङ्गी औषधियों को रखकर देवार्चा का औषधिन्यास करना चाहिए।

मातृका 'क' में लिपिकार ने इस श्लोक को 62वें श्लोक से पूर्व लिख दिया किंतु बाद में इसे सुधारने का संकेत भी दिया है।

अधुना धान्याधिवास-

यवो-व्रीहिस्तथा-कङ्गु-जूर्णाह्वा च तिलैर्युता:॥

शाली-मुद्रा समाख्याता गोधूमाश्च क्रमेण तु॥ 64॥

देव प्रतिमा को धान्याधिन्यास के लिए पूर्वादि दिशाओं में सृष्टिक्रमानुसार यव या जौ, व्रीहि, कङ्गु, ज्वार, तिल, शालीधान्य या चावल, मूंग और गेहूं को रखें।

आचार्यशिल्पीसम्मानं-

यद्देवाभरणं पूजा वस्त्रालङ्कारभूषणम्।

तत्सर्वं शिल्पितो देयमाचार्याय(दद्याचार्याय ?) च यज्ञियं (तु याज्ञिकम्)॥

देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा के कार्य में जो आभरण, वस्त्रालङ्कार आदि चढ़ाए जाते हैं, उन सबको आचार्य तथा शिल्पियों को प्रदान करना चाहिए। आचार्य को यज्ञ संपादनकार्य में प्रयुक्त द्रव्यादि देना चाहिए।

महोत्सवावसरे कृत्यादीनां-

ततो महोत्सवं कुर्यान्नृत्य-गीतैरनेकश:।

नैवेद्यारात्रिकं पूजामङ्गन्यासादिकं तथा॥ 66॥

प्रतिष्ठा कार्य के अवसर पर नाना नृत्य, गीतों से भरापूरा मङ्गल समारोह भी करना चाहिए। देवता को नैवेद्य अर्पित करें, आरती-निराजन करें तथा अङ्गन्यासादि पूजा कृत्य संपादित करें।

इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठामयूखकार का निर्देश है कि देवजागरण में पुरुषसूक्तोक्त सहस्रशीर्षा (ऋग.10, 90, 1-16) से स्तुति करें और रथ पर चढ़ाकर मङ्गलघोष करते हुए 'कनिक्रदद्' (ऋग. 2, 42, 1-3) सूक्त के साथ प्रासाद के प्रदक्षिणक्रम से लाएँ व यागमण्डप के पश्चिमद्वार में 'आ कृष्णेन' मंत्र से प्रवेशकर वेदी के पश्चिम भाग में पश्चिमाभिमुख देव को बिठाकर मधुपर्क करें। न्यास विधि प्रतिष्ठामयूख में हैं।

क्षीरं क्षौद्रं घृतं खण्डं पक्वान्नानि बहून्यपि।

षड्रसा: स्वादु भक्ष्याणि सन्मानं(समन्तात् ?) परिकल्पयेत्॥ 67॥

नैवेद्य में दूध, मधु, घृत और खाण्ड से बने मिष्ठान्न, पक्वान्न तथा षट्रस व्यञ्जन देवता के सम्मुख सम्मानपूर्वक अर्पित करना चाहिए।

ततो विप्रनिर्देश:

विप्राणां सम्प्रदायैश्च(सम्प्रदायाच्च ?) वेदमन्त्रैस्तथागमै:।

सकली(सङ्कली ?)करणं जीव (देव ?) न्यासं कृत्वा प्रतिष्ठयेत्॥ 68॥

इसके अनन्तर विप्रजनों को अपने-अपने सम्प्रदायों में स्वीकार्य वेदादि मन्त्रों और आगम निर्दिष्ट आचार के अनुसार सकलीकरण का कार्य करें और देवार्चा में प्राण प्रतिष्ठापन करें।

देवालयेन्यास:

प्रासादे देवतान्यासं स्थावरेषु पृथक्-पृथक्।

खर(स्व ?)शिलायां च वाराहं पौल्यां नागकुलानि च॥ 69॥

प्रतिष्ठावसर पर देवालय के प्रत्येक अंग की पूजा करनी चाहिए। थरों तथा अङ्ग-उपाङ्गों में निर्दिष्ट देवताओं का न्यास करते हुए पृथक-पृथक पूजन-सम्मान प्रदान करें। खरशिला में वराहदेव और पौल्या अथवा भीट्ट के थर पर नागदेव का न्यास करना चाहिए।

प्रकुम्भे जलदेवांश्च पुष्पके किंसुरांस्तथा।

नन्दिनं जाड्यकुम्भे च कर्णाल्या(कणाल्पाल्यां ?) स्थापयेद्धरिम्॥ 70॥

प्रासाद के कुम्भ थर में जलदेव, पुष्पकण्ठ के थर में किन्नर, जाड्यकुम्भ में नंदिन और कर्णिका थर में श्रीहरि का न्यास करना चाहिए।

गणेशं गजपीठे च (स्याद ?) अश्वपीठे तथाश्विनौ।

नरपीठे नरांश्चैव क्षमाञ्च क्षुरके यजेत्॥ 71॥

प्रासाद के गजपीठ पर गणेश, अश्वपीठ में अश्विनीकुमार, नरपीठ में नरदेव और क्षुरक या खुरा के थर में पृथ्वीमाता का न्यास कर अर्चना करनी चाहिए।

भद्रे संध्यांत्रयं (संध्यातरं ?) कुम्भे पार्वतीं कलशेचयेत्(स्थिताम् ?)।

कपोताल्यां च गन्धर्वान्मञ्चिकायां सरस्वतीम्॥ 72॥

इसी प्रकार भद्र के कुम्भ में त्रिकाल संध्या, कलश थर में पार्वती, कपोतावली में गन्धर्व और मञ्चिका के थर में वाग्देवी सरस्वती का न्यास और अर्चन करें।

जङ्घायां च दिशापालानिन्द्रमुद्गमे संस्थितम्।

सावित्रीं भरणेदेशे शिरावट्यां च देविकाम् (वेदिकाम् ?)॥ 73॥

प्रासाद के जंघाभाग में दिक्पाल, उद्गम थर पर इन्द्र, भरणदेश पर सावित्री तथा शिरावटी के थर पर देविका का न्यास करें।

विद्याधरान्कपोताल्यामन्तराले सुरांस्तथा(सुरस्तथा ?)।

पर्जन्यं कूट(कुंठ ?)च्छाद्ये च ततो मध्ये प्रतिष्ठयेत्॥ 74॥

इसी भांति कपोतावली के थर पर विद्याधरों, अंतराल थर पर किन्नर आदि देव, कूट छाद्य पर पर्जन्यदेव का न्यास करना चाहिए। इसके बाद प्रासाद के आंतरिक भाग के देवों का न्यासक्रम कहा जा रहा है।

शाखयोश्चन्द्रसूर्यौ च त्रिमूर्तिश्चोत्तरङ्गके।

उदुम्बरे स्थितं यक्षमश्विनावर्द्धचन्द्रके॥ 75॥[१]

प्रासाद की द्वार शाखाओं में चंद्रमा और सूर्य, उत्तरङ्ग में ब्रह्मादि तीनों देवता, उदुम्बर में यक्ष तथा शंखावटी या अर्द्धचंद्र पर देववैद्य दोनों अश्विनीकुमारों का न्यास करना चाहिए।

कौलिकायां धराधारं क्षितिं चोत्तानपट्टके।

स्तम्भेषु पर्वतांश्चैवमाकाशं च करोटके॥ 76॥

प्रासाद की कौलिका में धराधार, उत्तानपट्ट में पृथ्वी या क्षिति, स्तम्भ में पर्वत और आकाशीय छत में आकाशदेव का न्यासकर पूजन करना चाहिए।

मध्ये प्रतिष्ठयेद्देवं मकरे जाह्नवीं तथा।

शिखरस्योरुशृङ्गेषु पञ्च पञ्च प्रतिष्ठयेत्॥ 77॥

देवालय के मध्य में मध्यस्थ देव, मकर मुखी प्रणाल पर भगीरथी गंगा, शिखरस्थ उरुशृंगों में पञ्चदेवों का न्यास करें और यथाविधि पूजा करें।

ब्रह्मा-विष्णुस्तथा सूर्य(रुद्र ?) ईश्वरीश्च (ईश्वर च ?) सदाशिवः।

शिखरे चेश्वरं देवं शिखायां तु सुराधिपम्॥ 78॥

पूर्व वर्णित उरुशृंगों में न्यास करने योग्य देव हैं- ब्रह्मा, विष्णु, सूर्य, पार्वती और शिव। शिखर में ईश्वर और शिखा में सुराधिपति इन्द्र का न्यास करना चाहिए।

ग्रीवायाम्बरं(-याममरं ?) देवं मण्डके (मण्डपे ?) च निशाकरम्।

पद्माक्षं पद्मपत्रं च कलशे च सदाशिवम्॥ 79॥

---

१. 'क' मातृका में लिपिकार की त्रुटि से द्वितीय पङ्क्ति में 'स्तम्भेषु पर्वतांश्चैवमाकाशं च करोटके' पाठ अङ्कित हो गया है।

प्रासाद के शिखर की ग्रीवा में अंबर देव, मुख्य शृंगों और आमलक में चंद्रमा, पद्मपत्र, पद्मशिला में पद्माक्ष तथा कलश में सदाशिव का न्यास कर अर्चना करें।

सद्यो-वाम-अघोर(-वामस्तथाघोर ?)स्तत्पुरुष(षं ?) ईश एव च।

कर्णादि भद्रपर्यन्तं(गर्भपर्यंतं ?) पञ्चाङ्गे तान्प्रतिष्ठयेत् ॥ 80 ॥

इति स्थावर प्रतिष्ठा।

प्रथम सद्योजातदेव, दूसरे वामदेव, तीसरे अघोर, चौथे तत्पुरुष और पाँचवें ईश का कर्ण से लेकर भद्रस्थान पर्यंत पाँचों अंगों- क्रमशः कर्ण, प्रतिरथ, रथ, प्रतिभद्र और मुखभद्र में न्यास करें।

अथाद्यदर्शनं-

प्रथमं देवताद्दष्टेर्दर्शयेदन्त-र्धाहितम् (-दर्शयेधान्यपर्वतम् ?)।

विप्रेकुमारिकां वास्तु(वस्तु ?) ततो लोकान् प्रदर्शयेत् ॥ 81 ॥

देवालय, देव प्रतिष्ठा के उपरांत रात्रि को देवालय के किंवाड़, पट्ट बन्ध रहते हैं अतः दूसरे दिन भोर वेला में सर्व प्रथम देव दर्शन की रीति को सम्पन्न करना चाहिए। देवता का प्रथम दर्शन विप्र कन्या को करवाएं। तदोपरांत लोक के लिए दर्शन खोलने चाहिए।

सूत्रधारपूजनं-

इत्यनन्तररतः(ईज्यानन्तरतः, इत्येवं विविध ?) कुर्यात् सूत्रधारस्य पूजनम्।

वस्त्रालङ्कारै-भू-वित्त-गो-महिष्यश्व(श्व ?) वाहनैः ॥ 82 ॥[१]

विधिपूर्वक देव स्थापना के उपरांत प्रासाद के स्थपति या सूत्रधार का सम्मान करना कर्त्तव्य है। सूत्रधार को सम्मान स्वरूप वस्त्रालङ्कार, भूमि, धन, गाय, भैंस, अश्व आदि वाहन प्रदान करना चाहिए।

अन्येषां शिल्पिनां पूजा कर्त्तव्या कर्मकारिणाम्।

स्वाधिकारानुसारेण वस्त्रैस्ताम्बूल(वस्त्रतांबूल ?)भोजनैः ॥ 83 ॥

देव वास्तु के निर्माणकाल में परिश्रम करने वाले अन्य शिल्पियों, कारीगरों और कर्मकारों का भी उनके कार्याधिकार या दक्षता के अनुरूप वस्त्र, ताम्बूल प्रदान कर भोजनादि करवाया जाकर सम्मान देना चाहिए।

अथ प्रासादनिर्माणफलं-

काष्ठ-पाषाणनिर्माणकारिणो यत्र मन्दिरे।

भुञ्जते(भुंक्तेऽसौ च ?) तत्र सौख्यं (भुक्ते सो ?) शङ्करस्त्रिदशैः सह ॥ 84 ॥

जो कोई व्यक्ति श्रद्धापूर्वक काष्ठ, पाषाणादि से प्रासाद का निर्माण करवाता है, वह कैलाशवास पर भगवान शिव और अन्य देवों के साथ सुरप्राप्य सुख का उपभोग करता है।

प्रार्थयेत् शिल्पिनः

पुण्यं प्रासादजं स्वामी प्रार्थयेत् सूत्रधारतः।

सूत्रधारो वदेत्- 'स्वामिन्नक्षय्यं भवतात् तव!' ॥ 85 ॥

इति सूत्रधारपूजा।

देवालय-निर्माण के पुण्य की प्राप्ति के लिए निर्माता को सूत्रधार से निवेदन करना चाहिए। निर्माता के निवेदन पर सूत्रधार को आशीर्वचन देते हुए कहना चाहिए- 'हे पुण्यशील स्वामी! तुम्हारे इस परिश्रम का पुण्य अक्षय हो।'

अथाचार्यपूजनं-

आचार्य पूजनं कृत्वा वस्त्र-स्वर्ण-धनैः सह।

दानं दद्याद् द्विजातिभ्यो दीनान्धदुर्बलेषु च ॥ 86 ॥

प्रासाद के प्रतिष्ठाकार्य के संपादन के उपरांत निर्माता को आचार्य का पूजन करना कर्त्तव्य हैं। आचार्य को इस अवसर पर वस्त्र, स्वर्ण-संपदा आदि प्रदान करना चाहिए। इसके बाद नगर और कुल के ब्राह्मणों को दान दें, दीन, अंध, दुर्बलों को भी यथेष्ट दानादि प्रदान करें।

सर्वेषां धनमाधारः प्राणिनां जीवनं परम्।

वित्ते दत्ते प्रतुष्यन्ति मानुषाः पितरः सुराः ॥ 87 ॥

इति प्रतिष्ठाविधि।

धन ही सभी प्राणियों के जीवन संचालन का मुख्य आधार है और इसी से जीवन की श्रेष्ठता है। धन-संपदा के दान से मनुष्य ही नहीं, पितृगण और देवगण भी संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं।

अधुना जिनदेवप्रतिष्ठा:

प्रतिष्ठा वीतरागस्य जिनशासनमार्गत:।

नवकारैसु(सूरि ?) मन्त्रैश्च सिद्धकेवलि(-द्धिकेवल ?)भाषितम्॥ 88॥

जिनालयों में वीतराग प्रभुओं की प्रतिष्ठा का कार्य जिन शासन के मार्गों में निर्धारित विधि के अनुसार ही करना चाहिए। सिद्धता को प्राप्त ज्ञानीजनों द्वारा प्रशंसित णमोकार मन्त्र और सूरियों के मन्त्रों के उच्चारपूर्वक इस प्रतिष्ठा को सम्पादित करें।

ग्रहा: सर्वज्ञदेवास्य(श्च ?) पादपीठे प्रतिष्ठिता:।

येनानन्तविभेदेन मुक्तिमार्ग उदाहृत:॥ 89॥

जिनालयों के प्रतिष्ठावसर पर सर्वज्ञदेव की पादपीठ पर नवग्रहों की स्थापना करनी चाहिए। जिनदेवों को अनन्तभेद वाला और मोक्षमार्ग का अनुगामी माना गया है।

जिनानां मातरो यक्ष-यक्षिणी(-क्षिण्यो ?) गौतमाय च (गौतमीत्तथा ?)।

सिद्धा: कालत्रये(त्रयो ?) जाताश्चतुर्विंशति$_{24}$ मूर्त्तय:॥ 90॥

जिन शासन में मातृकाओं, यक्ष, यक्षिणियों, गणधर गौतम, त्रिकाल सिद्ध जिन देवों, चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियां होती है। अर्थात् प्रत्येक तीर्थंकर के यक्ष, यक्षिणी होते हैं। महावीर के साथ गणधर गौतम आदि हुए। इस मत के अनुसार शासन देवियां भी होती हैं।

इति स्थाप्या जिनावासे(वारे ?) त्रि$_3$ प्राकारं गृहं तथा।

सांवर्ण(सावंत ?) शिखिरं मन्दीसर(नंदीश्वरं ?) त्वष्टापदादिकम्॥ 91॥

जिनालयों में उक्त प्रतिमाओं को स्थापित करना चाहिए। जैन मन्दिर को समवसरण युक्त, संवरणान्वित शिखर युक्त, मन्दारक या आमलक (नंदीश्वर दीप ?) सहित अष्टापद बनाया जाना चाहिए।

प्रासादो वीतरागस्य पुरमध्ये सुखावह:(T ?)।

नृणां कल्याणकारी (गृहस्य ?) स्याच्चतुर्दिक्षु प्रकल्पयेत्॥ 92॥

इति जिनप्रतिष्ठा।

जिनालय को नगर के मध्य में बनाना सुख प्रदायक माना जाता है। यह गृहस्थों का कल्याण करता है, किंतु सभी दिशाओं में भी इनका निर्माण किया जा सकता है।

अथ जलाश्रयोप्रतिष्ठा:

माघादिपञ्चमासेषु वापीकूपादि संस्कृतम्(संस्मृतम् ?)।

तडागस्य चतुर्मासं(चतुर्मास्यां ?) कुर्यादाषाढमार्गयो:॥ 93॥

माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठ मास में वापी और कूप का जल संस्कार और उनकी प्रतिष्ठा करनी चाहिए, इसमें मीन संक्रांति का त्याग करें। सरोवर, बांध की प्रतिष्ठा चातुर्मास के आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक और मार्गशीर्ष में की जानी चाहिए।

इस संबंध में महर्षि गर्ग का मत है- देवतारामवाप्यादि प्रतिष्ठामुत्तरायणे। माघादिपञ्चमासेषु कृष्णे त्वापञ्चमीदिनम्॥ तस्मिन्सलिलसम्पूर्णे कार्तिके च विशेषत:। तडागस्य विधि: कार्य: स्थिर नक्षत्रयोगत:॥ [१]

असंस्कृतं जलं देवा: पितरो न पिबन्तिते(तत् ?)।

संस्कृते तृप्तिमायाति(तृप्तिमायान्ति ?) तस्मात् संस्कारमाचरेत्॥ 94॥

जलस्रोतों का विधि पूर्वक संस्कार किया जाना चाहिए। संस्कार के अभाव में देवता और पितृगण भी उनका पानी नहीं पीते। संस्कृत हुआ जल सभी को तृप्त, संतुष्ट करता है अत: नए जलस्रोत का संस्कार किया जाना श्रेयस्कर है।

जलाश्रयनिर्माणपुण्यं-

जीवनं वृक्षजन्तूनां य: करोति (यो ?) जलाशयम्।

दत्ते वा स लभेत्(लभते ?)सौख्यमुर्व्यां स्वर्गे च मानव:(T: ?)॥ 95॥

वनस्पति, जन्तु और जीव मात्र का जीवन जल ही है। जो व्यक्ति जलाशयों का निर्माण करवाता है, वह इस जीवन में सभी सुखों को प्राप्त करता है और जीवन पूर्णकर स्वर्ग का अधिकारी होता है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में कहा गया है कि भूलोक और स्वर्गलोक में जल के बिना जीवन असंभव है, इसलिए धर्मात्मा और विद्वान पुरुष को चाहिए कि वह अनेक

---

१. बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् 84, 2-3

स्थानों पर जलाश्रयों का निर्माण कराएं। कूप खुदवाने का फल अग्निष्टोम या यज्ञ के समान है और वह भी यदि मरुस्थल में खुदवाएं तो उसका फल अश्वमेधयज्ञ के तुल्य फल होता है। पर्याप्त जल वाला कूप खुदवाने वाले के समस्त पापों का हरण कर लेता है। कूप का निर्माता स्वर्ग में जाकर सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करता है, उसमें भी भोग की निपुणता स्थान विशेष के आधार पर कही जाती है- उदकेन विनावृत्तिर्नास्ति लोकद्वये सदा। तस्ताज्जलाशयाः कार्याः पुरुषेण विपश्चिता॥ अग्निष्टोमसमः कूप सोऽश्वमेधसमो मरौ। कूपः प्रवृतपानीयः सर्व हरति दुष्कृतम्॥ कूपकृत्स्वर्गमासाद्य सर्वान् भोगान् समुश्नते। तत्रापि भोगैपुण्यम् स्थानाभ्यासात् प्रकीर्तितम्॥ (3, 296, 5-7)

अथ वास्तुपुरुषोद्भवः

पुरान्धकवधे रुद्रः ललाटात् पतितः क्षितौ।

स्वेदस्तस्मात् समुद्भूतं भूतमत्यन्त दुःसहम्॥ 96॥

पुराकाल में अन्धकासुर और शिव के मध्य युद्ध हुआ। इस समय शिव के ललाट से जो पसीना भूमि पर गिर पड़ा, उसे आकाश और पृथ्वी के मध्य एक भयानक दीर्घकाय जीव उत्पन्न हुआ।

गृहीत्वा सहसा देवैर्न्यस्तं भूमावधोमुखम्।

जानुनी कोणयोः पादौ रक्षोदिशि शिवे शिरः॥ 97॥

उसे खतरा मानकर वहां विद्यमान सभी देवताओं ने उसे पकड़ लिया और पृथ्वीतल पर इस तरह औंधे मुख गिराया कि उसके दोनों जानु हाथ की दोनों कोहनियां वायव्य तथा आग्नेय कोण में और पांव नैर्ऋत्य कोण एवं सिर ईशान कोण में रहा।

चत्वारिंशद्युताः पञ्च$_{45}$ वास्तुदेहे स्थिताः सुराः।

देव्याऽष्टौ$_{8}$ बाह्यगास्तेषां वसनाद्वास्तुरुच्यते॥ 98॥

इस प्रकार औंधे मुख गिराया वह पुरुष वास्तु पुरुष हुआ। उसके शरीर पर पैतालिस देव स्थित हो गए जबकि बाहर चारों ही कोनों पर आठ देवियां स्थित हुईं। इस प्रकार वास्तु पुरुष की देह पर कुल 53 देवी-देवताओं का निवास होता है।

वास्तुपुरुषः तस्य पूजनञ्च

अधोमुखेन विज्ञप्तौ त्रिदशान्(विज्ञप्तैस्त्रिदशै ?) विहितो बलिं(: ?)।

तेनैव बलिना शान्तिं कुरुते(करोति ?) हानिमन्यथा॥ 99॥

यह देवदमित वास्तु पुरुष देवताओं से कहता है कि जो कोई गृहकर्ता व्यक्ति मुझ पर अवस्थित देवताओं को सविधि बलि, पूजा प्रदान करेगा तो मैं उसे शांति प्रदान करूंगा और इसके अभाव में हानि, कुपरिणाम करूंगा।

प्रासाद-भवनादीनां प्रारम्भे-परिवर्तने।

वास्तुकर्मसु(कर्मेषु ?) सर्वेषु पूजितः सौख्यदो भवेत्॥ 100॥

ऐसे में विद्वानों को चाहिए कि वे प्रासाद, भवनादि के प्रारंभ और सम्पूर्ण होने तक वास्तु पूजन करवाएं। वास्तु पूजन से ही वहां सुख सरिता का प्रवाह होता है।

विविधपद्वास्तुविधानं-

एक$_{1}$पदादितो वास्तुर्यावत् पदसहस्रकम्$_{1000}$।

द्वात्रिंश$_{32}$न्मण्डलानि स्युः क्षेत्रतुल्याकृतीनि च॥ 101॥

वास्तुपूजा के लिए एक से लेकर एक हजार पद तक के वास्तु रचना का विधान है। वास्तु पूजन के निमित्त बत्तीस मण्डल हैं जो तत्स्थलीय भूमि-क्षेत्र के समान ही बनते हैं।

चतुष्षष्टिपदश्च एकाशीतिपदं-

एकाशीति$_{81}$पदो वास्तुश्चतुःषष्टि$_{64}$पदोऽथवा।

सर्ववास्तुविभागेषु पूजयेन्मण्डलद्वयम्॥ 102॥

जैसा कि पूर्व में कहा गया वास्तु पूजन के बत्तीस मण्डल हैं। इन मण्डलों में से दो मण्डलों- इक्यासीपद वास्तु और चौंसठपद वास्तु का सर्वसमय पूजन किया जाना चाहिए।

राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् में इन वास्तुमण्डलों का विवरण उपलब्ध है। इसके अनुसार वास्तु के 64 पदों में चार पद ब्रह्मा तथा चार-चार ही चारों अर्यमा के, कोने के आठों देवों के दो-दो, बाहर के आठों का आधा-आधा पद तथा शेष सभी देवों का एक-एक पद बनाना चाहिए। इसी तरह 81 पदों के वास्तु में नौ पद ब्रह्मा, अर्यमा

देवों के छह-छह, आठों देवों के दो-दो, बाहर आठों देवों का आधा-आधा तथा अन्य देवों का एक-एक पद निर्मित करना चाहिए-चतुष्षष्टिपदे एकाशीतिपदे च वास्तौ देवानां न्यासक्रमः- ब्रह्मा वेदपदस्तु तेन समका देवार्यमाद्यास्त्वमो कोष्ठोष्टौ द्विपदास्तथाष्ट मरुतः कोणेऽर्द्धभागाद्बहिः। शेषा एकपदाः सुरास्तु कथिता वेदर्तुकेऽथो नव ब्रह्मा षट्पदिनोऽर्यमादि विबुधा ईशादयश्चैकशः॥ (2,13)

अथ वास्तुदेवताः

ईशो मूर्धनि पर्जन्यो दक्षिणं कर्णमाश्रितः।

जयस्कन्धे महेन्द्राद्याः पञ्च दक्षिण(लक्षण ?) बाहुगाः॥ 103॥

अब वास्तु पुरुष के विभिन्न अङ्गों पर स्थित देवताओं का वर्णन किया जा रहा है। वास्तु पुरुष के सिर पर ईशदेव दक्षिणकर्ण पर पर्जन्य, दक्षिण स्कन्ध पर जय तथा दक्षिण बाहु पर अधोल्लिखित पाँच देवता स्थित हैं।

पूजनादि देवताओं का न्यासक्रमचक्रम्

चरकी — पूर्व — विदारिका

ईश	प.	ज.	इ.	सू.	स.	भृ.	आ.	अ.
दिति	आप आपवत्स		अर्यमा			सावित्र सविता		पू.
अदिति								वि.
शैल	पृथ्वीधर		ब्रह्मा			विवस्वान		गृ.
कुबेर								य.
भल्लाट								ग.
मुख्य	रुद्र रुद्रदास		मैत्र महेंद्र जय					भृ.
नाग								मृ.
रो.	पा.	शे.	अ.	व.	पु.	सु.	न.	पि.

उत्तर (बाएँ) — दक्षिण (दाएँ)

पाप — पश्चिम — पूतनिका

महेंद्रः सूर्य(माहेन्द्रादित्य ?) सत्याश्च भृश आकाशमेव च।
वह्निर्जानुनि पूषाद्याः सप्त पादोनले(पादनली ?)स्थिताः॥ 104॥

बाहु पर स्थित पाँच देवताओं के नाम हैं- इन्द्र, सूर्य, सत्य, भृश और आकाश देव। आग्रेयकोण स्थित जानु पर अग्नि तथा दक्षिण पदनलिका पर पुषादि सात देवताओं का निवास होता है।

पूषाथ वितथश्चैव गृहक्षतो यमस्तथा(गृहरक्षयमावुभौ ?)।

गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः सप्त सुरा इति॥ 105॥

पूषादि सात देवताओं के नाम हैं- पूषा, वितथ, गृहक्षत, यम, गन्धर्व, भृङ्गराज और मृग।

पादयोः पितरस्तस्मात् सप्त पादतल(पादनली, -लता ?) स्थिताः।

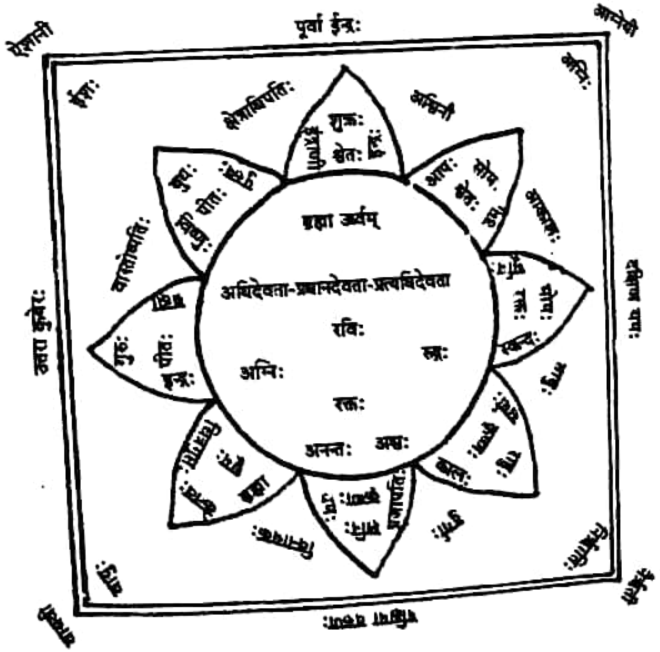
दौवारिकोऽथ सुग्रीवो(: ?) पुष्पदन्तो जलाधिपः॥ 106॥

वास्तु पुरुष के दोनों पैरों पर पितृगण तथा वाम पदतल पर सात देवताओं का निवास है। ये देवता हैं- दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदन्त, जलाधिप या वरुण-

असुरः शोष(शेष ?) यक्ष्मा च रोगो जानुनि संस्थितः।

नागो मुख्यश्च भल्लाटः सोमोऽ-गिरिश्च(ङ्गिराश्च ?) बाहुगाः॥ 107॥

वाम पदतल स्थित शेष देवता हैं- असुर, शोष और पापयक्ष्मा। वाम भुजा पर पाँच देव स्थित होते हैं- नाग, मुख्य, भल्लाट, सोम (कुबेर?) और गिरि (अङ्गिरा ?)।



वास्तुपूजाचक्रं

अदितिः स्कंधदेशे(अदितिस्त्वधदेशे ?) च वामे कर्णे दितिः स्थितः।

द्वात्रिंश, द्वाह्यगा देवा नाभिपृष्ठे स्थितो विधिः ॥ 108 ॥

वाम स्कंध पर अदिति और वाम कर्ण पर दिति देव स्थित हैं। इस तरह ये कुल बत्तीस देव वास्तु पुरुष के बाह्याङ्गों पर अवस्थित होते हैं और मध्य में नाभि के पृष्ठदेश पर ब्रह्मा की स्थिति होती है।

अर्यमा दक्षिणे-वामे स्तने तु पृथिवीधरः।

विवस्वानऽथ मित्रश्च दक्षवामोरुगावुभौ ॥ 109 ॥

अब आन्तरिक अङ्गस्थ देवों के विषय में जाने कि दक्षिण स्तन पर अर्यमा, वाम स्तन पर पृथिवीधर देवता की स्थिति है। दक्षिण उरु पर विवस्वान तथा वाम उरु पर मित्रदेव अवस्थित होते हैं।

आपस्तु गलके(मलको ?) वास्तोरापवस्तो(-रायवस्तो ?) हृदि स्थितः।

सावित्री(सावित्र ?) सविता तद्वत् करं दक्षिणमाश्रितौ ॥ 110 ॥

इसी प्रकार वास्तु पुरुष की ग्रीवा पर आपदेव, हृदय पर आपवत्स, दक्षिण हाथ पर सावित्री तथा सविता की स्थिति हैं।

इन्द्र इन्द्रजयो मेढ्रे(मेन्द्रेढ्रे ?) रुद्रोऽसौ वाम(बाह ?)हस्तके।

रुद्रदासोऽपि तत्रैव इति देव(वेद ?)मयं वपुः ॥ 111 ॥

मेढ्रस्थान पर इन्द्र और इन्द्रजय, वाम हाथ पर रुद्र और रुद्रदास की स्थिति है। इस प्रकार कुल पैंतालीस देवताओं की अवस्थिति वास्तुपुरुष-देह पर कही गई है।

कोणस्याष्टदेवी:

ऐ(ई ?)शान्ये चरकी बाह्ये पिलिपिच्छास्तु(पीलीपीछातु ?) पूर्वतः।

विदारिकाग्निकोणे च जृम्भा याम्यदिगाश्रिता(विजृम्भायादिगामिता ?) ॥

अब वास्तुमण्डल के बाह्यभाग में स्थित आठ देवियों के विषय में कहा जा रहा है। बाहर ईशान कोण के उत्तरी भाग में चरकी तथा पूर्व में पीलीपिच्छा, आग्नेयकोण में पूर्व में विदारिका व दक्षिण में जृम्भादेवी स्थित हैं।

नैर्ऋत्ये पूतना स्कन्दा(स्कन्धे ?) पश्चिमे वायुकोणके।

पापराक्षसिका सौम्येऽर्यमैवं(यमं वै ?) सर्वतोऽ(सम ?)र्च्चयेत् ॥ 114 ॥

नैर्ऋत्यकोण में दक्षिण में पूतना व पश्चिम में स्कन्दा, वायव्यकोण में पश्चिम में पापरक्षिका तथा उत्तर में अर्यमादेवी की अवस्थिति कही गई है।

देवी(देवि ?) क्रूरान्यमन्दीश्च(क्रूरार्यमादीश्च ?) माषान्नैः सुरयामिषैः।

अपरान् घृतपक्वान्नैः(वृकानैश्च ?) सर्वान् स्वर्णसुगन्धिभिः ॥ 115 ॥

इति वास्तुपुरुषन्यासः।

पूजाकाल में देवियों तथा क्रूर देवता, यमादि को माषान्न या उड़द के बाकलों, सुरा व आमिष से संतुष्ट करें तथा शेष अन्य देवताओं की घृत, पकवान, स्वर्ण सहित सुगंधित पदार्थों से पूजा करें।

वशिष्ठसंहिता में वास्तुपूजा की विधि 'वास्त्वध्याय' में इस प्रकार बताई है- निर्माणे मंदिराणां च प्रवेशे त्रिविधेऽपि वा॥ वास्तुपूजा तु कर्त्तव्या यस्मात्तां कथयाम्यथः। गृहमध्ये हस्तमात्रं समन्तात्तण्डुलोपरि॥ एकाशीतिपदं कार्य्यं तिलैस्तुल्यं सुशोभनम्। एकद्वित्रिपदाः पञ्चचत्वारिंशत्सुरोर्चिताः॥ द्वात्रिंशद्वाह्यतो वक्ष्यमाणाश्चान्तस्त्रयोदश। तेषां स्थानानि नामानि वक्ष्यामीश्वरकोणतः॥ तत्राग्निशम्भुकोणस्थस्त्वसौ चैव पदेश्वरः। तस्माद्द्वितीयः पर्जन्यश्चासावेकपदेश्वरः॥ जयन्त्येन्द्रार्कसत्याख्या भृशाश्च द्विपदेश्वराः। आकाशवायूपरतः क्रमादेवपदेश्वराः॥ एवं प्राच्यां नव ज्ञात्वा नवमे वान्यदिक्षु च। आद्याश्चान्तावेकपादा द्विपादाः पञ्च मध्यमाः॥ अष्टौ पितृगणाधीशा यमांताः पश्चिमे सुराः। आद्यंतौ द्वौ चैकपदौ द्विपदाः पञ्च मध्यगाः॥ रोगादिरित्यन्त्सुराः सप्त सौम्यदिशि क्रमात्। तदधस्थश्चतुष्कोणेष्वीशानादिषु च क्रमात्॥ आपः सावित्रविजय-रुद्राश्चैकपदेश्वराः। मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्येशानादिकोणगाः॥ आपवत्सोऽथ सविता विबुधाधिपसंज्ञकाः। राजयक्ष्मा च चत्वारः सुराश्चैकपदेश्वराः॥ ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु त्रिपदाश्चामरा अमी। अर्यमा च विवस्वांश्च मित्रः पृथ्वीधरः क्रमात्॥ स्वस्वस्थानेषु देवेषु स्थापितेष्वीदृशं भवेत्। कोणेषु पञ्च पञ्चैव चतुर्ध्वैकपदाः सुराः॥ प्रागादिदिक्षु द्विपदाः पञ्च पञ्च यथाक्रमात्। ब्रह्मणः पूर्वतो दिक्षु द्विपदाः स्युः समीपगाः॥ हिरण्यरेताः पर्जन्यो जयन्तः पाकशासनः। सूर्यसत्यौ भृशाकाशौ वायुः पूषा च वै तथा॥ गृहक्षतः पितृपतिर्गन्धर्वो भृङ्गराजक :। मृगः पितृगणाधीश स्थाप्यो दौवारिकाह्वयः॥ सुग्रीवः पुष्पदन्तश्च जलाधीशो निशाचरः। शोषः पापश्च रोगो हि मुखो भल्लाट एव च॥ सोमसर्पौ दित्यदिती द्वात्रिंशदमराः स्मृताः। आपश्चैवापवत्सश्च जयो रन्ध्रस्तथैव च॥ मध्ये नवपदो ब्रह्मा तस्थौ तस्य समीपगः। प्रागाद्यन्तरिता देवाः परितो

ब्रह्मणः स्मृताः॥ अर्यमा सविता चैव विवस्वान्विबुधाधिपः। मित्रोऽथ राजयक्ष्मा च तथा पृथ्वीधरः क्रमात्॥ आपवत्सोऽष्टमः पञ्चचत्वारिंशत् सुरोत्तमाः। ज्ञात्वैवं स्थाननामानि ब्रह्मणा सहितान्यसेत्॥ वास्तुज्ञो वास्तुमन्त्रेण गन्धपुष्पाक्षतादिभिः। प्रणवेनार्चयेद्वापि अथवा स्वस्वनामभिः॥ शुक्लवस्त्रयुगं दद्याद् धूपदीपफलैः सह। अपूपैर्भूरि नैवेद्यैर्वाद्यैः सह समर्पयेत्॥ ताम्बूलं च ततो दद्याद्देवेभ्य पृथक्पृथक्। दत्त्वा पुष्पाञ्जलिं कर्ता प्रार्थयेद्वास्तुपूरुषम्॥ विप्रेभ्यो भोजनं दत्त्वा स्वयं भुञ्जीत बन्धुभिः। नमस्ते वास्तुपुरुष भूशय्यानिरत प्रभो॥ मद्गृहे धनधान्यादिसमृद्धिं कुरु सर्वदा। इति प्रार्थ्य ततो दद्याद्दक्षिणामर्चकाय च॥ एवं यः कुरुते सम्यग्वास्तुपूजां प्रयत्नतः। आरोग्यं पुत्रपौत्रादि धनधान्यं लभेन्नरः॥ वास्तुपूजामकृत्वा यः प्रविशेन्नवमन्दिरे। रोगान्नानाविधान् क्लेशानश्नुते सर्वसङ्कटान्॥ (39, 196–223 तुलनीय– नारदसंहिता 32, 1–20)

अथशास्त्रप्रशंसा:

एकेन शास्त्रेण गुणाधिकेन विना द्वितीयेन पदार्थसिद्धिः।

तत्समात् (तः ?) प्रा (प्र ?)कारान्तरतो विलोक्यं

मणिर्गुणाढ्योऽपि सहायकाङ्क्षी॥ 116॥

प्रासादमण्डनम् ग्रंथ की प्रशंसा में इसके रचयिता सूत्रधार मण्डन कहते हैं कि प्रासाद विषयक वास्तुकार्यों के संपादन के लिए यह एक शास्त्र ही पर्याप्त गुणधारक है, तथापि अन्य बहुतेरे शिल्पग्रंथ विद्यमान हैं जिन्हें भी देखना चाहिए। श्रेष्ठ कार्य संपादन और उचित फल के लिए अन्य ग्रंथों का भी सम्यक् अवलोकन किया जाना चाहिए। जिस प्रकार पर्याप्त प्रभविष्णुयुक्त होने पर मणि का काञ्चन के साथ संयोग होने पर महत्व बढ़ जाता है, उसी प्रकार इस ग्रंथ को अन्य ग्रंथों के साथ समीक्षाभाव से देखने पर देववास्तुकार्य के संपादन की श्रेष्ठता मणिकाञ्चनवत् हो जाएगी।

ग्रंथकर्तु निवेदनं-

श्रीविश्वकर्मगणनाथमहेशचण्डी-श्रीविश्वरूपजगदीश्वरसुप्रसादात्।

प्रासादमण्डनमिदं रुचिरं चकार श्रीमण्डनो गुणवतां भुवि सूत्रधारः॥ 117॥

देव वास्तुशास्त्र के प्रणेता भगवान विश्वकर्मा, आद्यपूज्य गणेश, भगवान शिव, भगवती चण्डी और विश्वरूप जगदीश के गुणरूप-प्रसाद से मैंने (सूत्रधार मण्डन ने)

इस प्रासाद मण्डनम् नामक ग्रंथ की रुचि पूर्वक रचना की है।

टीकाकारस्वीकारोक्तिं-

क्षेत्रार्कसूनुमण्डनरचिते प्रासादमण्डनम् नाम च।

नाना देवायतनविधय च न्यास-प्रतिष्ठाचारयो॥

शशि$_1$रस$_6$ख$_0$यमलाब्दयो$_2$ सुमधुमासे तथा।

पूर्णिमायां शुभकाले टीकेयं पूर्णतागताम्॥

इति श्री सूत्रधार मण्डनविरचिते वास्तुशास्त्रे प्रासादमण्डने जीर्णोद्धारविधिदोषार्देवपुरराजपुराणिमण्डपस्यदिङ्निर्देशे अष्टमोऽध्यायः॥ 8॥

॥ श्री सम्पूर्णोऽयं ग्रंथः॥

परिशिष्ट- 1

अथ शिलान्यासपद्धतिः

जगदम्बावलम्बाय निरालम्बाय शूलिने।

जगत्त्रयमुटुम्बाय नमः साम्बाय शम्भवे॥ 1॥

यजमानः सस्त्रीकः शुचिः प्राङमुख उपविश्य दीपं प्रज्वलय्याचम्य प्राणानायम्य शान्तिपाठादि पठित्वा कुशयवजलादीन्यादाय सङ्कल्पं कुर्यात। ॐ तत्सदद्य अमुकोऽहं गृह(देवालय) निर्माणाय शिलान्यासं करिष्ये। तत्पूर्वाङ्गत्वेन गणपतिपूजनं स्वस्तिवाचनं च करिष्य इति सङ्कल्पं कुर्यात।

(1) वास्तुशान्तिकरणपक्षे 'तत्रादौ सर्वोपद्रवशान्तिपूर्वकम् आयुरारोग्य-पुत्रपौत्रद्विपद-चतुष्पद-धनधान्यादिसमृद्धये ग्रहयज्ञसहितां वास्तुशांति करिष्ये' इति च सङ्कल्पयेत्। तत उपशिलासहिताः पञ्चशिलाः (2) पीठे संस्थाप्य ताम्रमयान् मृन्मयान् वा द्वाविंशतिकलशान् आजिघ्रेति संस्थाप्य तेषु (3) मृत-पञ्चपल्लववृक्षीयकषाय-गन्ध-गोमूत्र-गोमय-मिलितपञ्चगव्य-दुग्ध-गन्धोदक दधि-गन्धोदक-घृत-गन्धोदक-मधु-गन्धोदक शर्करा-गन्धोदक-फल-रत्न-वृष-शृङ्गोदक-सप्तधान्य-तीर्थ जल-गन्धान् क्रमेण प्रक्षिप्य शिला वस्त्रेणाच्छाद्य मन्त्रैः स्नापयेत्।

तद्यथा-प्रथमं सप्तमृत्तिकोदकेन- ॐ अग्निर्मूर्द्धा० अश्वत्थ-प्लक्षवटो-दुम्बर-वेतसमूलसंभवैः पञ्चकषायैः ॐ यज्ञायज्ञा वो अ० इति, गायत्र्या गोमूत्रेण, गन्धद्वारामिति गोमयेन, गन्धद्वारामिति गन्धोदकेन, पयःपृथिव्याम् इति मिलितपञ्चगव्येन, गन्धोदकेन, दधिक्राव्ण इति दध्ना, गन्धोदकेन, घृतवती इति घृतेन, गन्धोदकेन, मधुव्वाता इति घृतेन, गन्धोदकेन, आयंगौः इति शर्करया, गन्धोदकेन याः फलिनीरिति फलेन परिवाजपति-रिति रत्नोदकेन, हिरण्यगर्भ इति सुवर्णोदकेन, हविष्मतीरिति वृषशृङ्गोदकेन, ओषधय इति सप्तधान्योदकेन, इमं मे इति तीर्थोदकेन, गन्धद्वारामिति गन्धोदकेन च संस्नाप्य वस्त्रेण परिमार्ज्य सुवर्णादिशलाकया कुङ्कुमादिना नन्दा-भद्रा-जया-रिक्तापूर्णेति नाम्नेषु पञ्चसु शिलासु क्रमेण (4) पद्मम् सिंहासनम्, तोरण-छत्रे कूर्मम् चतुर्भुजं विष्णु च लिखित्वा शिलानां मूलेषु अभिषेकं कुर्यात पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण (5) आ ब्राह्मन, ॐ भद्रं कर्णे-भिः, ॐ जातवेदसे, ॐ यमाय त्वाऽङ्गिरस्वते, ॐ पूर्णा दर्वि, इति।

ततः शिलानां मध्येऽभिपिञ्चेत्-ॐ नाभिर्मे 10 ॐ ब्रह्म यज्ञानम्, ॐ विष्णो रराटम् ॐ नमस्ते रुद्र ॐ इमं देवाः इति मन्त्रैः।

ततः शिलानां शिरस्सु (6) क्रमेण ब्रह्माणं, विष्णुम्, रुद्रम, ईश्वरम, सदाशिवं च क्रमेणावाह्य ततो नन्दायै नमः नन्दामावाहयामि इत्येवं भद्रा जया रिक्ता पूर्णाश्चावाह्य सम्पूज्य अग्निं प्रतिष्ठाप्य ॐ नन्दायै स्वाहा ॐ भद्रायै स्वाहा ॐ जयायै स्वाहा ॐ रिक्तायै स्वाहा ॐ पूर्णायै स्वाहा इति घृतेनाष्टोत्तरशतमष्टाविंशत्यष्टान्यतमसङ्ख्यया हुत्वा याते रुद्र शिवा तनूरघोरा इति अष्टोत्तरशतमाहुतीः शान्त्यर्थं हुत्वा प्रोक्षणीस्थान् संस्रवान् स्थण्डिलस्योत्तरतः स्थापितकलशे निक्षप्य (7) तेनोदकेन शिलानां मूलमध्यश्रिः सकुशैरभिषिच्य भूमिं संपूज्य वास्तु-भूमेरीशानादिकोणेषु चतुर्हस्तं गर्त खात्वा गोमयेनोपलिप्य तत्र सर्पाकारं वास्तुपुरुषमक्षतैर्लिखित्वा 'आवाहयाम्यहं देवं भूमिष्ठं चाप्यधोमुखम्। वास्तुनाथं जगत्प्राणं पूर्वस्यां प्रथमाश्रितम्।' इत्यावाह्य ॐ वास्तोष्पते इति संपूज्य प्रार्थयेत्। ॐ वास्तु पुरुष नमस्तेऽस्तु भूशय्याभिरत प्रभो। मद्गृहं धनधान्यादिसमृद्ध कुरु सर्वदा, इति।

(8) तत ईशानकोणे उपशिलां संस्थाप्य तस्या मध्यगर्ते मध्वाज्य-पारदपञ्चरत्नगर्भितं पिहितमुखं पद्मकलशं (9) गन्धपुष्पादिभिरलङ्कृतं निधाय ॐ पद्माय नमः ॐ आधारशिलायै नमः इति संपूज्य तस्य वामभागे दीपं संस्थाप्य (10) कलशोपरि प्राकशिरसं नन्दाम् ॐ स्थिरो भव ॐ नाभि मे इति मन्त्रद्वयेन संस्थाप्य संपूज्य प्रार्थयेत्- ॐ नन्दे त्वं नन्दिनी पुंसां त्वामत्र स्थापयाम्यहम्। वेश्मनि त्विह सन्तिष्ठ यावच्चन्द्रार्कतारकाः। आयुः कामं श्रियं देहि देववासिनि नन्दिनी। अस्मिन् रक्षा त्वया कार्या सदा वेश्मनि यत्नतः'। इति। एवमेव आग्नेयादिकोणतुष्टये मध्ये च चतुर्हस्तगर्त खात्वा वास्तुं विलिख्य संपूज्य आधारशिलासु कलशान् संस्थाप्य तद्वामपार्श्वेषु दीपान् संस्थाप्य तत्र शिलाः संस्थाप्य संपूज्य प्रार्थयेत्-

भद्राप्रार्थनामन्त्रः:-भद्रे त्वं सर्वदा भद्रं लोकानां कुरु काश्यपि। आयुर्दा कामदा देवि सुखदा च सदा भव। त्वामत्र स्थापयाम्यद्य गृहेऽस्मिन् भद्रदायिनि।

जयाप्रार्थनामन्त्रः:- गर्गगोत्रसमुद्भूतां त्रिनेत्रां च चतुभुऽजाम्। गृहेऽस्मिन् स्थापयाम्यद्य जयां चारुविलोचनाम्। नित्यं जयाय भूत्यै च स्वामिनी भव भार्गवि।

रिक्ताप्रार्थनामन्त्रः:- रिक्ते त्वं रिक्तदोषघ्ने सिद्धिभुक्तिप्रदे शुभे। सर्वदा पर्वदोषघ्नि तिष्ठास्मिंस्तत्र नन्दिनि।

पूर्णाप्रार्थनामन्त्रः:- पूर्णे त्वं सर्वदा पूर्णान् लोकानां कुरु काश्यपि। आयुर्दा कामदा देवि धनदा सुतदा तथा। गृहाधारा वास्तुमयी वास्तुदीपेन संयुता। त्वामृते नास्ति जगतामाधारश्च जगत्प्रिये'।

ततः सदीपं पायसबलिं माषभक्तबलिं वानन्दाये नमः इत्यादिनाममन्त्रैर्दत्वा शान्तिकाध्यायं च पठित्वा दक्षिणां दत्वा ब्राह्मणभोजनं भूयसीं च संकल्प्य कर्मेश्वरार्पणं कुर्यादिति शिलान्यासः।

इति शुभम्।

----

1. 'प्रासादभवनोद्यानप्रारम्भे परिवर्तने। पुरवेश्मप्रवेशेषु सर्वदोषापनुत्तये' इति मात्स्यात् सर्वदोषापनोदफलार्थं गृहप्रारम्भ-गृहप्रवेशयोर्वास्तुशान्तिरावश्यकी॥ गृहप्रारम्भश्च शिलान्यासरूप एव। सवास्तुशान्तिशिलान्यासे मण्डपकुण्डादिकरणं च सति संभवे विधेयम्। मण्डपसत्वे सदस्य-होतृ-द्वारपालादिवरणमप्यावश्यकमिति। वास्तुशान्तिश्च केवलं पौराणकी शिलान्यासेऽनुष्ठेया'न समुचिताया गृहप्रवेश एवं विधानादिति।

2. शिलाश्चशिरःपृष्ठेषुकृतचिह्नाःपाषाणमय चेद गृहं तदा एकविंशत्यङ्गुल-दीर्घाःसप्तदशाङ्गुलदीर्घाः, त्रयोदशाङ्गुलदीर्घाः नवाङ्गुलदीर्घाः क्रमेण विप्र क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राणाम् तथा दैर्घ्यप्रमाणार्धप्रमाणविशालाः, विशालतोऽर्धो च्छ्रयाश्चतुरस्राः समाः श्लक्ष्णाः कार्याः। 'शिलाप्रमाणं क्रमशः प्रदिष्टं वर्णानुपूर्व्येण तथाऽङ्गुलानाम्। अथैकविंशद्-धन-विश्व-नन्दाविस्तारके व्यासमितं तदर्द्धम्। तदर्द्धमान स्थल पिण्डिका स्यात् ऊर्ध्वाधिका न्यूनतरा न कार्या' इति विश्वकर्मोक्तेः। 'एकविंशद् द्विजाज्ञाणां क्षत्राणां दश सप्त च। त्रयोदश तु वैश्यानां शूद्राणां' तु नवाङ्गुलम्' इति स्मृत्यन्तराच्च। प्रासादे तु हस्तायामाः कार्याः:- 'प्रासादादौ विमानेन न्यस्तव्याः सुमनोहराः। चतुरस्राः समाः कृत्वा समन्तादधस्तसंमिताः इति विश्वकर्मोक्तेः। ऐष्टकं चेद् गृहं तदा वितस्त्यायताः षडङ्गुलविस्ताराः द्वि-चतुरङ्गुलोच्छ्राया इष्टकाः कारयितव्याः। 'इष्टकाश्च सुपक्वाः स्युर्द्वादशांगुलसंमिताः। विस्तारस्य त्रिभागेण वैपुल्येन समन्विताः' इत्यग्निपुराणे (अ० 45) उक्तेः। आयामतुल्यविस्तारकरणे चतुरङ्गुलस्थूलाः तदर्धविस्तारकरणेद्व्यङ्गुलस्थूला। इष्टकाः कार्याः शिलाविस्तारस्य द्विविधस्य दृष्टत्वेन इष्टकाविस्तारस्यापि तथाविधस्य ग्रहीतुमुचितत्वादिति।

3. मृद्भिर्गोमयगोमूत्रकाषायैर्गन्धवारिणा। विधिना पञ्चगव्येन स्नानं पञ्चामृतेन च। गन्धतोयान्तरं कुर्यात्रिजनामा-ङ्किताणुता। फलरत्नसुवर्णानां गोशृङ्गसलिलैस्ततः। चन्दनेन समालभ्य वस्त्रैराच्छादयेच्छिला' इति स्नानप्रकारः अग्निपुराणे (अ० 92) उक्तः। मन्त्राश्च 'अग्निर्मूर्द्धा' इत्यादयो विश्वकर्मप्रकाशे (अ० 5 श्लो० 64) उक्ताः।

4. नन्दा-भद्रा-जया-रिक्ता-पूर्णा इत्याख्यासु पञ्चसु शिलासु क्रमेण पद्म, सिंहासनं, तोरणच्छत्रे, कूर्म, चतुर्भुजं विष्णुं च टङ्केण लेखयेत्। नन्दादिशिलानां च स्थापनार्थं किञ्चित्तदधिकप्रमाणान्

शिलामयानेवाधारान् कल्पयेत् ता उपशिला इत्युच्यन्ते। उपशिलासु पद्मादि निधिकुम्भस्थापनार्थं मध्ये एकैकं गर्तं कारयेत्।

5. 'आ ब्रह्मन्निति नन्दाया भद्रं कर्णेति वै तथा। जातवेदसेति. च तथा यमायत्वेतिमन्त्रकैः। पूर्णा दर्वीति पूर्णायाः क्रमेणापि समाचरेत्। मूले, मध्येऽपि च तथा नाभिमेति च मन्त्रकैः ब्रह्म यज्ञानमिति च विष्णो रण्टमिति तथा। नमस्ते रुद्र इति च इमं देवेति संन्नपेत्।

6. शीर्षे चावाहनं कुर्यात् तद्विष्णोः परमं पदम्। इदं विष्णुः समख्ये च त्र्यम्बकं मूर्द्धानं दिवः' इति नन्दादिशिलानां मध्यशिरःसु अभिषेकः, शिरःसु आवहनं चोक्तम्।

7. 'प्रोक्ष्याः शान्तिजलैः शिलाः इत्याग्निपुराणात् (अ० 92) संस्रवज-लैरभिषेकः।'

8. अनेन हि खननेऽपि ईशानादिक्रम एव लभ्यते। 'खननावटसंस्कारे प्रारम्भो वह्निगोचरः' इत्यादि तु संपूर्णवास्तुभूमिनिखनने आरम्भस्य आग्नेये कर्तव्यताबोधकम्। शिलान्यासस्य आग्नेयोपक्रमपक्षे तत्र खननोपक्रम कर्तव्यतावोधकं वा। कन्या-सिंहे-तुलायां भुजंगपतिमुखं शम्भुकोणेऽग्रिखातं वायव्ये स्यात्तदास्यं त्वलिधनुमकरे, ईशखातं वदन्ति। कुम्भे मीने च मेषे निर्ऋतिदिशि मुखं, रवात वायव्य कोणे अग्नेः कोणे मुखं वै वृषमिथुनगते कर्कटे, रक्षखातम्। अस्यार्थः-सिंहकन्या, तुलासु वास्तुसर्पस्य मुखमीशानकोणे भवति। अतः खातं खातस्योपक्रमः सिंहकन्यातुलाख्ये सूर्ये अग्निकोणे कार्यः। वृश्चिकादिराशित्रयेसंस्थे सूर्ये सर्पास्यं वायव्ये भवति, ततस्तदा ईशाने खातेपक्रम वृषादिराशित्रये सूर्ये अग्निकोणे सर्पमुखम् नैर्ऋत्ये तदा खातोपक्रम इति। इदमपि शिल्पिशास्त्रवचनं भित्यर्थ समन्ततः कर्तव्यस्य, भूमिदोषनिवारणार्थं समस्तवास्तु भूमौकर्तव्यस्य वा खातस्योपक्रमे दिग्विशेषनियामकम्। ननुशिलान्यासयकर्त्तव्यखातस्योपक्रमे दिग्विशेषनियामकम्। तत्र सर्वदा दिग्विशेषस्य व्यवस्थिततत्वेन कालविशेषे दिगन्तरमनियमयितुशक्यत्वात्। इत्यमेव सामञ्जस्ये बाध्यबाधकभाव- कल्पनाऽनवकाशादिति दिक्।

9. पद्मादिनिधिकुम्भाश्च ताम्रमया मृन्मया वा विप्रादीनां क्रमेण पञ्चाङ्गुलाः, सार्द्धद्व्यङ्गुलाः, सपादाङ्गुलाः पञ्चकार्याः। शूद्राणामपि सपादाङ्गुला एवं, चतुर्थमानस्यानुक्तेः 'ध्रुवे शिलायास्तु ततः खनित्वा कुम्भं प्रतिष्ठाप्य शराङ्गुलीयम्। विप्रादिवर्णानुगतः प्रशस्तः तदर्धमानन्तु तदर्धमानम्' इति विश्वकर्मोक्तेः। कुम्भानां पिधानानि च कार्याणि।

10. 'ततः सुलग्ने संप्राप्ते पञ्च वाद्यानि वादयेत्। नन्दां प्रगृह्य च शिलां तथाधारशिलां न्यसेत्॥ 82॥ पिहितं तस्योपरि न्यसेत्पद्मकलशं मन्त्रवर्जितम्। सर्वौषधिजलोपेते पारदाज्यघृतप्लुतम्॥ 83॥ पिहितं रत्नगर्भं च तेजोराशिभिरञ्जतम्। सदाशिवस्य रूपां च ध्यात्वा पञ्चोपचारकैः। संपूज्य दीपं विन्यस्य वामभागेऽथ गर्तके। तत्रोपरि न्यसेन्नन्दां संपूज्य च यथाविधि॥ 85॥ नाभिर्मेति च मन्त्रेण स्थिरो भवेति वै तथा। प्रार्थनां च तथा कुर्यादागमोक्तेन मन्त्रवित् ॥ 86॥ नन्दे त्वं॥ 87॥ 88॥ महापद्मं न्यसेत्तत्र (आधारशिलायाम्) पूजयेद्रत्नगर्भितम्। तत्र भद्रां च संस्थाप्य पूजयेत्तं च मन्त्रकैः॥ 88॥ भद्रं कर्णेति च तथा स्थापयेद्वारुणैस्तथा भद्रे त्वं॥ 90॥ 91॥ आधारोपरि विन्यस्य कलशं शङ्खसंज्ञकम्'। कोणे संपूज्यविधिवज्जयां संस्थापयेत्ततः॥ 92॥ जातवेदसेति मन्त्रेण पूर्वोक्तेन च मन्त्रतः गर्गगत्रस॰॥ 93॥ 94॥ आधारोपरिविन्यस्य विजयं कलशं ततः। रिक्तां संस्थापयेत्तत्र मन्त्रेणानेन मन्त्रवित्॥ 95॥ त्र्यम्बकं यजामहेति तथा

वरुणमंत्रकैः पूजयेत्प्रार्थयेत्तद्रिक्तां रिक्तार्त्तिहारिणीम्॥ 96॥ रिक्ते त्वं.॥ 97॥ आधारे विन्यसेन्मध्ये सर्वतोभद्रसंज्ञकम्। पूर्ण रत्नान्वितं पुष्टं सर्वमन्त्राभिमन्त्रितम्॥ 98॥ तं च संपूज्य विधिवद् ध्यात्वा तत्र सदाशिवम्। तत्रोपरि न्यसेत्पूर्णा पूर्णानन्दप्रदायिनीम्॥ 99॥ पूर्णा त्वं.॥ 100॥ 101॥ पूर्णा दर्वीतिमन्त्रेण इमं देवेति वै तथा। मूर्द्धानं दिवेति तथा शान्तिमन्त्रैस्तथैव च॥ 102॥ सहस्रशीर्षेति षोडशभिरग्निमीडेति वै तथा। इषे त्वोर्जेत्वेत्यग्र आयाहीति तथा पुनः॥ 103॥ शन्नो देवीति मन्त्रेण स्थापयेत्प्रयतः शुचि' इति शिलानां स्थापन प्रकार उपदिष्टो विश्वकर्मप्रकाशे (अ० 5)

'इति वास्तुविधानं तु कृत्वा ताः स्नानमण्डपात्। समानीय शिलास्तत्र सूत्रधारो गुणान्वितः। तत्र दिक्साधनं कुर्यात् गृहमध्ये सुसाधिते। ईशानादिक्रमेणैव स्वर्णकुद्दालकेन तु। खनित्वा कोणदिग्भागे आग्नेये च विशेषतः। नाभिमात्रे तथा गर्ते शिलानां स्थापनं शुभम्' (अ० 5, श्लो० 42-44) 'गृहकोणेषु सर्वेषु पूजां कृत्वा विधानतः। ईशानमादितः कृत्वा प्रादक्षिण्येन विन्यसेत्। नन्दा-भद्रा-जया-रिक्ता-पूर्णानाम्नीर्यथाक्रमम्। नंदायां पद्मालिख्य भद्रासिंहासन तथा। जयायां तोरणच्छत्रे रिक्तायां कूर्ममेव च। पूर्णायां च चतुर्बाहुं विष्णुं संलेखयेद्बुधः। भूर्भुवः स्वरिति तथा तासामावाहनं स्मृतम्। ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईशानश्च सदाशिवः। भूतान्येतानि पञ्चैव पञ्चस्वावाहयेत्पुनः। स्नपनं च ततः कुर्याद् विधिदृष्टेन च कर्मणा इति।' विश्वकर्मप्रकाशेऽभिहितम् (अ० 5, 57-62)

परिशिष्ट-2

अथ ध्वजारोहणविधिः

तत्र भविष्यपुराणेसप्तमीकल्पे साम्बोपाख्याने-

नारद उवाच-

हन्त ते कथयिष्यामि ध्वजारोपणमुत्तमम्।
यदुक्तं ब्रह्मणां पूर्वमृषभाधिपते पुरः(पुण्यं त्रिदशाधिपतेः पुरा?)॥ 1॥
पुरा देवासुरे युद्धे यानि (योध्दुं?) देवैर्जयेप्सुभिः।
कृतान्युपरि चिह्नानि वाहनानि ध्वजानि तु॥ 2॥
लक्ष्मचिह्नध्वजं केतुरिति पर्यायनामभिः।
कीर्तितः स च तस्येह प्रमाणं गदतः शृणु॥ 3॥
ध्वजो वंशस्य कर्तव्यस्त्वविद्ध (कर्तव्योविशुद्धो?) ऋजुरव्रणः।
प्रासादायाम(-व्यास?) तुल्यस्तु ध्वजवंशप्रमाणतः॥ 4॥
देवागारः या प्रोक्ता मञ्जरी कलशादयः।
अथ वा तत्प्रमाणस्तु ध्वजदण्डः प्रकीर्तितः॥ 5॥
अन्तर्गृहस्य या देवी सूत्रतः परिकल्पिता।
तस्य व्यासो भवेद्वंशः प्रासादस्य यदूत्तम्॥ 6॥
अथवा मूल सूत्रेण व्यासस्तस्य गृहस्य च।
प्रासाद व्यास इत्युक्त इह वै स न संशयः॥ 7॥
केतुदण्डो भवेद्वंशो न भिन्नो नाऽनृजुस्तथा।
धनुर्ध्वजो युगं चैव नाविका पुरुषस्तथा॥ 8॥
चतुर्हस्ता भवन्येते प्रशस्ताः कृष्णनन्दन।
अष्टहस्तप्रमाणस्तु विंशार्द्धस्य प्रमाणतः॥ 9॥
सामान्यो ध्वजदण्डस्तु सर्वसाधारणो मतः।
उत्तमस्तु ध्वजो दण्डः स्मृतो हस्तांस्तु षोडश॥ 10॥
विंशद्धस्तात्परं दण्डं शक्रकेतोर्न कारयेत्।
युग्महस्तस्तु कर्तव्यो ध्वजदण्डो मनीषिभिः॥ 11॥

चतुरङ्गुलविस्तीर्णः सुव्रतो (ह्यङ्गुलोपरि)।
नातिसूक्ष्मो न च स्थूलः न कार्योन्नतपर्व च॥ 12 ॥
समपर्वस्तु कर्तव्यः सुदृढः श्लक्ष्ण एव हि।
वक्रः पुत्र विनाशाय सव्रणोऽर्थविनाशकः॥ 13 ॥
रोगदोऽयुग्महस्तस्तु भिन्ने दुःखमनन्तकम्।
करोति हानिं धर्मस्य हीनो वास्तुप्रमाणतः॥ 14 ॥
वैषम्य समपर्वा वै दद्याच्छत्रुमधोन्नतः।
जयो जयन्तो जैतेश्च शत्रुहन्ता जयावहः॥ 15 ॥
नन्दोपनन्दनश्चैव इन्द्रोपेन्द्रस्तथैव च।
दशैते कीर्तिता भेदा ध्वजस्यानन्दसम्मिताः॥ 16 ॥
द्विहस्तस्तु जयो दण्डो जयन्तो द्विगुणो मतः।
द्वादशोर्द्धस्तदा जैत्रः शत्रुहन्ताष्ट एव च॥ 17 ॥
जयावहास्तु विंशार्द्धो नन्द आदित्यसम्मितः।
चतुर्दशोपनन्दस्तु इन्द्रः षोडश उच्यते॥ 18 ॥
उपेन्द्रोऽष्टादश प्रोक्तो आनन्दो विंशतिःस्मृतः।
भिन्नोः वै चक्रसन्धिश्च न कार्यो दण्ड एव हि॥ 19 ॥
मूल सूत्रेण कर्तव्यो व्यासतोऽन्तर्गृहस्य तु।
ध्वजदण्डो महाबाहु अथवा वास्तुमानतः॥ 20 ॥
मञ्जरीमानतो वाऽपि तद्वद्धनं तथा विभो।
पताका च भवेत्कार्या ध्वजवंशावलम्बिनी॥ 21 ॥
देवागारस्य शिखरा त्रिभागपरिमार्जनी।
सा चोक्ता दशधा वीरमानतो नामतस्तथा॥ 22 ॥
अङ्कुरः पल्लवश्चैव स्कन्धः शाखा तथैव च।
पताका कदली वीर केतुर्लक्ष्मो जयस्तथा॥ 23 ॥
ध्वजश्च दशमः प्रोक्तः सर्वदेवमयो नृप।
अङ्कुरे ध्वजङ्गुलः प्रोक्तः पल्लवश्चतुरङ्गुलः॥ 24 ॥

स्कन्धः षडङ्गुलः प्रोक्त शाखा चाष्टाङ्गुला मता।
एकादशपताका तु कदली तु चतुर्दश॥ 25 ॥
केतुस्तु षोडशः प्रोक्तो लक्ष्माष्टादश उच्यते।
जयो विंशति वै प्रोक्तो विस्तारादङ्गुलानि च॥ 26 ॥
चतुर्विंशो ध्वजः प्रोक्तः पताका द्व्यङ्गुलानि तु।
देवागारस्य कुर्यात् प्रथमांशप्रमार्जनम्॥ 27 ॥
अङ्कुरेति पताका सा विज्ञेया यदुनन्दन।
पल्लवेति द्वितीयस्य मार्जनी परिकीर्तिता॥ 28 ॥
त्रिभागमार्जनी स्कन्धः शाखा वै पञ्चमस्य तु।
षष्ठस्योक्ता पताका तु कदली सप्तमस्य तु॥ 29 ॥
अष्टमस्य तथा केतुर्लक्ष्मो वै नवमस्य तु।
ततश्च दशमस्योक्तो जयन्तो यदुनन्दन॥ 30 ॥
वृषस्थाना च मार्जी च ध्वजस्तु परिकीर्तितः।
गजो मेषोऽथ महिषः कबन्धस्तु ऋषस्तथा॥ 31 ॥
हरिणोऽथ नरश्चैव शरश्च नरसत्तम्।
स्थानान्येतानि चाष्टौ तु प्रयुक्तस्य ध्वजस्य तु॥ 32 ॥
दिशां भागात्तु वै पूर्वाक्रमेण परिकल्पयेत्।
एवं दशाविधाः प्रोक्ताः पताकास्तत्वदर्शिभिः॥ 33 ॥
कर्तव्यास्ता यथा पूर्वं तच्छृणुश्च नराधिप।
शुक्लवस्त्रमयी चित्रा सुघण्टा सुमनोरमा॥ 34 ॥
नाना बुद्बुद सम्पन्ना किङ्किणी जालमण्डिता।
ध्वजाग्राश्चैव कर्तव्या देवतालिङ्गसूचकाः॥ 35 ॥
काञ्चनो वाऽथ रौप्यो वा मणिरत्नमयोऽथवा।
रङ्गकैर्लिखितो वाऽथ तद्वाहनसमाकृति॥ 36 ॥
ध्वजदण्डाग्रविन्यस्तः कर्तव्यो यदुनन्दन।
गरुत्माँस्तु ध्वजो विष्णोरीश्वरस्य ध्वजो वृषः॥ 37 ॥

ब्रह्मण: पङ्कजं कार्यं रवे: धर्म: स्मृतो ध्वज: ।
कुञ्जरो देवराजस्य यमस्य महिषो ध्वज: ॥ 38 ॥
हंसो जलाधिपस्योक्त: कुबेरस्य नरो ध्वज: ।
बलदेवस्य तालस्तु कामस्य मकरो ध्वज: ॥ 39 ॥
सिंहोध्वस्तु दुर्गाया: कीर्तितो यदुनन्दन।
गोधा ध्वज उमादेव्या रेवन्तस्य हय: स्मृत: ॥ 40 ॥
कच्छपो वरुणोस्योक्तो वातस्य हरिणो मत: ।
पावकस्य तथा मेष आखुर्गणपते: स्मृत: ॥ 41 ॥
ब्रह्मर्षीणां कुश: प्रोक्त इत्येषा ध्वजकल्पना।
यस्य यो वाहन: प्रोक्त: स तस्य ध्वज उच्यते ॥ 42 ॥
विष्णोर्ध्वजस्य सौवर्णो दण्ड: कार्य विचक्षणै: ।
पताका चाऽपि पीता स्याद्गरुडस्य समीपगा ॥ 43 ॥
ईश्वरस्य ध्वजो दण्डो राजतो यदुनन्दन।
पताका चाऽपि शुक्ला स्याद्वृषभस्य समीपगा ॥ 44 ॥
पितामहध्वजो दण्ड: स्मृतस्ताम्रमयो बुधै: ।
पद्मवर्णा पताका स्यात्पङ्कजस्य समीपगा ॥ 45 ॥
आदित्यस्य च सौवर्णा ध्वजदण्ड: प्रकीर्तित: ।
पञ्चवर्णपताका स्याद्धर्मस्याधोग्रत: स्थिता ॥ 46 ॥
किङ्किणीजालसम्पन्ना नानाबुद्बुदसम्मिता।
पुष्पमालोपसम्पन्ना नानाराजीवसंवृता ॥ 47 ॥
इन्द्रध्वजस्य दण्डोऽथ काञ्चनो यदुनन्दन।
पताका बहुवर्णा स्यात् कुञ्जरस्य समीपगा ॥ 48 ॥
आयसश्चापि दण्डोक्तो यमचिह्नो विचक्षणै: ।
पताका वर्णत: कृष्णा महिषस्य समीपगा ॥ 49 ॥
जलाधिपध्वजो दण्डो राजत: परिकीर्तित: ।
पताका: सर्वत: श्वेता विचित्रा सा कथ्यते ॥ 50 ॥

ध्वजे चापि कुबेरस्य दण्डो मणिमय: स्मृत: ।
पताका चापि रक्ता स्यान्नरपादसमीपगा ॥ 51 ॥
बलदेव ध्वजा दण्डो राजतो यदुनन्दन।
पताका वर्णत: शुक्ला तालस्याधोगता स्मृता ॥ 52 ॥
कामध्वजे त्रिलोह: स्याद्दण्डो यदुकुलोद्वह।
पताका रोहिणी तत्र मकरस्य समीपगा ॥ 53 ॥
मयूरं कार्तिकेयस्य चिह्नं लोकेषु गीयते।
त्रिलोहदण्डमारूढं बहुरत्नविभूषितम् ॥ 54 ॥
बहुवर्णकचित्रा तु पताका कथिता बुधै: ।
हस्ति (दन्तभवं) दण्डं तथा कुर्यात् गणपतेर्नृप ॥ 55
ताम्रदण्डसमारूढं सुशुद्धं सुप्रतिष्ठितम्।
शुक्ला पताका कर्तव्या सुप्रमाणा महीपते ॥ 56 ॥
मातृणां चापि कर्तव्यो नैकरूपो ध्वजो बुधै: ।
पताकाभिरनेकाभिर्बहुवर्णाभिरन्वित: ॥ 57 ॥
रेवन्तस्यापि कर्तव्यो ध्वजे वाजि नराधिप।
रक्ता पताका तत्रापि कर्तव्या यदुनन्दन ॥ 58 ॥
चामुण्डा मन्दिरे कार्य: शिरोमालाध्वजस्तथा।
नीला पताका कर्तव्या दण्डो लोहमयस्तथा ॥ 59 ॥
रीतीमयश्च मातृणा रेवन्तस्याऽपि कारयेत्।
गोध्वजस्ताम्रमय: पताका गोपसन्निभा ॥ 60 ॥
स्वर्णदण्डस्तुवीरस्य ध्वजो मेष समन्वित: ।
पताकाबहुवर्णाद्या कर्तव्या यदुनन्दन ॥ 61 ॥
अश्मसारमयो दण्डो ध्वजो वातस्य उच्यते।
पताका कृष्णवर्णा तु हरिणस्य समीपगा ॥ 62 ॥
भगवत्यध्वजे दण्ड: सर्वरत्नमय: स्मृत: ।
पताका च त्रिवर्णा स्यात्सिंहस्याधोगता नृप ॥ 63 ॥

एवंविधमिदं कृत्वा ध्वजं लक्षणलक्षितम्।

अथाधिवासनम्-

अधिवास्य ततो राजन् तत आरोपयेद्बुधः ॥ 64 ॥

ततः सर्वौषधीभिस्तु स्नापयित्वा प्रयत्नतः।

समालभ्य च बध्नीयान्मध्ये प्रतिसरं नृपः ॥ 65 ॥

कल्पयित्वा शुभां वेदीं कलशैरुपशोभिताम्।

तस्यां वेद्यां समारोप्य तां रात्रीमधिवासयेत् ॥ 66 ॥

नानाकुसुमचित्रां तु स्रजं तस्यावलम्बयेत्।

अभ्यर्च्य च प्रयत्नेन धूपमस्य निवेदयेत् ॥ 67 ॥

बलिकर्म ततः कुर्यात्कृशरामोदिकादिभिः।

पललोल्लापिकाभिश्च दधिपासयसूपकैः ॥ 68 ॥

उद्दिश्य लोकपालेभ्यो बलिं दत्त्वा च पायसैः।

ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्याऽथ कृत्वा पुण्याहमङ्गलम् ॥ 69 ॥

वादित्रकृतनिर्घोषं वेष्टितं नववाससा।

शुभे लग्ने दिने ऋक्षे ध्वजमारोपयेद्बुधः ॥ 70 ॥

विन्यस्य स्वर्णकलशं शुभ्रं राजं ध्वजस्य तु।

एवमारोपयेद्यस्तु ध्वजं देवालयोपरि ॥ 71 ॥

श्रियमातनुते नित्यं प्राप्नोति परमां गतिम्।

असुरा वस्तुमिच्छन्ति ध्वजहीने सुरालये ॥ 72 ॥

तस्माद्देवालयं प्राज्ञो ध्वजहीनं न कारयेत्।

मन्त्रश्च स्थापने प्रोक्तो विधानज्ञैर्ध्वजस्य तु ॥ 73 ॥

अत्र ध्वजास्थापन मन्त्राः

एह्येहि भगवन् देव देववाहन वै खग (खेचर ?)।

श्रीकरः श्रीनिवाश्च जय जैत्रोपशोभितम् ॥ 74 ॥

व्योमरूप महारूप धर्मात्मन् नमोस्तु ते।

सान्निध्यं कुरु दण्डेस्मिन् साक्षी च ध्रुवतां व्रज ॥ 75 ॥

कुरु वृद्धिं सदा कर्तुः प्रासादस्यार्कवल्लभः।

'ॐ एह्येहि भगवन्नीश्वरविनिर्मित उपरिचरवायु-

मार्गानुसारिञ्छ्रीनिवास रिपुध्वंस यक्षनिलय सर्वदेवप्रियं कुरु

सान्निध्यं शान्तिं स्वस्त्ययनं च मेभयं सर्वविघ्ना व्यपसरन्तु॥'

मन्त्रेणानेन राजेंद्र श्वभ्रे दण्डं निवेशयेत्।

पताकां पूर्वमन्त्रेण स्थित्वा पूर्वमुखो नृप ॥ 76 ॥

क्षिपेदूर्ध्वमथाकाशं प्रासादशिखराद्विभो।

पताकां तु ततः पश्येत्पतन्तीं यदुनन्दन ॥ 77 ॥

प्रासादपुरतो वीर पताका पतते यदि।

इन्द्रलोकं तदा कर्तुरादिशेद्यदुनन्दन ॥ 78 ॥

आग्नेयामग्निलोकं तु याम्या यमसदो भवेत्।

नैर्ऋत्यां नैरितां लोकं वारुणे वारुणं व्रजेत् ॥ 79 ॥

यस्य देवस्य यद्वेश्म कृतं यदुकुलोद्वह।

तस्य लोकमवाप्नोति वृषःस्थानं गतो यदि ॥ 80 ॥

वायव्ये वायुमाप्नोति सौम्यां च सोममाप्नुते।

ऐशान्यामीशमाप्नोति कर्ता वै देववेश्मनि ॥ 81 ॥

य एतत्कारेद्भक्त्या ध्वजस्यारोपणं रवेः।

सहभुक्तानान् परान् भागान् सूर्यलोके महीयते ॥ 82 ॥

तेजसाण्डजसंकाशः कीर्त्या चाम्बुजसन्निभः।

द्विजाङ्कतुल्यः प्रभयाः विक्रमेण च गोपतेः ॥ 83 ॥[१]

इति श्रीभविष्यमहापुराणे ब्राह्मे पर्वणि सप्तमीकल्पे साम्बोपाख्याने ध्वजारोपणविधिवर्णनं नामाष्टत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः॥

---

१. उद्धृत- भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व 138, 1-83 तथा कृत्यकल्पतरु (प्रतिष्ठाखण्ड, बड़ौदा), पृष्ठ 224-233

परिशिष्ट- 3

अथ संधियोजनीयवज्रलेपविधिः

देवालयों का निर्माण सुदृढ़ होना चाहिए। मन्दिर में लोहे के प्रयोग का निषेध किया गया है। शिल्परत्नाकरकार का मत है कि काष्ठ, ईंट, पाषाण, धातु और रत्न मन्दिर निर्माण की दृष्टि से उत्तरोत्तर दृढ माने गए हैं, पाषाण श्रेष्ठ है, ईंट मध्यम तथा काष्ठ का प्रयोग अधम हैं किंतु लोहे का प्रयोग नहीं किया जाना चाहिए- *काष्ठे मृदिष्टके चैव पाषाणे धातुरत्नजे, उत्तरोत्तर दृढं द्रव्यं लौहकर्म विवर्जयेत्॥ उत्तमोत्तम धात्वादि पाषाणेष्टिक काष्ठकम्, श्रेष्ठ मध्याधमं द्रव्यं लौहं चैवाधमाधमम्॥*

इसलिए कहा गया है कि देवालयों के निर्माण में सन्धि संयोजन के लिए भी वज्रलेप का प्रयोग किया जाए। यद्यपि आज सीमेंट, चूना आदि प्रचलन में हैं किंतु मन्दिरादि दीर्घकालीन निर्मितियों के लिए वज्रलेप का प्रयोग किया जाना सर्वहितकारी स्वीकारा गया है। बृहत्संहिता, मयमतम्, अभिलषितार्थचिंतामणि अपरनाम मानसोल्लास तथा विष्णुधर्मोत्तरपुराण में वज्रलेप का वर्णन उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्वकाल में वज्रलेप का उपयोग देवप्रासाद, हवेली, वलभी, शिवलिङ्ग, देव प्रतिमा, भित्ति और कूप आदि के निर्माण में होता था और यदि इसे गर्मकर काम में लिया जाता तो यह एक करोड़ साल तक भी नहीं छूटता है, जैसा कि वराहमिहिर ने कहा है-

प्रासादहर्म्यवलभीलिङ्गप्रतिमासु कुड्यकूपेषु।

सन्तप्तो दातव्यो वर्षसहस्रायुत स्थायी॥[१]

वराहमिहिर ने लेप के चार कल्पक या प्रकार बताए हैं-

1. वज्रलेप कल्पक
2. द्वितीयक कल्पक
3. वज्रतर कल्पक तथा
4. वज्रसंघात कल्पक

प्रथम लेप के लिए तेंदु के कच्चे फल, कैथ के कच्चे फल, सेमल के फूल, शल्कली या सालई वृक्ष के बीज, धन्वन वृक्ष की छाल और वच इन सब को एक द्रोण तुल्य (16 किलो) जल में देकर काढ़ा तैयार करें। इस काढ़े का जब अष्टमांश

१. बृहत्संहिता 57, 4

(लगभग 2 किलो) रह जाए तो उसको उतार लें। उसमें श्रीवासक या सरल वृक्ष का गोंद, बोल, गूगल, भिलावां, कुंदरूक या देवदारु वृक्ष का गोंद, सर्ज या संखुआ का गोंद, अलसी और बेल की गिरी- इन सबको पीसकर डालें तो यह वज्रलेप नामक कल्पक तैयार होगा-

आमं तिन्दुकमामं कपित्थकं पुष्पमपि च शाल्मल्याः।

बीजानि शल्लकीनां धन्वनवल्को वचा चेति॥

एतैः सलिलद्रोणः क्वाथयितव्योऽष्टभागशेषश्च।

अवतार्योऽस्य च कल्को द्रव्यैरेतैः समनुयोज्यः॥

श्रीवासकरसगुग्गुलुभल्लातककुन्दुरूकसर्जरसैः।

अतसीबिल्वैश्च युतः कल्कोऽयं वज्रलेपाख्यः॥ (उपर्युक्त 57, 1-3)

द्वितीय वज्र लेप लाक्षारस (लाख) देवदार का गोंद, गुगल, घर की कालिख, कैथ का फल, बेल का गुदा, नागबला का फल, नीम, तेंदूफल, महुआ, मजीठ, राल, बोल, आंवला इन सबका कल्क भी पूर्वानुसार 16 किलो पानी में पका कर दो किलो शेष रहने पर गरम करके लगाना चाहिए। यह भी एक करोड़ वर्ष पर्यंत ठहरता है-

लाक्षाकुन्दुरुगुग्गुलुगृहधूमकपित्थबिल्वमध्यानि।

नागफलनिम्बतिन्दुकमदनफलमधूकमञ्जिष्ठाः॥

सर्जरसरसामलकानि चेति कल्कः कृतो द्वितीयोऽयम्।

वज्राख्यः प्रथमगुणैरयमपि तेष्वेवकार्येषु॥ (उपर्युक्त 57, 5-6)

तीसरे प्रकार के वज्र लेप जिसे वज्रतल कहा गया है, के लिए गाय, भैंस, बकरे के सींग, गधे के रोएं, भैंस की खाल, गाय का गोबर, निम्बोली, कैथ का फल और बोल का चूर्ण बनाएं। पूर्वानुसार बनाए गए काढ़े में इसे मिलाएं तो यह उक्त गुणों के अनुसार ही लेप का काम करेगा-

गोमहिषाजविषाणैः खररोम्णा महिषचर्मगव्यैश्च।

निम्बकपित्थरसैः सह वज्रतलो नाम कल्कोऽन्यः॥ (उपर्युक्त 7)

इनके साथ ही वज्रसंघात लेप आठ भाग सीसा, दो भाग कांसा और एक भाग पीतल इनको मिलाकर गलाने से तैयार होता है-

अष्टौ सीसकभागाः कांसस्य द्वौ तु रीतिकाभागः।

मयकथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसंघातः ॥ १

उक्त वज्रसंघात लेप को मय ने भी तैयार किया था। यह एक प्रकार से धात्विक मिश्रण है, जिसका उपयोग मूर्ति गलाने अथवा प्रद्रावण पूर्वक स्तंभादि निर्मित करने के लिए किया जाता था। बृहत्संहिता के विवृत्तिकार उत्पलभट ने यहाँ मय की उक्ति को उद्धृत किया है- *सङ्गृह्याष्टौ सीसभागान् कांसस्य द्वौ तथांशकम्। रीतिकायास्तु सन्तसो वज्राख्यः परिकीर्तितः ॥*

----

*मयमतम् में वज्रलेप के निमित्त कल्क की विधि इस प्रकार बताई गई है-

करालमुद्गीगुल्माषकल्कचिक्कणसाह्वयाः ॥ चूर्णोपयुक्ताः पञ्चैते सर्वकर्मसनातनाः। अभयाक्षबीज मात्रशर्करा स्वार्धचूर्णकाः ॥ मुद्गबीजसमा क्षुद्रशर्करा मुद्गमिष्यते। सार्धत्रिपादद्विगुणकिञ्चल्क सिकतान्वितम् ॥ चूर्णस्य शर्कराशुक्त्योर्यद् गुल्मासं तदुच्यते। करालं चापि मुद्गीं च तेन मानेन योजयेत् ॥ पूर्वोक्तमात्र सिकताचणकक्षूर्णमानतः। क्रि यार्थं पेषितं कल्कं चिक्कणं मस्तु केवलम् ॥ निश्छिद्रमिष्टमानेन गोत्रमिष्टकया दृढम्। पूर्वोक्तानां च पञ्चानां विधातव्यं पृथक्-पृथक् ॥ तत्र तत्र तदुक्तेन द्रव्येण परिकल्पयेत्। केवलेनाम्भसा पूर्वं पूर्वास्त्रिस्त्रिः प्रकुट्टयेत् ॥ क्षीरद्रुमकदम्बाम्राभयात्वग्जलैः पुनः। त्रिफलो दैस्ततस्तद्वन्माषयूषैस्ततस्तथा ॥ संयम्य शर्कराशुक्तिं चूर्णं तत् खातवारिणि। खुरसङ्कुट्टनं कृत्वा स्रावयित्वाथ वाससा ॥ कल्कं च चिक्कणं तेन कल्कनीयं विचक्षणैः। दधिदुग्धमाषयूषगुडाज्यकदलीफलैः ॥ जलैश्च नालिकेरस्य चूतपक्करसैः सह। कल्पितं शिल्पिभिर्यत् तद् बन्धोदकमिति स्मृतम् ॥ शुद्धिं शुद्धोदकेनादौ कृत्वा बन्धाम्भसा (ननु ?ततः) आलिप्य सुधया कार्या नानारूपान्वितक्रिया ॥ दग्धेश्च मृण्मयैश्चापि लोहलोष्टैर्यथोचितम्। गोपानस्योपरिष्टात् तुच्छादनीयं विचक्षणैः ॥ करालमुद्गिगुल्माषघनमेकैकमङ्गुलम्। कल्कमानं तदर्धेन तदर्धार्धं तु चिक्कणम् ॥ 18, 92-105

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीयखण्ड में वज्रलेपविधि बृहत्संहिता के मतानुसार ही दी गई है- अतः परं प्रवक्ष्यामि वज्रलेपविधिं तव। ति(ब)न्दुकांश्च कपित्थांश्च आम्रान्संहृत्य यत्नतः ॥ शाल्मलीनां तथा पुण्यं सल्लकीबीजमेव च। धनुषश्च तथा कल्कं वचां च मनुजेश्वर। एतेषां समवेतानां समानां मनुजोत्तम। तोयमष्टगुणं क्वाथमष्टभागा विशेषतम् ॥ ततस्तत्र क्षिपेद्द्रव्यं शृणु तच्च समासतः। म(स ?)ल्लीकानां तु विन्यासं वत्सलस्य च गुग्गुलम् ॥ भल्लातकानि बिल्वानि कुर्मुरुं सर्ज मेव च। अतसीं वसुतप्तोऽयं वज्रलेपः प्रकीर्तितः ॥ लाक्षां च कुन्दुरुं चैव गृहधूमं तथैव च। कपित्थबिल्वमध्यानि तथा नागफलं नृप ॥ बलां च मधुकं चैव किंजापं मदनं तथा। मञ्जिष्ठासल्लकं सर्ज वज्रलेपः प्रकीर्तितः ॥ विषाणानि गवां राजन्महिषाणां तथैव च। अजानां च तथा चर्म माहिष्यं गव्यमेव च ॥ रसबिंब(बिम्बार्कस्तु ?)कपित्थास्तु वज्रलेप प्रकीर्तितः। अष्टौ

----

१. वही 8

भागास्तु नागस्य कांस्यभागद्वयं तथा ॥ रीतिभागं च कथितो वज्रलेपस्तथैव च। सुधापक्का ततः क्लिन्ना गव्यचर्म समन्विता ॥ खररोमयुता राजन्वज्रलेपस्तथैव च। तेषामेकैकसंयुक्ताः कार्याः शैलगृहा नृप ॥ पक्केष्टगताश्चैव स्थायिनो मनुजोत्तम। वज्रलेपयुता ह्येते भवन्त्यपि दृढास्तथा ॥ तिष्ठन्ति सुमहाराज संवत्सरशतान्यपि। सहस्राणि च धर्मज्ञ चायुतान्यर्बुदानि च ॥ सुधावर्णेन सर्वत्र लेपं दद्यात्तथा बहिः। ततश्च तां सुधां दद्याच्छोभार्थमरिमर्दन ॥ वज्रलेपविधानं तु प्रोक्तं सम्यक्तया तव। देवायतनमुख्येषु तथा च भवनेषु च ॥ (तृतीयखण्ड 92, 1-15)

श्लोकानुक्रमणिका

अ-आ

श

ष

स

ह

पारिभाषिक शब्दावली

(अकारादिक्रमानुसार)

GLOSSARY OF TERMS

हिन्दी	अंग्रेजी
अक्षिसूत्र	-The line of eyes.
अङ्गुल	-A finger, a finger- breadth.
अण्ड	-A cupola.
अण्डक	- Dwarft pillar.
अन्तराल	- Cupola.
अंतशाला	- Inner wall.
आग्नेयद्वार	- The door on the south-East.
अट्टालिका	-Palace.
अधि	-Foundation.
अधिरचना	-Super structure.
अधिष्ठान	-Platform.
अनुप्रस्थ	-Horizontal.
अभिषेमण्डप	-Coronation hall.
अम्मन देवालय	-Amman Shrine.
अर्द्धचन्द्र	-Half moon.
अर्द्धमण्डप	-Half Pavilion,Vestibule,Porch
अर्द्धस्तम्भ	-Pilaster, Half pillar.
अलंकृत प्रक्षेपण	-Boss.
अलिंद, अलिंदक	-Corridor,Terrace,Balcony, Gallary.
अवलम्बन	-Pendant,Plinth of a railing, Base.

अश्वथर	-Figure of horses.
अष्टभद्र	-Stellate.
आगार, भाण्डागार	-House, Room,Cell.
आग्नेयप्रस्थर	-Granite stone.
आच्छादन	-Canopy.
आधार, मुख्याधार	-Basement,Plinth.
आमलक, आमलसारक	-Melon.shaped stone, noticed on shikhara, A massive circular stone Cushion-shaped.
आय (षड्वर्गांतर्गत)	-One of the six varga formula for ascertaining the right propotion of measurment.
आयतन	-Enclosure,Assembly hall.
आलय	-House,Temple.
आवृत्त	-Enclosure.
आसन	-Seat,Throne.
इष्टिका, ईंट	-Brick.
उकेरी, उभरांकन	-Engraving.
उत्तीर	-Entablature.
उद्वर्ती ढलाई	-Torus Morlding.
उदुम्बर	-The threshold of a house, a door.
उपपीठ	-Upper pedestal of a temple.
उपान, बैठका	-Pedestal, Rectangular moulding, Fillet.
उरुशृङ्ग	-Half Shikhara like a turret attached to the main tower.
एकताल, भूम्यतल	-Ground Floor,Single storey building.

एकाश्मक	-Monolithic.
कक्षासन या पीठासन	-Sloping seat back of stone.
कपोताकार	-Cornice.
कलश, कलशो	-vase.
कला	-Art.
कलाकार, कलाकर्मी	-Artist.
कल्याणमण्डप	-Hall of marriage in temple of South India.
कान्ति	-Racess between bracket and Cornice in the temple of the Orissa.
कीर्तिमुख	-Grotesque mask.
कीर्तिस्तम्भ, यशःयूप	-Pillar of fame, Monumental pillar.
कील, कीलिका	-Nail.
कुञ्जराक्ष, खटकी	-Window.
कुण्ड, जलकुण्डिका	-A pool in or about a temple.
कुम्भ	-Vase.
कुम्भस्तम्भ, थाग्त्र	-Small pillar.
कुमुद	-Convex moulding or trans moulding or Torus moulding.
कोटर	-Temple Granary.
कोण	-Angle.
कोणकयुग	-Pilaster or Projection on the angle of temple.
कोणियां, कोणबद्ध	-Bracket.
कोष्ठ	-Cella, Chamber.
कोष्ठशाला	-Closed hall.

गन्धर्व	-Semi devine figures, Gandharva.
गजथर, कुञ्जरथर	-Figure of elephants.
गट्ठा	-Truss.
गर्भगृह	-Sanctum,Shrine,Sanctuary.
गर्भन्यास	-Foundation of laying the Foundation.
गर्भमञ्जूषा	-Vault.
गवाक्ष, जालीदार खिड़की	-Window,Lattice window.
गारा-चूना सामग्री	-Mortar.
ग्रीवा	-The neck, The dado.
गूढ़मण्डप	-Vestuble.
गृह या वास्तुप्रवेश	-First intrance of house or temple.
गृहमुख	-Facade.
गृहविन्यास, पदन्यास	-Location of various rooms in houses,temples,place,plan of a house.
गोपुरम्, पोल	-Monumental Gateway of Dravadian temple, Main entrance of Dravadian temple.
ग्रीवा	-Neck of building.
घण्टाकृति	-Companiform.
घट	-Vase.
घटपल्लव	-Vase and Foliage.
घनात्मक	-Cubical.
चंद्रशिला	-Moon stone or Moon-shaped

	stone.
चक्राकार ढलाई	-Circular moulding.
चबूतरा, चत्वर	-Platform.
चहारदीवार, परकोटा	-Enclosure, Boundary wall.
चित्रपट	-An oranamental band..
चित्रागार, चित्रशाला	-Picture Gallery.
चैत्य	-Church-like Buddhist Assembly hall,Sanctuary,Buddhist temple or shrine.
चैत्यगृह	-A dome like construction in tope supported by pillars.
चौकोर, चतुरस्र	-Quadrangle,Square.
चौखट	-Door Jamb.
चौलात्री	-Outer pillared hall in a Dravadian temple.
छज्जा, छाद्य	-Eaves.
छत	-Roof, Ceiling.
छप्पर	-Thatch.
जड्डा, जगनप्रदेश	-Plinth, Base of a temple.
जगती	-Railed parapet, Platform.
जगमोहन, सभा	-Assembly hall in Orissan temple, Mandapa before the Sanctum,Audience hall.
जलकुण्ड, जलागार	-Tank. Sacres pool.
जलाश्रय, सरोवर	-Tank.
जालक	-Lattice window.
जाली	-Perforated screen, Lattice.
ढलाई	-Moulding Cable.

तक्षण, उत्कीर्णन	-Carving.
तल	-Storey, Story
तलपट्टन	-Pavement.
ताख, आलिया	-Niche, Recess.
ताराकृति	-Stellate.
तिर्यक्	-Transept, Cross or Transverse compartment of a building.
त्रिताल, त्रिस्तर, त्रिभूमि	-Third storey
त्रिरथ देवल	-Sanctuary having three pilasters on the facade.
तोरण	-Arches, an ornamental con struction in Gods temple.
थम्ब	-Post, pillar.
देवल	-Temple, Tower.
देवायतन	-Temple, House of Gods.
देवालय	-Temple, Dwelling place of Gods.
द्राविड़प्रासाद	-South Indian style of temple architecture, Dravadian tem ple.
द्वार, प्रवेशद्वार, पोल, प्रतोली	-Door, Gate, Entrance.
द्वारशाखा	-Doorlintel, Door frame, Jamb Door post.
द्वितल, द्विभूमि	-Double storeyed building.
धरण	-Beam.
धातु	-Metal.
ध्वजस्तम्भ	-Free pillars erected by worshippers of shiva.

नंदीमण्डप, नंद्यमण्डप	-Pevilion, Portico over the figure of bull.
नटमण्डप, नृत्यमण्डप	-Dancing hall of temple.
नरथर, नृस्तर	-Figure of human beings.
नल, पादान, सोपान	-Staircase.
नलमण्डप	-Porch over a staircase.
नवग्रह, चारीयग्रह	-Nine planets.
नवताल, नवस्तर	-Nine storeyed building.
नवरङ्ग	-Central hall of a temple.
नागर	-One of the three style of Indian temple architecture or North Indo-Aryan style, the other two (Dravadian and Vesara) being respectively rectangular and round.
निष्कल व वास्तुपदविन्यास	-Site plan.
निष्कास, निर्गम	-Varendah, Portico, Projection.
नेत्रभद्र	-A side tabernacle, Side porch Portico.
नेत्रशाला, पार्श्वगृह, पक्षशाला	-Side hall.
पञ्जरम्, अधिरचना	-Attic, Super structure.
पञ्चरथदेवल	-Structure having five pilasters on its facade.
पञ्चायतन	-Temple consisting of five shrines in a group.
पञ्जर	-Rib, projecting band on a ceiling, vault.

पग, पागड़ा, पायचा	-Projecting pilaster-like square surface of an orissan temple.
पट, लिंटल	-Lintel, Beam.
पट्टिका, फलक, फ्रेम	-Panel.
पदविन्यास	-Ground plan, site plan.
पद्म, उत्पल	-Lotus.
पद्मभंडम	-Neck moulding.
पनशाला	-Cell.
परस्तर	-Entablature.
परिधि	-Circumference.
पाद	-Foot, Base.
पादुका	-Plinth.
पार्श्वमार्ग,	-Aisel.
पीठ, पीठाधार	-Base, Foundation.
पीड	-Basement of tower.
पुष्करिणी, पोखर	-Tank, Sacred pool.
पुष्पबन्ध	-Corbel, Projecting bracket.
पुष्पबोधिका	-Projecting bracket.
पूरककक्ष	-Subsidiary shrine.
पूर्णकलश	-Vase of plentry, vase and foliage.
पूर्णकुंभ, पूरितघट	-Vase.
प्रकोष्ठ	-A room near the gate of a place.
प्रक्षेपण	-Projection, Buttress.
प्रच्छादन	-Canopy.
प्रतिष्ठा, स्थापना	-An establishment.
प्रदक्षिणा, परिक्रमणपथ	-Circumbulatory path

	Ambulatory.
प्रस्तरस्तम्भ, पीलपाया	-Pier.
प्राङ्गण, रायआङ्गण	-Courtyard.
प्राकार, परिवृत्त	-Enclosure, Fence, Rampart.
प्राकारम्	-Open courtyard.
प्रासाद	-Palace, Shrine.
फलक, फ्रेम	-Panel.
बलिमण्डप, कोली मण्डप	-Front hall, Entrance hall in Chalukyar temple.
बुर्जी, वजीरी	-Tower.
ब्रह्मांश, ब्रह्मस्थान	-The central part of a building.
भक्त, श्रद्धालु	-Devotee.
भद्र	-Moulding, Portico.
भारक	-Support.
भारतुला, भारा	-Support, Beam.
भित्ति	-Wall, a partition, a support.
भूपरीक्षा	-Testing the site and soil where a building is constructed.
भूमिक, मंजिल	-Storey.
भूमिका	-Space between two adjunct floors.
भूमिलम्ब	-Height of a storey.
भोगमण्डप	-The hall offering in temple.
भ्रम, भ्रमणिका, प्रदक्षिणापथ	-Circumbulatory path, Ambulatory.
मण्डप, सभाकक्ष	-Open hall, Assembly Hall.

मण्डोवर	-Central portion or main part of the exterior walls of Nagar temple.
मन्दिर, देवालय, प्रासाद	-Temple.
मकर	-Crocodile.
मठ	-A building inhabitted by a devotee, a college, a rest-house, a coister,
मध्यशाला	-Middle hall.
मसूरक, लिंटल	-Lintel.
महामण्डप	-Great hall of entrance to the main temple.
महाशाला, दीर्घगृह	-Large hall.
मार्ग, वीथी, रथ्या	-Path, road.
मुखभद्र	-Portico, Porch, Front tubernaclae.
मुखमण्डप	-Front hall, A portion in front of a temple.
मुख्यकक्ष	-Nave.
मुण्डेर, मुडेरा	-Parapet.
मूर्ति, प्रतिमा, अर्चा	-Image, statu, an idol.
यष्टि	-Shaft, pole.
रथ, यान	-Chariot, Car.
रुद्रकांत, रुद्रकन्द	-Sixteen sided pillar.
रेखा	-Curvilinear portion of tower or spire or sikhara.
रेखादेवल	-Towered sanctuary.
लम्ब	-Perpendicular.

लम्बाई, दीर्घता	-Length.
वक्र	-Bent, Curved.
वज्रलेप, चिक्कण, प्लास्टर	-Pilaster.
वप्र	-Rampart, wall, Plinth, Moulding of th base.
वर्गाकार	-squre
वापी, वापिका,	-Tank, Reservoir of water.
वास्तुकला	-Architecture.
वितान	-Canopy.
विद्याधर	-A class of demi-gods.
विधान	-Entablature.
विमान	-Temple, Tower.
विस्तार	-Breath, Length.
विहार	-Monastery.
वीथी	-Road, Street.
वीथिका, गली	-Gallery.
वेदिका	-Railing.
वेसर, मिश्रक	-A style of Indian temple architecture identified with Chalukyan or composite temples.
शिखर, मीनार	-Tower, Cupola.
शिखान्त	- Finial, Top, finishing portion of a pinnacle.
शिखा	-Finial, pinnacle
शिलाघटित	-Rock-cut architecture.
शिलाकर्म	-Masonry, the art of building in stone.

शिलास्तम्भ	-Stone column or Pillar.
शिल्पशास्त्र	-The science of Architecture.
शिल्पज्ञ, शिल्पी	-Architect.
शिविका गर्भ	- A square hall.
शुकनासा, शुकनासिका	- A parrot's nose, an object having an acquiline nose, the part of the finial looking like the parrot's nose. the lower part of atower.
सुकनास	-A small room in front of the idol in a temple.
शृङ्ग	-Top, Turret, Elevation, Height, Quarter Sikhara-like turret attached to main sikhara.
शैली	-Style.
शोभायात्रा, जुलूस	-Religious procession.
संगमरमर, श्वेताश्म	-Marble stone.
संरचना	-Structure.
संरचनात्मक	-Structural.
सदन	-Sacrificial Hall.
सभामण्डप	-Assembly Hall.
सराय, विश्रान्तिगृह	-Halting place.
सिंहस्तम्भ	-Lion pillar.
सेनी, श्रेणी	-Guild.
सोपान, सीढ़ियां	-Stairs, Steps, Staircase.
स्तम्भ	-Pillar
स्तंभविहीन मुखभाग	-Aslytar, Facade without columns or pilasters.

स्तम्भशीर्ष	-Capital of a pillar
स्तूपिका, स्तूप	-Dome, Cupola, Stupa.
स्थपति, सूत्रधार, गजपति	-Chief Architect, Master-builder.
स्थापत्य	-Architecture.
हिण्डोलना, हिण्डोलनक	-Cradle.

***

उपस्कारक ग्रंथ

अग्निपुराण : वेद व्यास, अनुवादक तारिणीश झा एवं घनश्याम त्रिपाठी. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1998 ई.

अपराजितपृच्छा : भुवनदेवाचार्य, संपादक पोपटभाई अम्बाशंकर मन्कड, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बडोदरा, 1950 ई. तथा इस पर डॉ. एल. मिश्र कृत आलोचनात्मक अध्ययन, लक्ष्मी प्रकाशन, इलाहाबाद 1994 ई.

आगमरहस्य (पूर्वार्द्ध) : सरयूप्रसाद द्विवेदी. संपादक गंगाधर द्विवेदी, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1967 ई.

ईशानशिवगुरुदेवपद्धति : ईशानशिवगुरुदेव मिश्र, संपादक टी. गणपति शास्त्री, अनन्तशयन ग्रंथमाला, त्रिवेन्द्रम, 1920-25 ई.

ऋग्वेद : संपादक श्रीराम शर्मा आचार्य, गायत्री शक्तिपीठ, शांतिकुञ्ज, हरिद्वार संस्करण 2002 ई.

काश्यपशिल्पम् : काश्यप मुनि विरचित, संपादक- श्रीकृष्ण शर्मा, आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज, पूना, 1926 ई.

कुण्डमण्डपसिद्धि : विट्ठलदीक्षित, टीकाकार वायुनंदन मिश्र, मास्टर खेलाड़ीलाल संकटाप्रसाद संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी तथा *मण्डपकुण्डसिद्धि* नाम से बलदेव पाठक कृत भाष्य व श्रीनिवास शर्मा कृत टीका, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2002 ई.

कृत्यकल्पतरु (प्रतिष्ठाकाण्ड) : भट्टश्रीलक्ष्मीधर, संपादक के.वी. रंगास्वामी अयंगार, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा संस्करण 1997 ई.

क्षीरार्णव : विश्वकर्माकृत, संपादक प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा, गोरावाड़ी पालीताणा, 1967 ई.

गरुडपुराण : वेद व्यासकृत, अनुवाद, गीताप्रेस गोरखपुर कल्याण के वर्ष 74 का विशेषाङ्क 2000 ई.

ज्ञानप्रकाशदीपार्णव : विश्वकर्मा, संपादक प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा, (गुजराती अनुवाद) गोरावाड़ी, पालीताणा 1964 ई.

देवतामूर्तिप्रकरणम् : सूत्रधारमण्डन, संपादक श्रीकृष्ण 'जुगनू', न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, चन्द्रावल दिल्ली, 2003 ई.

जयपृच्छा : विश्वकर्मा, संपादक - प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा, (गुजराती अनुवाद) अहमदाबाद, 1977 ई.

ज्योतिर्निबन्ध : शूरमहाठश्रीशिवराज विनिर्मित, संशोधक- रङ्गनाथ शास्त्री व प्रकाशक विनायक गणेश आप्टे, आनन्दआश्रम संस्कृत ग्रंथावलि क्रम 85, 1919 ई.

ज्योतिषरत्नमाला : श्रीपतिभटाचार्य प्रणीत, संपादक-व्याख्याकार श्रीकृष्ण 'जुगनू' परिमल पब्लिकेशंस, शक्तिनगर, दिल्ली 2004 ई.

तन्त्रसमुच्चय : नारायणकृत, संपादक टी. गणपति शास्त्री, अनंतशयन ग्रंथमाला, त्रिवेंद्रम, 1919 ई., प्रो. उन्नी के संपादन में पुनर्प्रकाशन नाग पब्लिकेशंस, दिल्ली 1999 ई. तथा इसी के तृतीय शिल्पभाग का मलयालम अनुवाद, पञ्चाङ्गम् प्रेस एण्ड बुक सेलर, कुन्नामकुलम्, त्रिचूर, केरल, 2002 ई.

नारदसंहिता : महामुनि नारद भाषित संपादक रामजन्म मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 2001 ई. तथा पण्डित वसतिराम ज्योतिर्विद कृत विक्रम संवत् 1954 की भाषाटीका, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1999 ई.

प्रतिष्ठामयूख : नीलकण्ठभट्ट संपादक दौलतराम गौड़, ठाकुरप्रसाद बुकसेलर, चौक वाराणसी, संस्करण 2037 वि.स.

प्रासादमण्डनम् : सूत्रधार मण्डन, कलिकाता संस्कृत सीरीज, कोलकाता, 1948 ई., संपादक भगवानदास जैन, बीएस शर्मा, मोतीसिंह भौमियाजी का रास्ता जयपुर, 1963 ई. गुजराती अनुवाद- सरस्वती पुस्तक भण्डार, रतनपोल, अहमदाबाद 1989 ई.

प्रासादतिलक : सूत्रधार वीरपाल, संपादक प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा, 31 ईलोरा पार्क नारायणपुरा, अहमदाबाद 1972 ई.

बृहद्दैवज्ञरञ्जनम् : दैवज्ञरामदीन, खेमराज कृष्णदास वैंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई 1925 तथा डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी कृत अनुवाद, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली संस्करण 2001 ई.

बृहद्वास्तुमाला : पं. रामनिहोर द्विवेदी कृत, संपादक ब्रह्मानंद त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९८

बृहद्वास्तुमालाप्रयोग : हरिशङ्कर पाठक संपादित, भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी, 1992-93 ई.

भविष्यपुराण : अनुवाद संयोजक महाप्रभुलाल गोस्वामी, गीताप्रेस गोरखपुर के कल्याण के 66वें वर्ष का विशेषाङ्क 1992 ई. मूलपाठ एवं टीका बाबूराम उपाध्याय, हिंदी साहित्य सम्मेलन 1995-2003 ई.

मत्स्यपुराण : वेदव्यास विरचित, गीताप्रेस गोरखपुर, कल्याण का विशेषाङ्क 1985 ई.

मनुस्मृति : अनुवादक गणेशदत्त पाठक, ठाकुर प्रसाद बुक सेलर, वाराणसी, संस्करण 1991 ई.

मयमतम् : मयमुनि विरचित संपादक टी. गणपतिशास्त्री, अनंतशयन ग्रंथावली, तिरुवनंतपुरम् 1919 ई. भाषाटीका श्रीकृष्ण 'जुगनू', प्रकाशनाधीन.

मानसार : मानमुनि, संपादक प्रसन्नकुमार आचार्य, ऑक्सफोर्ड प्रेस, लन्दन, 1932 ई. पुनर्मुद्रण- मुंशीराम मनोहरलाल, रानी झांसी मार्ग दिल्ली, 1998 ई.

मानसोल्लास अपरनाम अभिलषितार्थचिंतामणि (द्वितीयभाग) : भूलोकमल्ल सोमेश्वर विरचित, संपादक- जी. के. श्रीगोण्डेकर, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा 1939 ई.

वत्सुसारपयरणम् : (प्राकृत ग्रंथ) ठक्कुरफेरू विरचित, रत्नपरीक्षादि सप्तग्रंथ संग्रह में संकलित, सम्पादक अगरचंद नाहटा, भंवरलाल नाहटा, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर 1963 ई. तथा श्रीकृष्ण 'जुगनू' द्वारा पुनर्संपादित व अनूदित, प्रकाशनाधीन।

वशिष्ठसंहिता : वृद्धवशिष्ठ विरचित, खेमराज कृष्णदास, मुम्बई, 1915 ई.

वास्तुनिघण्टुः संपादक-प्रभाशंकर ओघड़भाई सोमपुरा (गुजराती), अहमदाबाद 1977 ई.

वास्तुमञ्जरी : क्षेत्रार्कसूनु सूत्रधार नाथा भंगोरा विरचित, संपादक श्रीकृष्ण 'जुगनू' (प्रकाशनाधीन)

वास्तुरत्नावली : जीवनाथ झा दैवज्ञकृत, टीकाकार अच्युतानन्द झा, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1981 ई.

वास्तुविद्या : विश्वकर्माकृत, के. महादेव शास्त्री कृत व्याख्या, अनंतशयन ग्रंथावली, त्रिवेंद्रम द्वितीय संस्करण 1940 ई. एवं **वास्तुविद्या** के एक अन्य पाठ का सम्पादन एवं गुजराती टीका प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, पथिक सोसायटी, अहमदाबाद, 1977 ई.

वास्तुसारमण्डनम् : सूत्रधार मण्डन, संपादक- प्रभाशङ्कर ओघड़भाई सोमपुरा, पथिक सोसायटी, अहमदाबाद, 1977 ई. समीक्षा एवं अनुवादक- डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू', न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, न्यू चंद्रावल, दिल्ली, 2004 ई.

वास्तुसौख्यम् : टोडरमल्ल विरचित, संपादक आचार्य कमलाकांत शुक्ल, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, संस्करण 1999 ई.

विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम् : विश्वकर्माभाषित, संपादक- के. वासुदेव शास्त्री, सरस्वती महल पुस्तकालय, तञ्जौर, संस्करण 1999 ई.

विश्वकर्माप्रकाश : विश्वकर्माकृत, अनुवाद मिहिरचंद्र, खेमराज कृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 1998 ई.

विष्णुधर्मोत्तरमहापुराण : कृष्णद्वैपायनव्यासभाषित, संपादक मधुसूदन माधवप्रसाद शर्मा, खेमराजकृष्णदास, वैंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई 1911-12 ई. पुनर्संपादन- नागशरणसिंह, नाग पब्लिकेशन, जवाहरनगर, दिल्ली, 1998 ई., तृतीयखण्ड : संपादक प्रियबालाशाह, बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा 1958 ई.

बृहत्संहिता : वराहमिहिर- भट्टोत्पलीयविवृत्ति सम्पादक सुधाकर द्विवेदी पुनर्संपादन कृष्णचंद्र द्विवेदी, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस, 1996, हिंदी अनुवाद अच्युतानंद झा, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस संस्करण 1997 ई. एवं *वाराहीसंहिता* नाम से पं. सुखानंद मिश्र एवं पं. बलदेव मिश्र कृत अनुवाद, खेमराज श्रीकृष्णदास, मुम्बई, संस्करण 2000 ई.

शतपथब्राह्मण : शुक्लयुजुर्वेदमाध्यन्दिनीयां शाखामनुसृत्य, सायणाचार्यहरिस्वामी द्विवेददङ्गकृतभाष्येभ्य: सारमुद्धृत्य, डॉ. अल्वेर्तेन वेबरेण संशोधिततम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, 1999 ई.

शिल्परत्नम् : श्रीकुमार प्रणीत, संपादक- टी. गणपतिशास्त्री व साम्बशास्त्री, त्रिवेंद्रम् संस्कृत सीरिज, तिरुवनंतपुरम् 1919 ई.

शिल्पशास्त्र : संपादक- फणीन्द्रनाथ बोस, इण्डोलॉजीकल बुक हाऊस, जवाहरनगर, दिल्ली, पुनर्प्रकाशित 1978 ई.

शिल्पप्रकाश- रामचंद्र कौलाचार, संपादक एलिस बोर्नर व एस.आर. शर्मा, लियेडेन, 1963 ई.

शुल्बसूत्रम् : कात्यायन, कर्क, महीधर भाष्य, जयकृष्णदास हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी 1958 ई.

समराङ्गणसूत्रधार- धाराधिप भोज, संपादक टी. गणपति शास्त्री, बड़ोदा ऑरियण्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा 1925 ई. पुनर्संपादन-प्रो. पुष्पेंद्रकुमार, न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली, 2002 ई.

सिद्धांततत्त्वविवेक : कमलाकर भट्ट, गङ्गाधर शर्माकृत वासनाभाष्य, वाराणसी, 1999 ई.

ज्ञानरत्नकोश- विश्वकर्माभाषित (पाण्डुलिपि) बड़ौदा ऑरियण्टल इंस्टीट्यूट में सुरक्षित।

हिन्दी शोधग्रंथ

गोपीनाथ शर्मा : **राजस्थान के इतिहास के स्त्रोत,** राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1982 ई.

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : **उदयपुर राज्य का इतिहास,** राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1999 ई.

गौरीशंकर असावा : **पन्द्रहवीं वीं शताब्दी का मेवाड़,** प्रिंटवैल पब्लिशर्स, जयपुर, 1987 ई. तथा **कुम्भलगढ़,** राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर 2004 ई.

जॉन फेथफुल फ्लीट : **भारतीय अभिलेख संग्रह** (तृतीय भाग, हिंदी अनुवाद) राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर 1974 ई.

तारा मंगल : **महाराणा कुम्भा और उनका काल** , राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर, 1984 ई.

रामवल्लभ सोमानी- **महाराणा कुंभा** मातेश्वरी प्रकाशन, गंगापुर, 1968 ई.

रामकृष्णगोपाल भण्डारकर- **राजस्थान में संस्कृत ग्रन्थों की खोज रिपोर्ट** (अनुवादक-ब्रह्मदत्त त्रिवेदी) राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर 1963 ई.

श्रीकृष्ण 'जुगनू' : **महाराणा प्रताप का दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र और उसका साहित्य** (विश्ववल्लभ, मुहूर्तमाला एवं राज्याभिषेकपद्धति का संपादन एवं अनुवाद) महाराणा प्रताप स्मारक समिति, उदयपुर, 2002-03 ई.

श्यामलदास दधिवाड़िया : **वीरविनोद (प्रथमभाग)**, सज्जन यंत्रालय, उदयपुर 1885 ई. पुनर्मुद्रण मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1980 ई.

सच्चिदानन्द सहाय : **मन्दिर स्थापत्य का इतिहास**, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, संस्करण 1989 ई.

अंग्रेजी ग्रंथ

Acharya PK- **An Encyclopaedia of Hindu Architecture,** Delhi.

Baumer Bettina & Das Rajendraprasad (Edited.)- **Shilpratnakosa** of Niranjan Mahapatra, Delhi.

Kramrisch Stella- **Hindu Temple**, Delhi.

Ram Raz- **Essay on the architeture of the Hindu.**

Sarada HV- **Maharana Kumbha,** Ajmer.

Sukla DN- **Vastushastra (vol-1)**, Delhi.

शिलालेख संग्रह, सूचीपत्रादि

भावनगर इन्सक्रिप्शंस, भावनगर

केटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स, भाग 12

Theodor Aufrect : **Catalogus Catalogorum** , German Research Association, 1891 A.D.

Catalogue of Sankrit Mss in the library of the India office, London.

Two List of Sankrit Mss. in Z.D.M.G. Vol.II

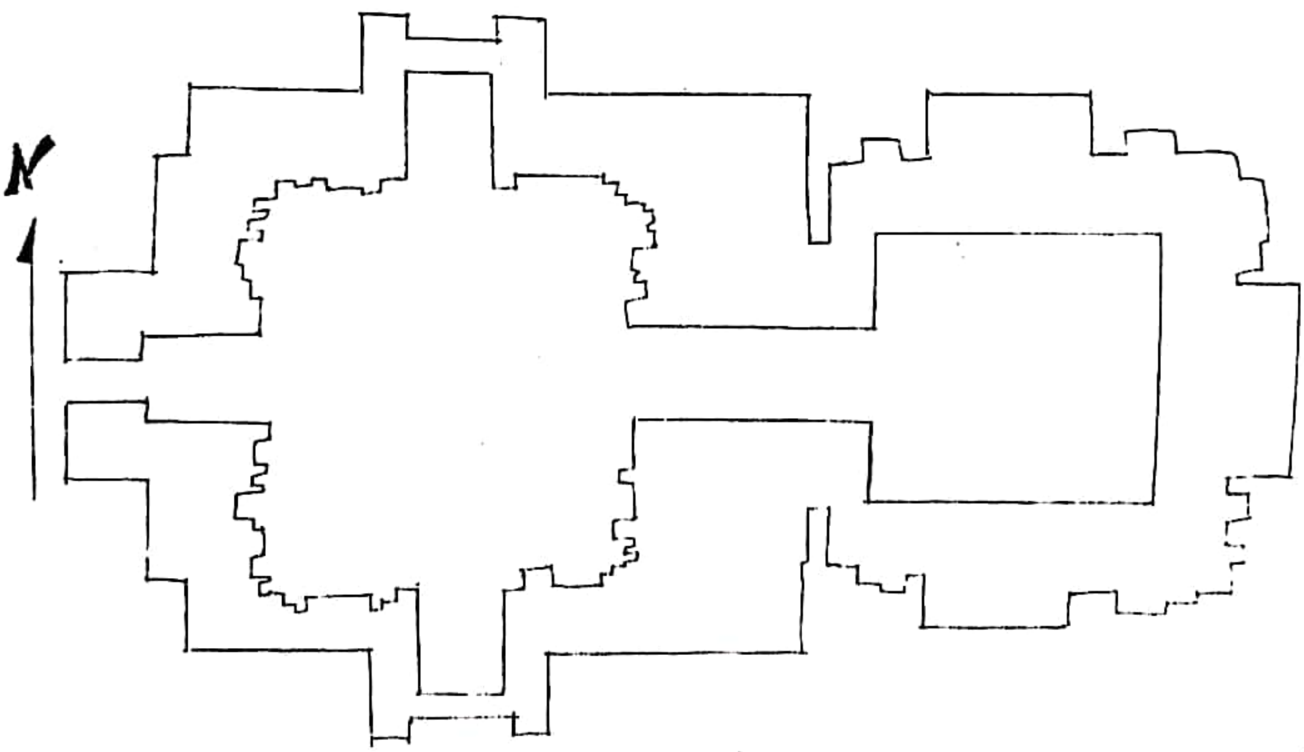
पत्रिकाएं

शोध पत्रिका- राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर

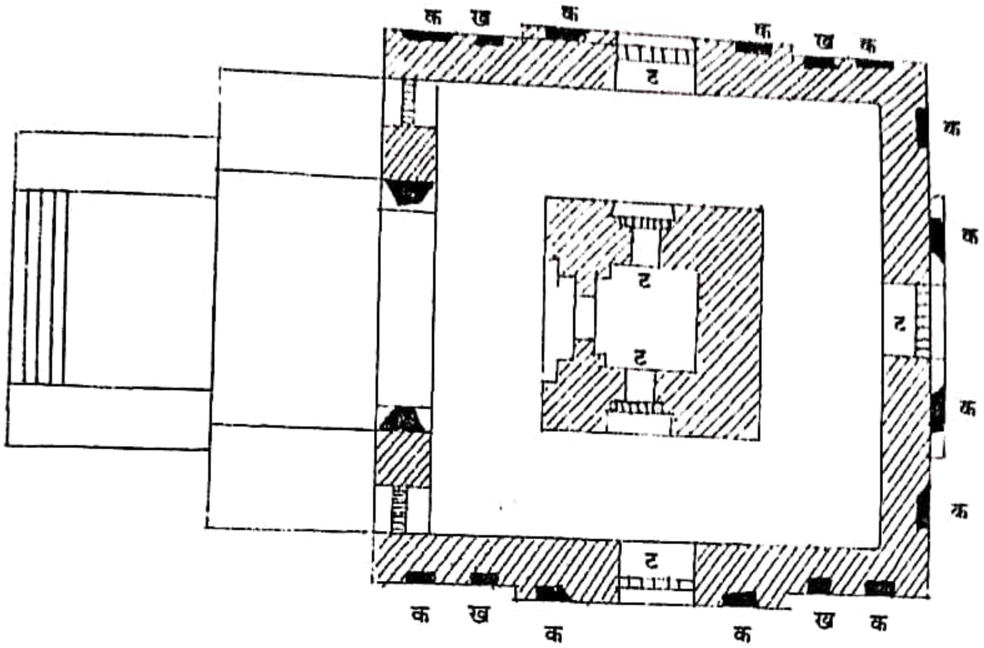
सम्मेलन पत्रिका- कलाङ्क, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1964 ई

राजस्थान भारती : बीकानेर का महाराणा कुम्भा अङ्क, मार्च 1963 ई.

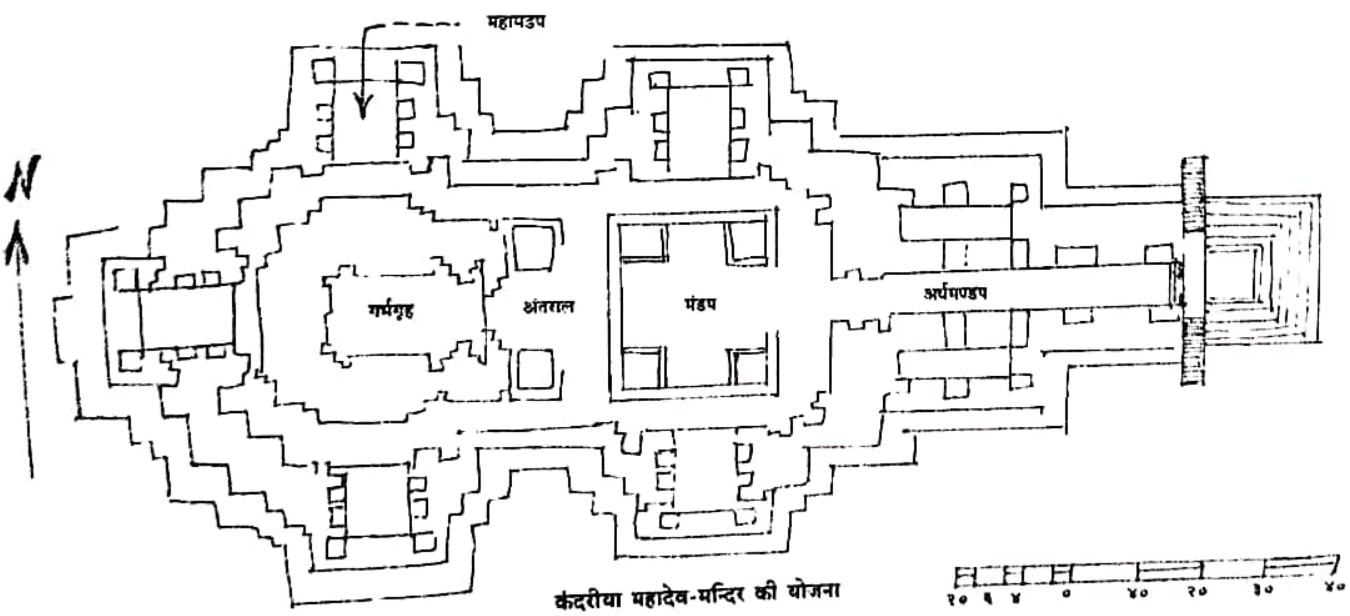
रेखाचित्र एवं छायाचित्र



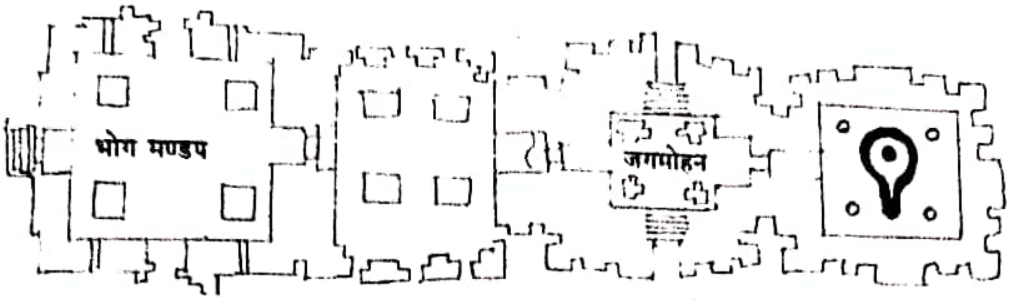
राजारानी- मन्दिर की योजना



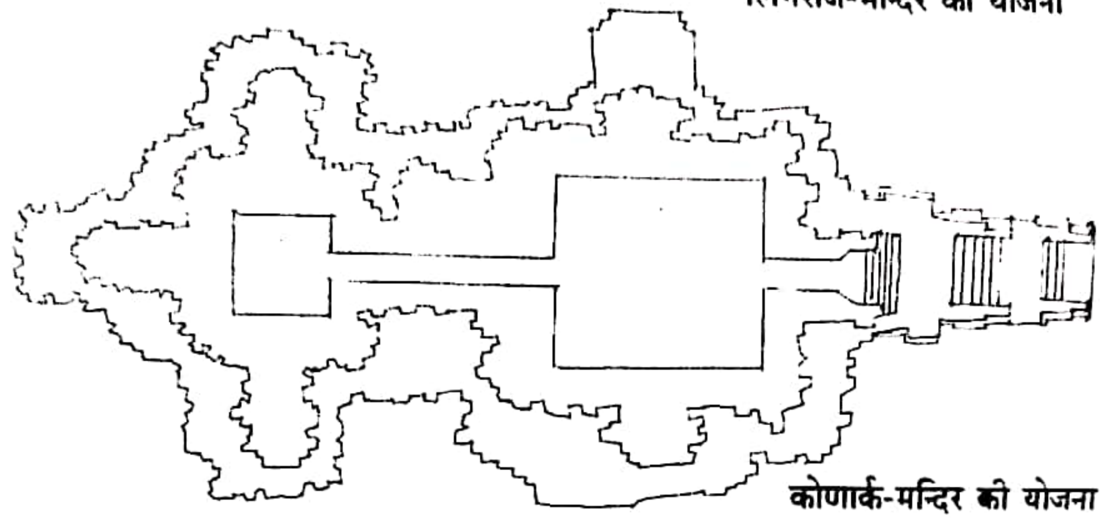
नाचनाकुठारा के पार्वती-मंदिर की योजना



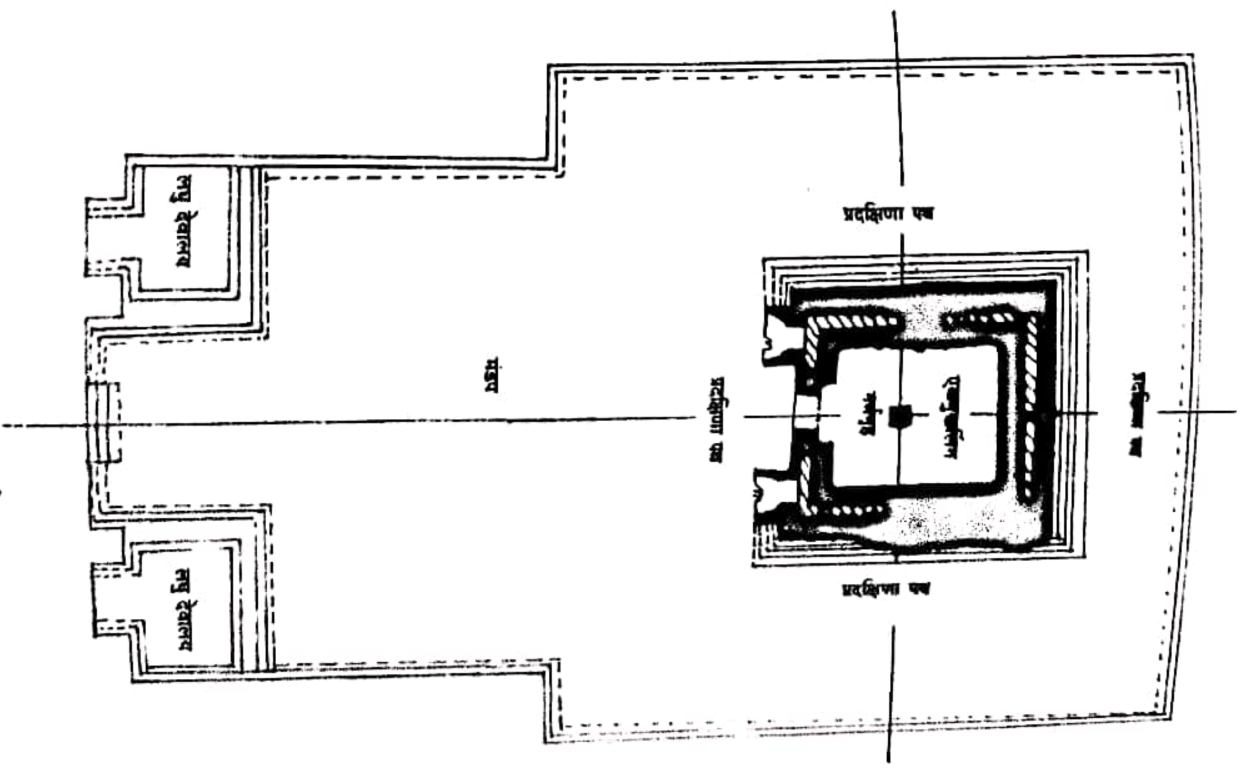
कंदरीया महादेव-मन्दिर की योजना



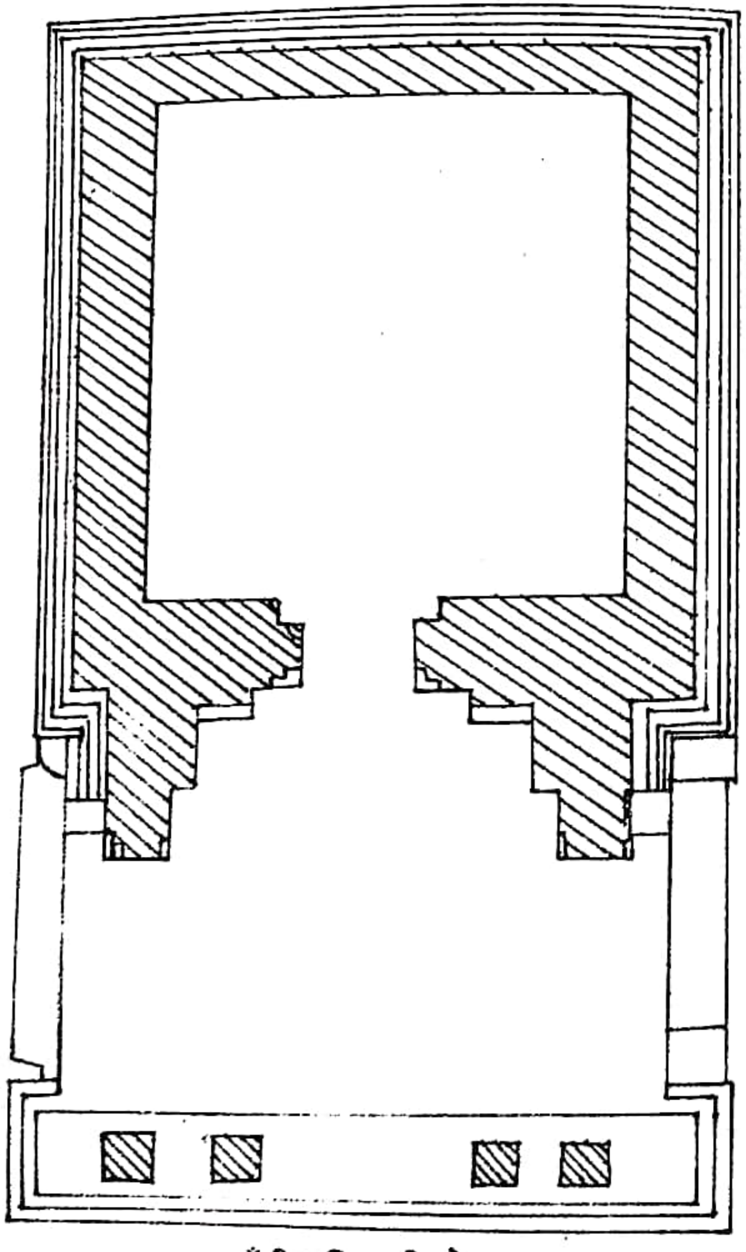
लिंगराज-मन्दिर की योजना



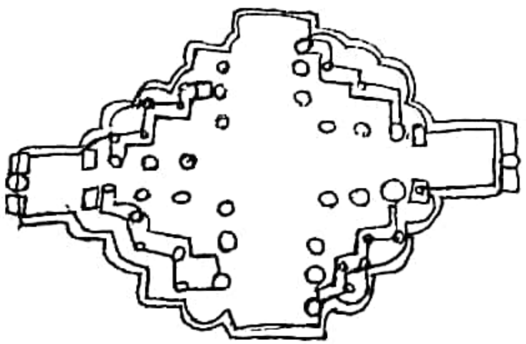
कोणार्क-मन्दिर की योजना

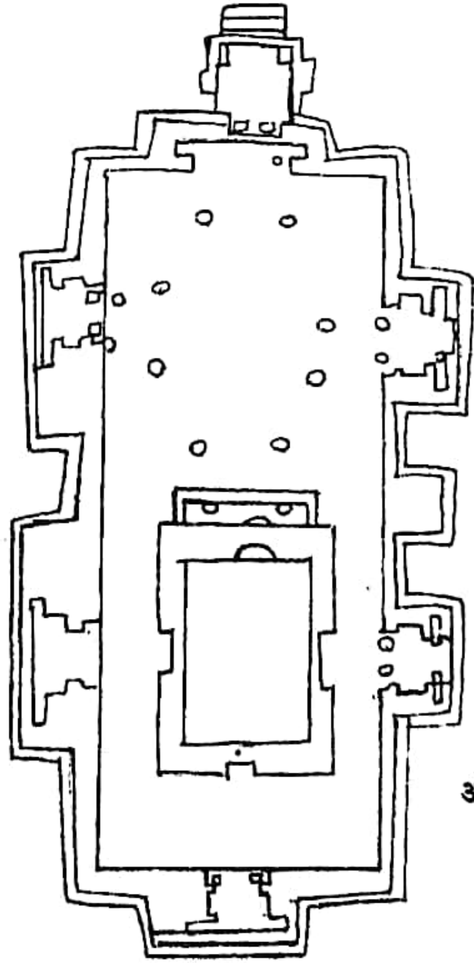


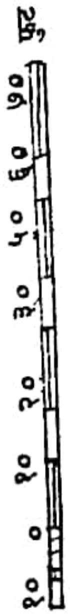
भमरा मन्दिर की योजना



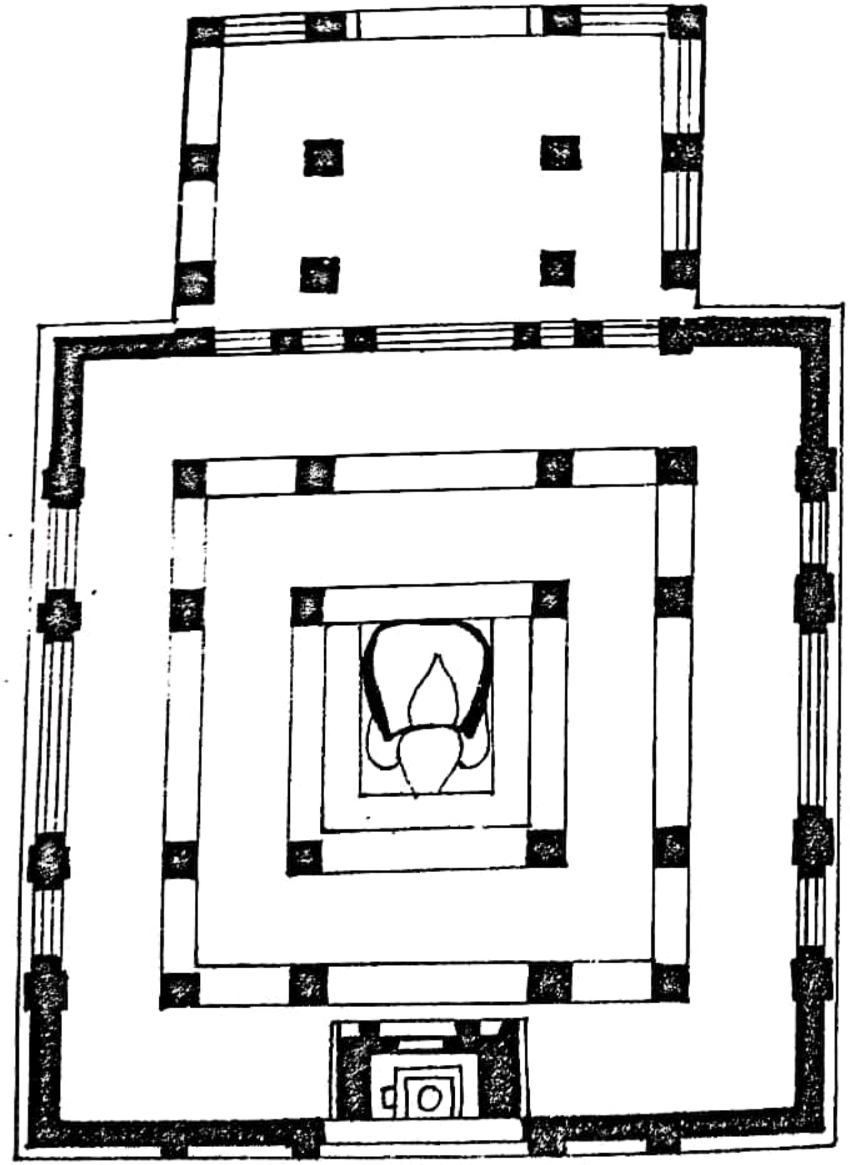
साँची मन्दिर की योजना



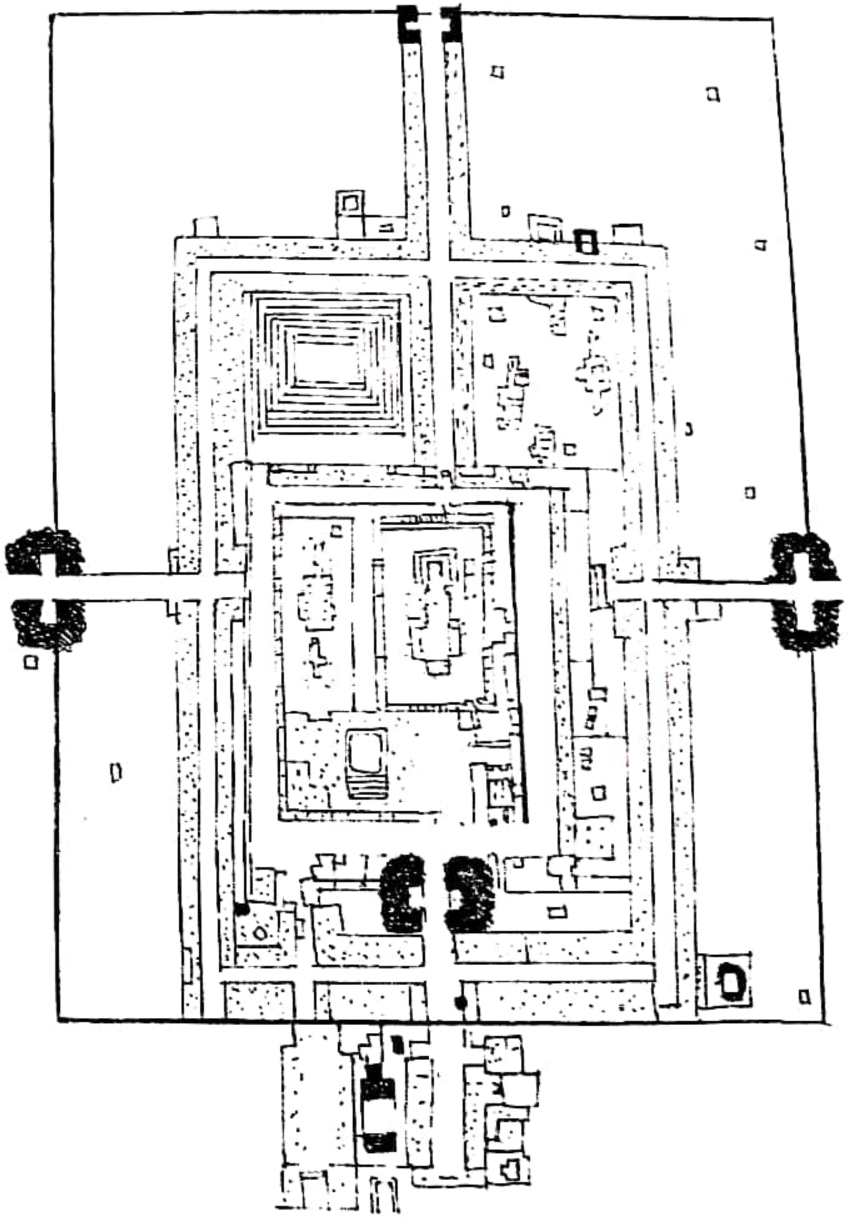




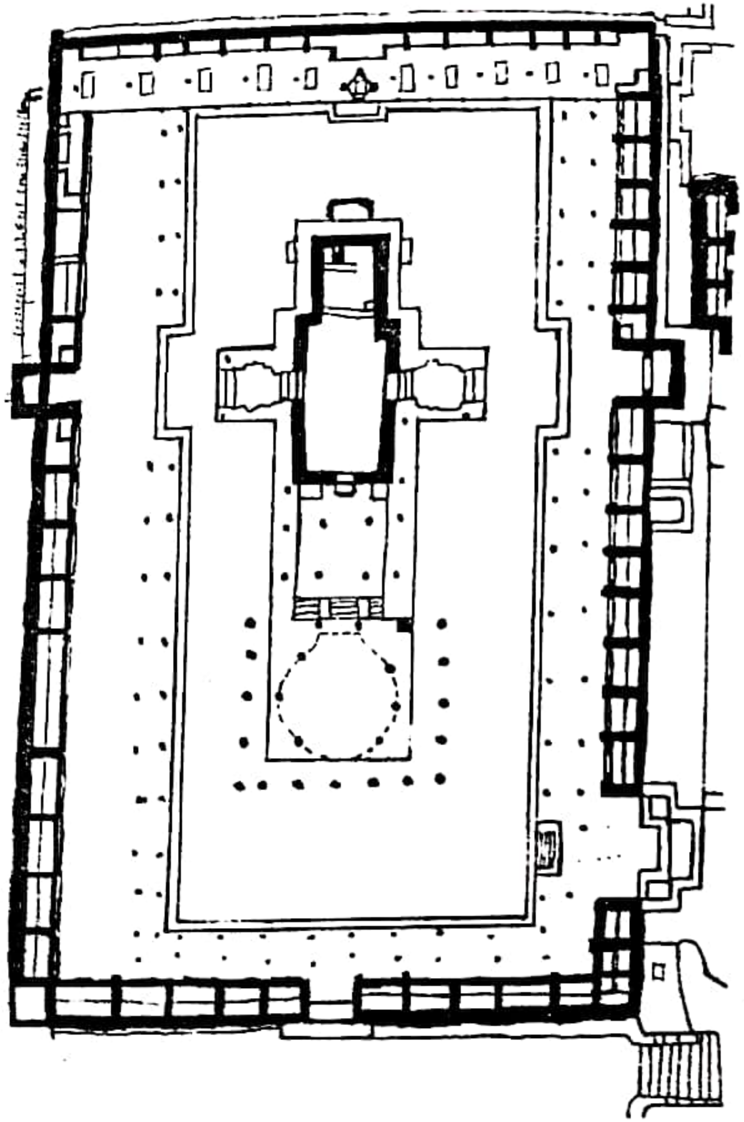
ओसिया के सूर्य मंदिर
की योजना



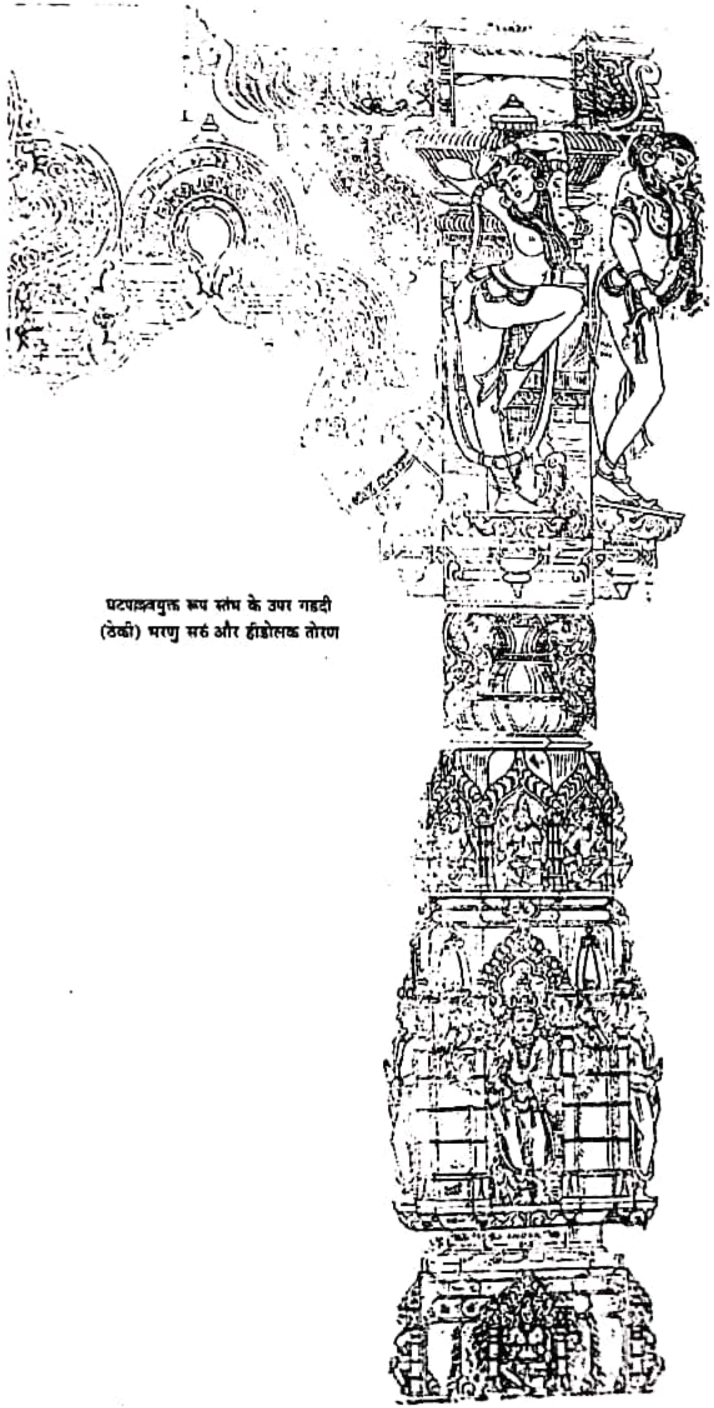
मोधेरा-मंदिर की योजना



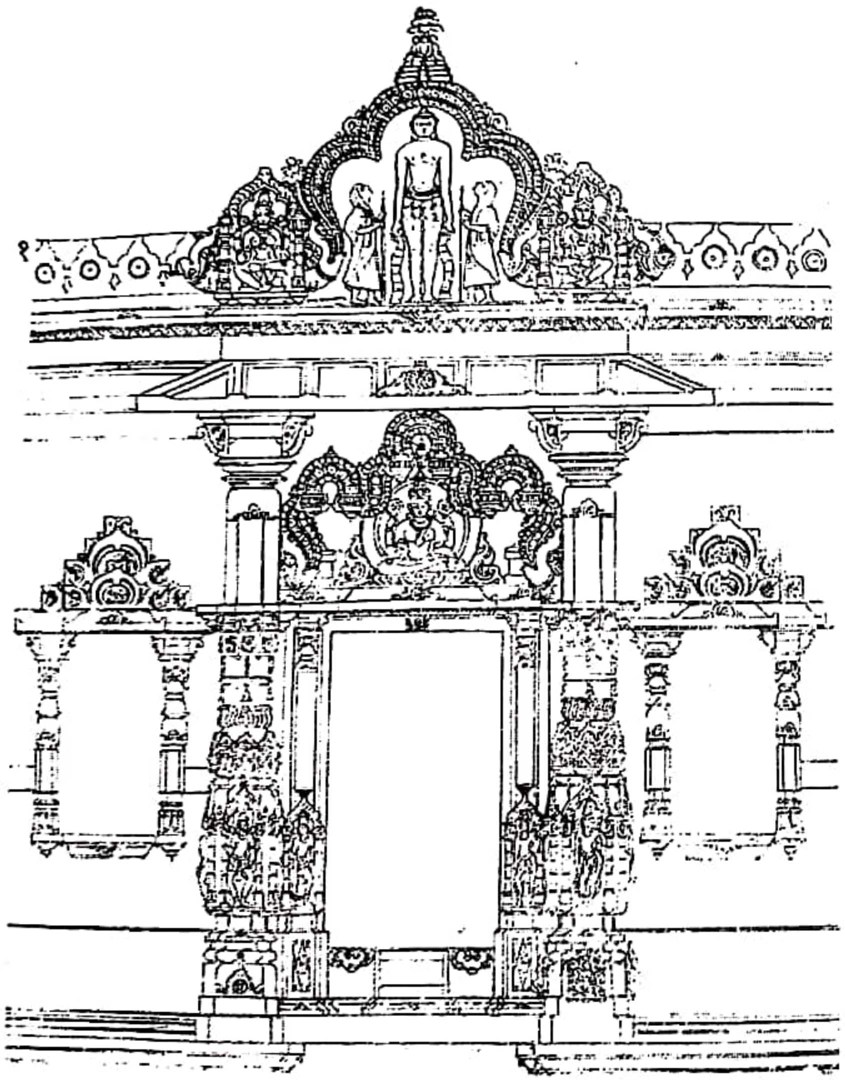
रामेश्वरम्- मन्दिर की योजना



तेजपाल-मन्दिर की योजना, राजस्थान

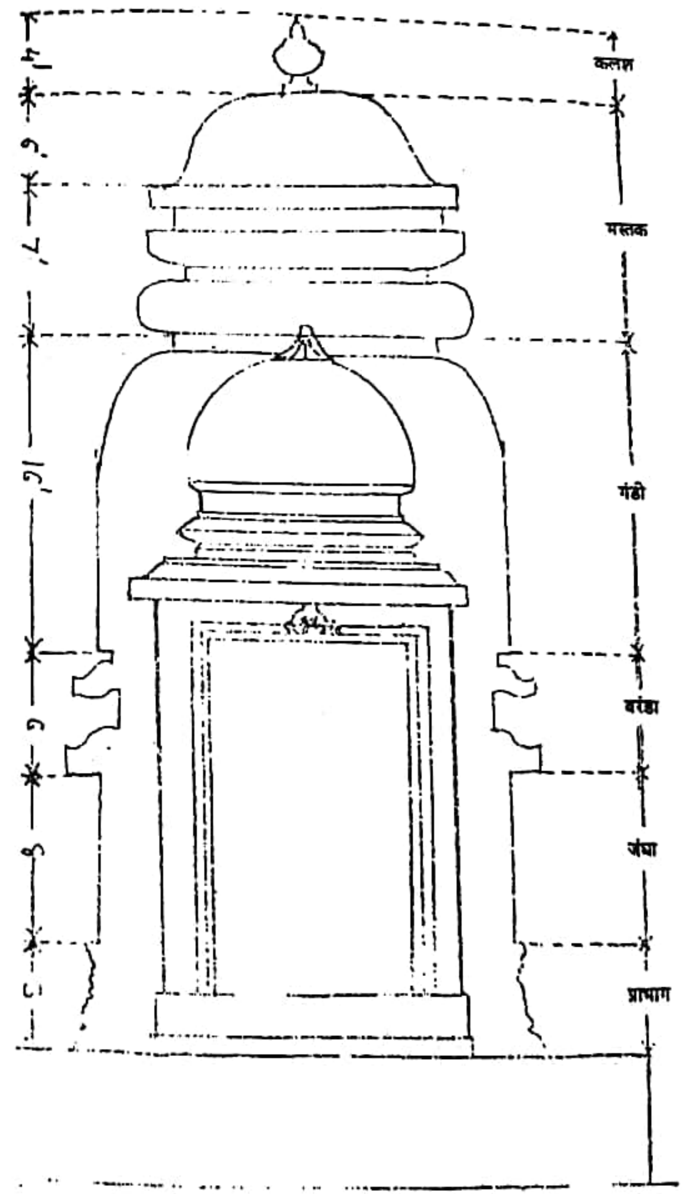


घटपल्लवयुक्त रूप स्तंभ के उपर गड्दी (ठेकी) भरणु सरु और हिंडोलक तोरण

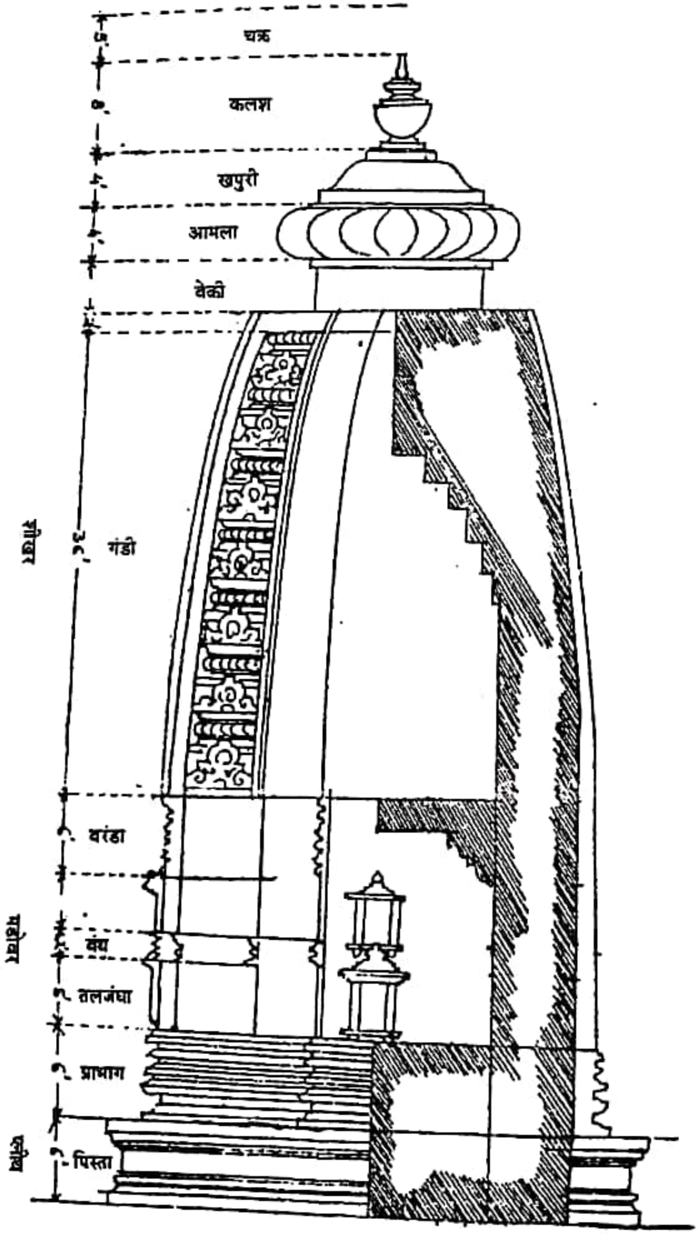


पाटण के अलंकृत मंदिर का सुंदर मुखदर्शन
रथपति प्रभाशंकर चोघडभाई सोमपुरा

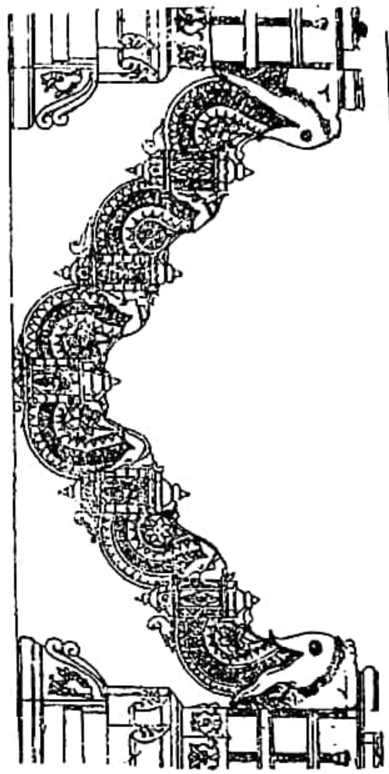
कलिंग ओरिस्सा प्रदेश की प्रासाद शैली



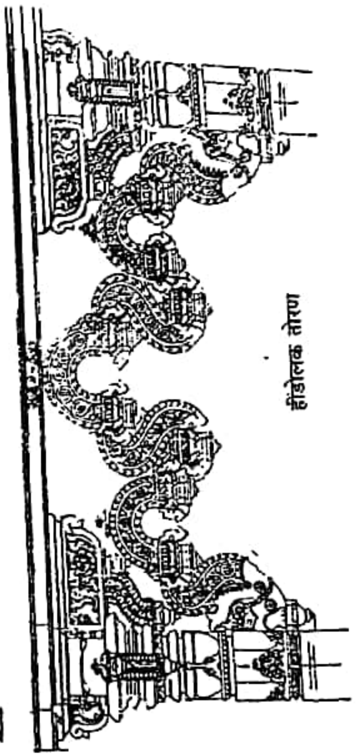
कलींग ओरीसा शीखर (रेखा देवण)



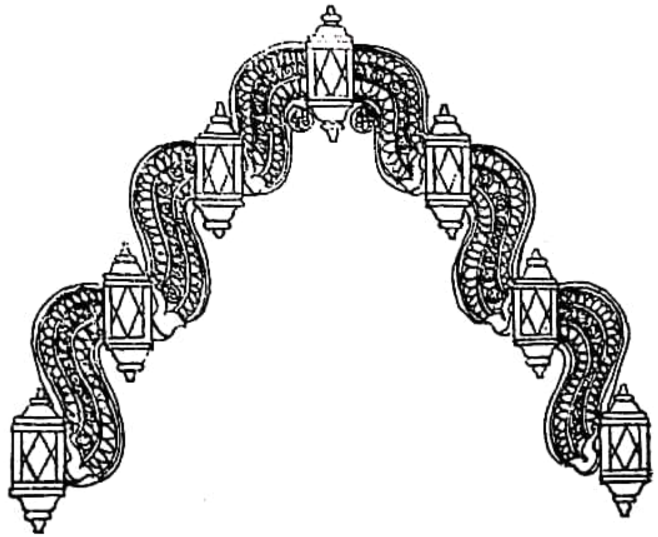
१. पिस्ता, २. प्राभाग, ३. तलजंघा, ४. बंध, ५. बरंडा, ६. गंडी, ७. वेकी (गणु), ८. आमला, ९. खपुरी (चंद्रस), १०. कलश



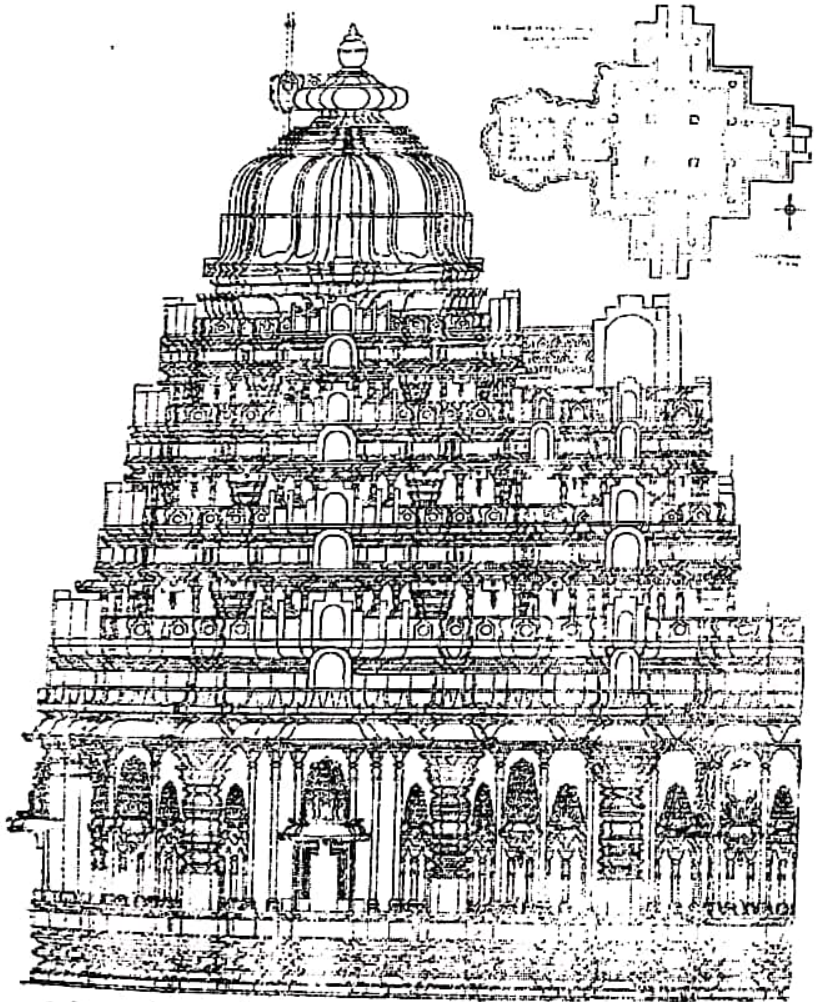
इलिका तोरण



हींडोलक तोरण



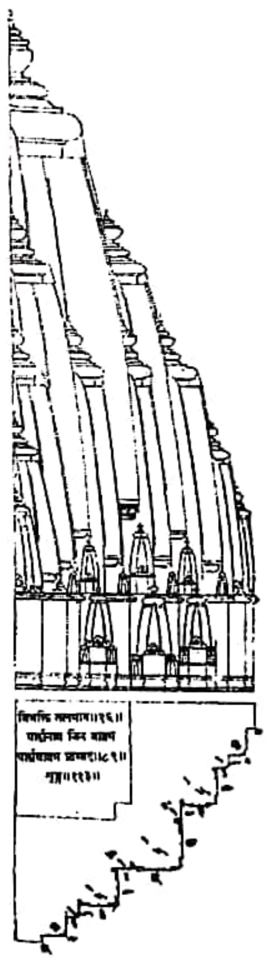
इलिका तोरण

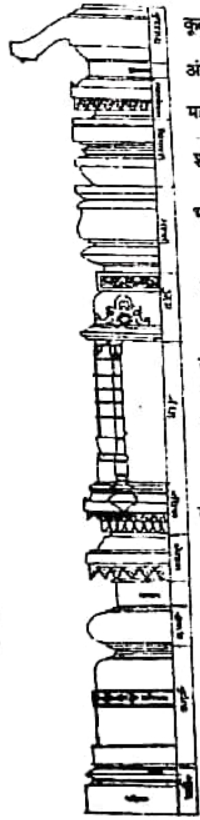


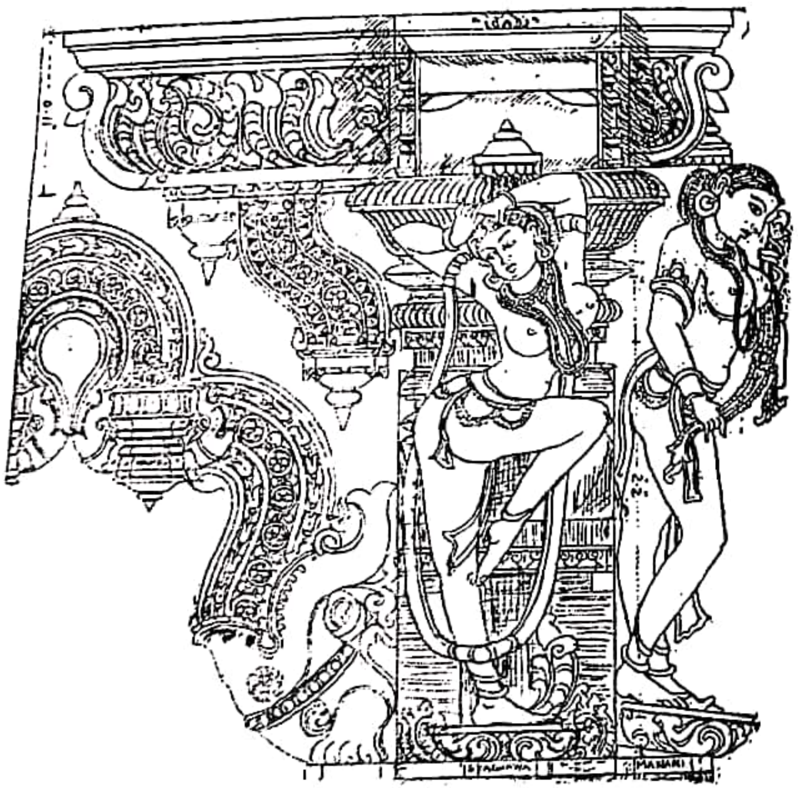
सिद्धेश्वर महादेव हावेरी जिल्ला धारवाड कर्णाटक प्रदेश की शिखर और मंडोवर शैली

श्री मनसुखलाल लालजी भाई के सौजन्य से

पारेवा श्याम पाषाण का सुंदर कलात्मक मंदिर





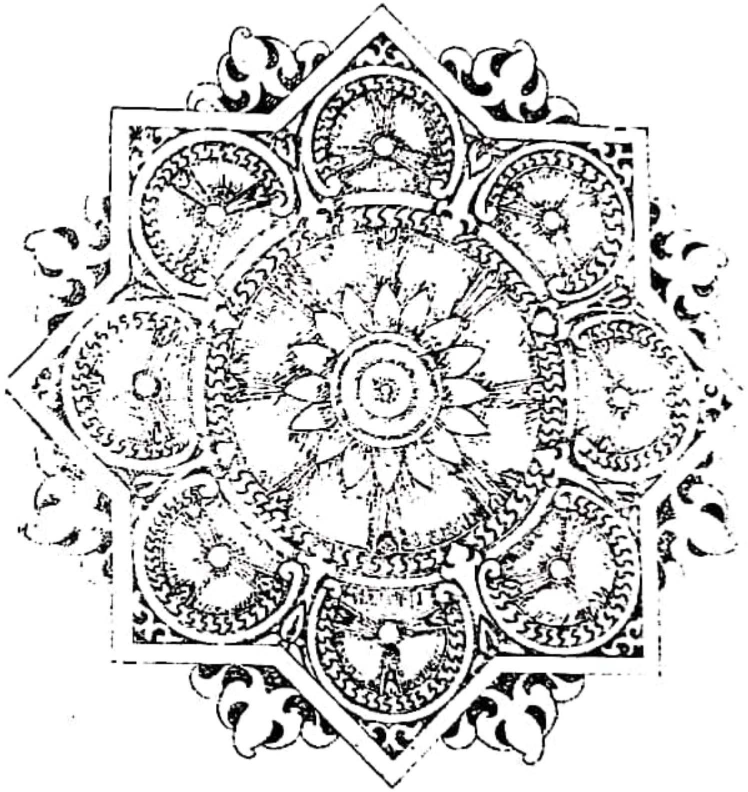


स्तंभ के उपर की गडदी (ठेकी) व्रह्मसरु देवांगनाएँ और हींडोलक तोरण



जाली

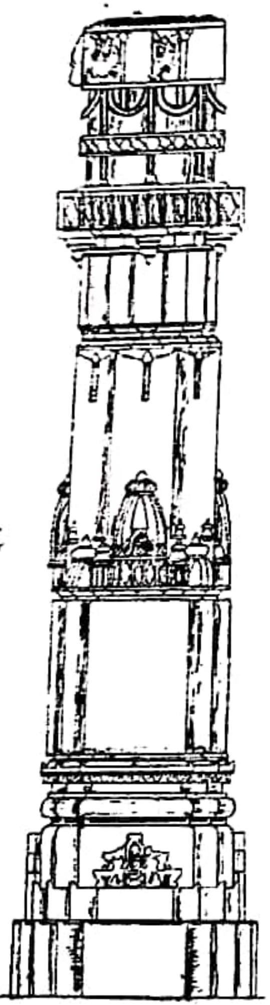
सम उक्षिप्त मंदारक

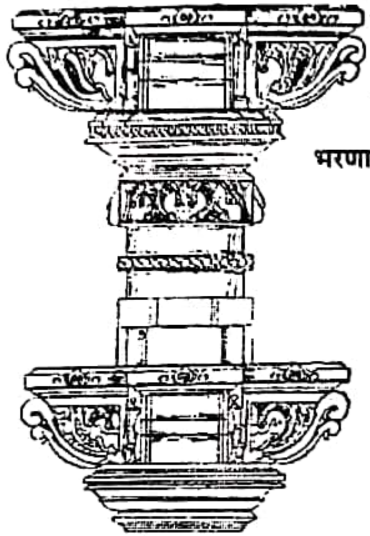


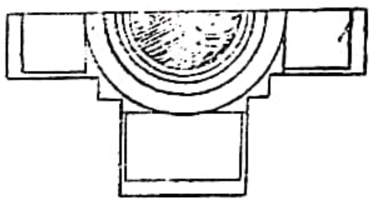
रूपकंठ में विद्याधर



पाट में ब्रह्मराक्षस वैताल



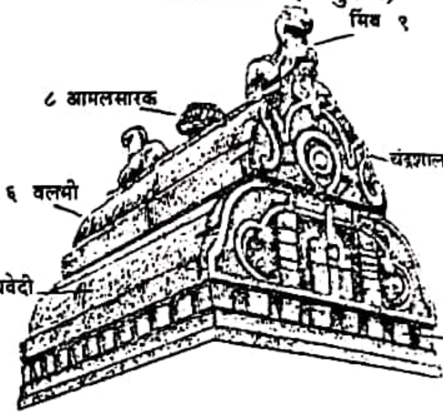


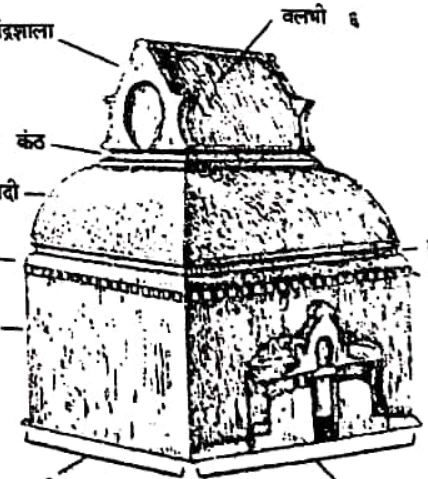




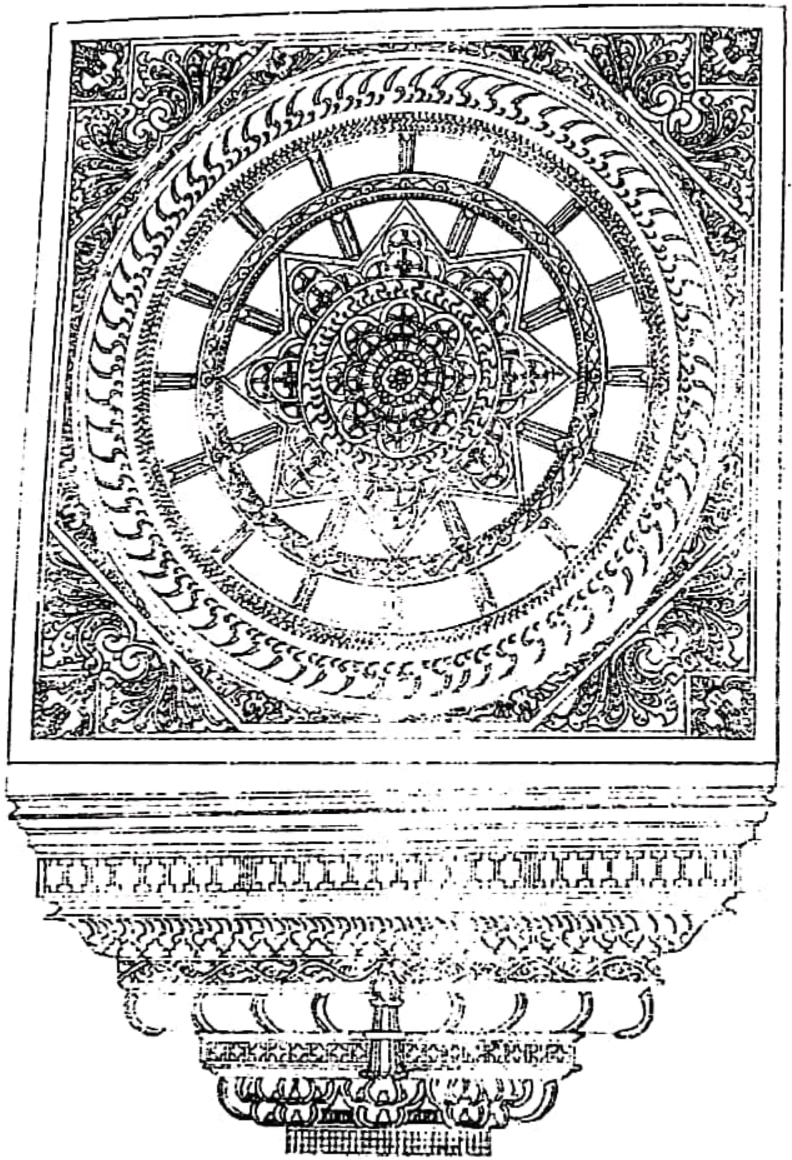
सौराष्ट्र के पश्चिम भाग के ई०स० पूर्व से छठी सदी तक के उत्तरोत्तरचैत्याकार शिखर शैली

वलभिशैली (सादुरूप)



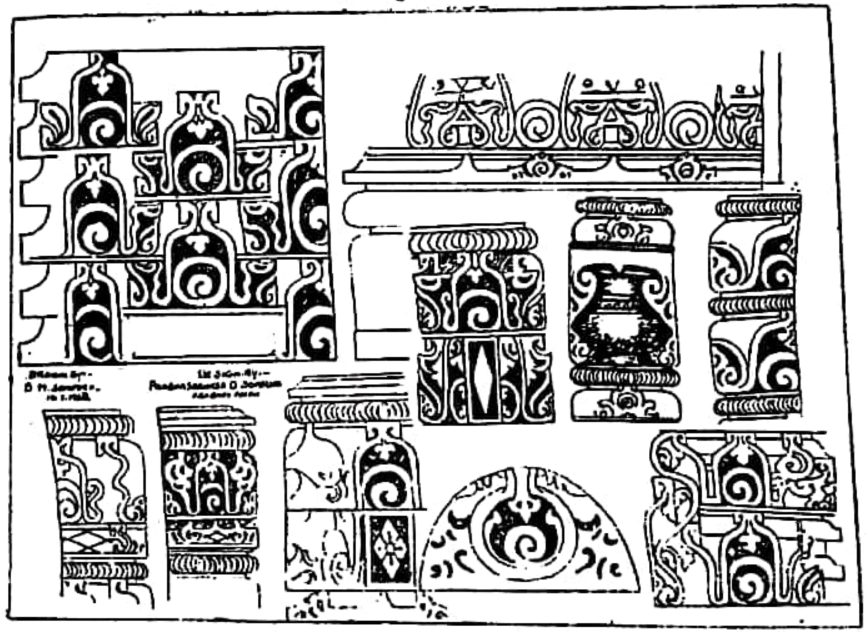


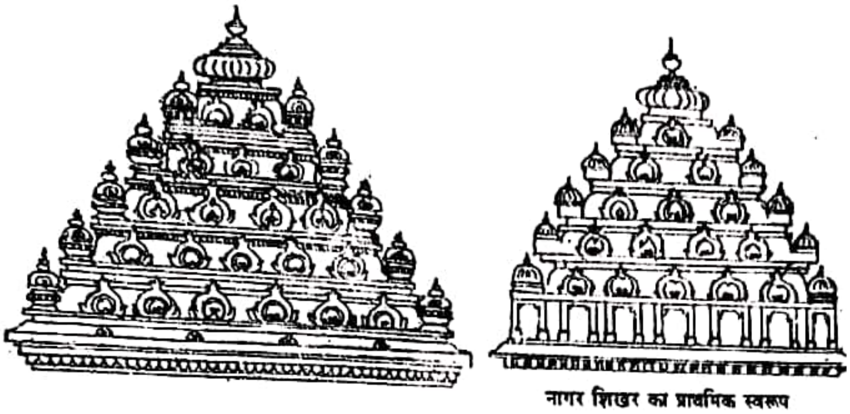
१ गर्भगृह २ कपोत ३ वलितापट्टिका ४ कंठ ५ स्कंधवेदी ६ वलभी ७ चंद्रशाल ८ आमलसारक ९ सिंह



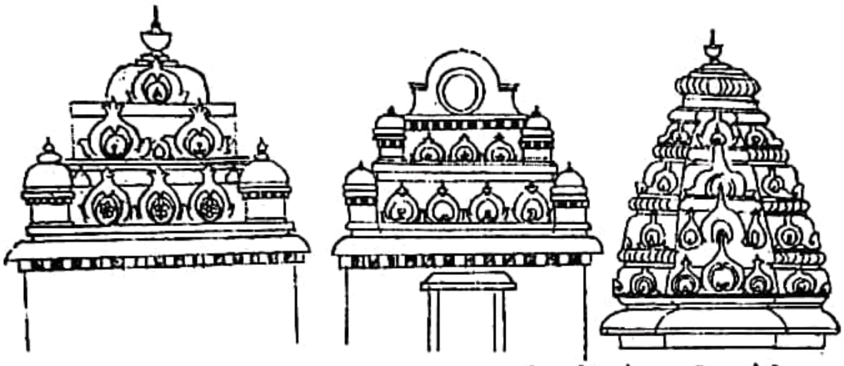
क्षिप्त उत्क्षिप्त सभा मंदारक वितान

शिखर के कुडचल-अलंकृत





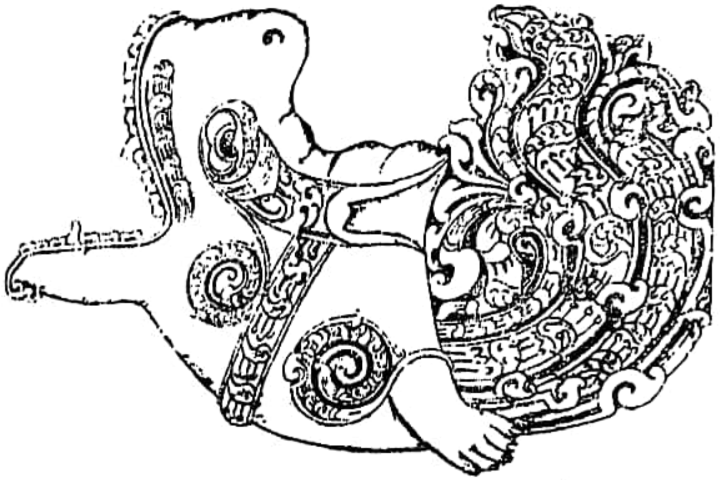
नागर शिखर का प्राथमिक स्वरूप

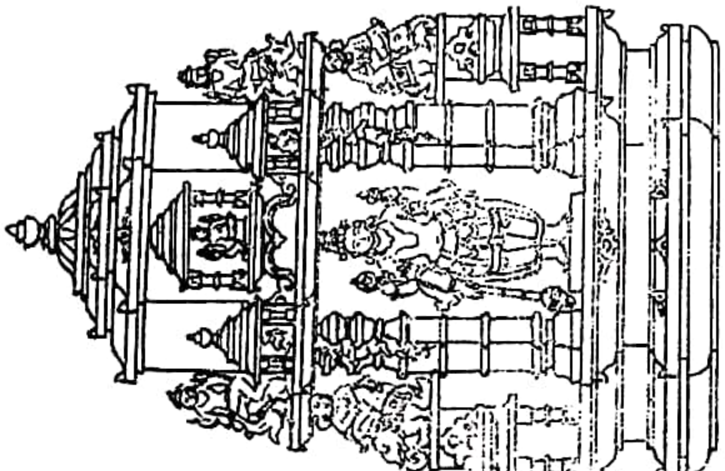


सौराष्ट्र के पश्चिम भाग के ई.स. पूर्व से छट्ठी सदी तक के उत्तरोत्तर चैत्याकार शिखर शैली

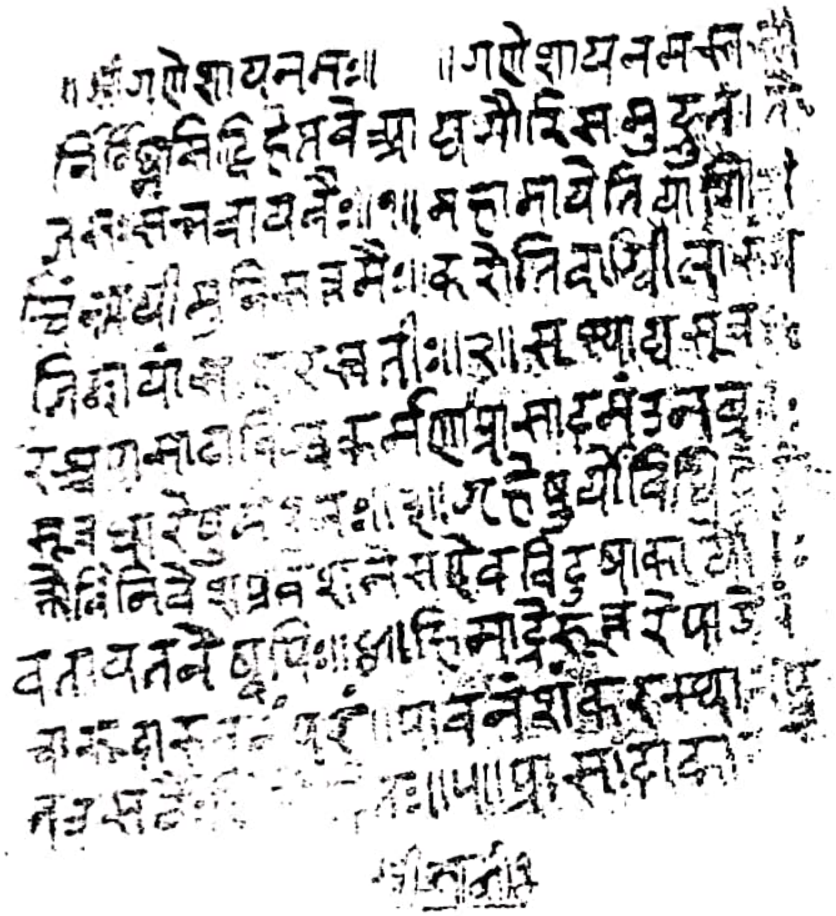


नीरंधारप्रासाद मंदिर का पक्षदर्शन-चतुष्किका-गूढमंडप और गर्भगृह पर शिखर

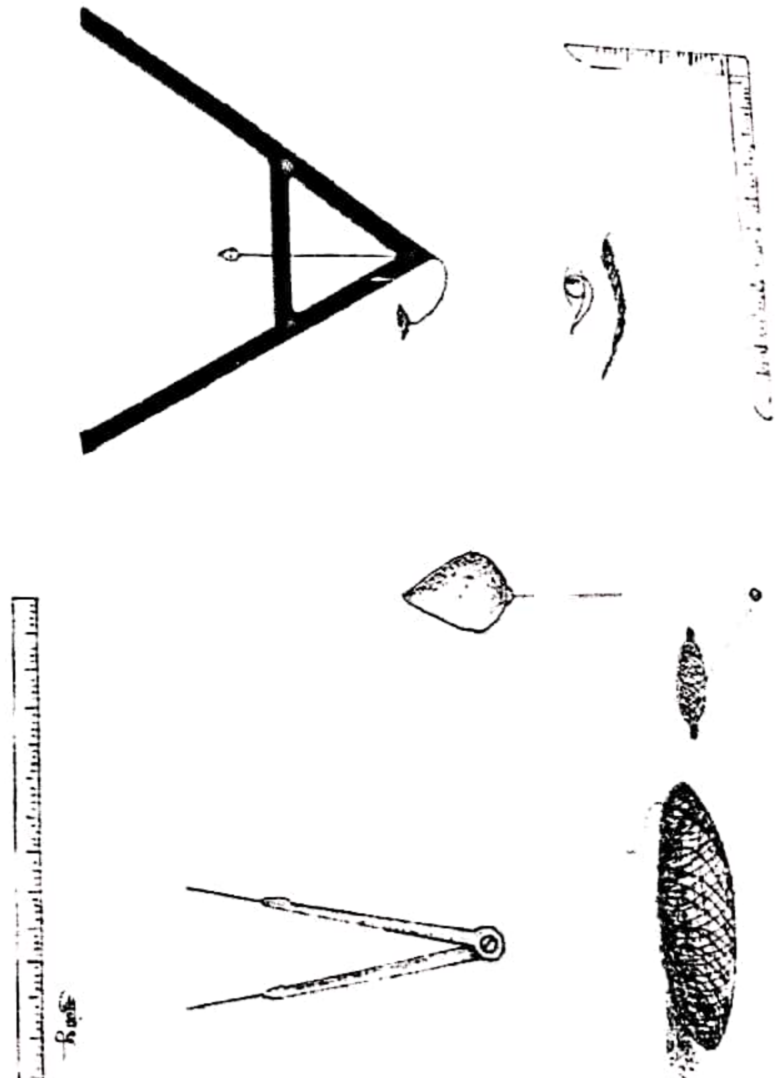

प्रनल का मकर मुख


मंडोवरन भद्र का गवाक्ष

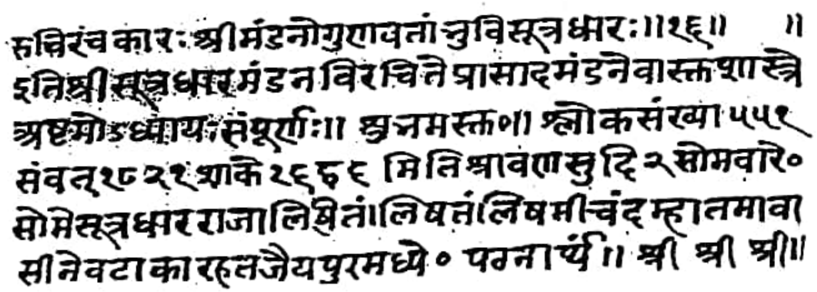

'प्रासादमण्डनं' की मूलमातृका (संवत १८०५) का अंतिम पृष्ठ



'प्रासादमण्डनं' की उदयपुर में विद्यमान एकमातृका
(संवत् १८०५) का प्रथम पृष्ठ



शिल्पियों का मुख्य उपकरण


सचिरंचकार: श्रीमंडनोगुणवतां सुविसूत्रधार: ॥१६॥ ॥
इतिश्री सूत्रधारमंडन विरचिते प्रासादमंडने वास्तुशास्त्रे
अष्टमोऽध्याय: संपूर्ण: ॥ शुभमस्तु ॥ श्लोकसंख्या ५५१
संवत् १८२१ शाके १६८६ मिति श्रावणसुदि २ सोमवारे०
सोमेसूत्रधार राजा लिखितं ॥ लिषतं लिषमीचंद म्हातमावा
सीनेवटा का रहतजैयपुरमध्ये० पठनार्थं ॥ श्री श्री श्री॥

उदयपुर में विद्यमान 'प्रासादमण्डनं' की एक अन्य मातृका (संवत् १८२१) का अंतिम पृष्ठ।

वास्तुविज्ञान एवं शिल्प ग्रंथों के सृजन एवं सम्पादनकर्ताओं में मेवाड़ के महाराणा कुम्भकर्ण (1433-68ई.) के आश्रित सूत्रधार श्रीमण्डन का नाम अविस्मरणीय है। मण्डन ने जहां प्रतिमा लक्षण ग्रंथों में देवतामूर्ति प्रकरणम् अपरनाम रूपावतार तथा रूपमण्डनम् की रचना की, वहीं वास्तुमण्डनम्, वास्तुसारमण्डनम्, आयतत्त्वम्, वास्तुशास्त्रम्, और राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् जैसे स्थापत्य विषयक विविध ग्रंथों के साथ ही देववास्तु विज्ञान के प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में प्रासादमण्डनम् का प्रणयन भी किया। इस ग्रंथ की महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें देवालयों के निर्माण के विविध अङ्गों, उपाङ्गों पर विस्तार से विमर्श किया गया है। प्रासादमण्डनम् में आठ अध्याय हैं- मिश्रक लक्षण, जगती दृष्टिदोषायतनाधिकार, भिट्ट पीठ मण्डोवर गर्भगृहोदुम्बरप्रमाण, प्रतिमादृष्टिपदस्थान शिखर ध्वज कलश लक्षणाधिकार, वैराज्यादि प्रासादपञ्चविंशत्याधिकार, केसर्यादि प्रासादजातिलक्षण पञ्चक्षेत्रपञ्चचत्वारिंशन् मेरुलक्षण, मण्डप-बलाणक-संवरणाधिकार, जीर्णोद्धार विधि दोषार्देवपुरराजपुराणि मण्डपस्यदिङ्निर्देशाधिकार।

इन अध्यायों में मन्दिर निर्माण का लगभग समग्र कार्य आ जाता है। मण्डन ने पूर्ववर्ती कई ग्रंथों से सार-सार को ग्रहणकर इस ग्रंथरत्न की रचना की। मन्दिर निर्माण के लिए भूमिचयन से लेकर शिखर प्रतिष्ठा तक के विषय इस ग्रंथ में विद्यमान हैं। विभिन्न संस्कृत छंदों में इसका लेखन हुआ है। इसमें विश्वकर्मा, मत्स्य, नारद, जय, अपराजित, मय, मान, वराहमिहिर, हेमाद्रि, लल्लाचार्य, श्रीपति, भास्कराचार्य आदि के वास्तु और ज्योतिष विद्या के सिद्धांतों और व्यवहारों का भी उचित परिपाक हुआ है।

वास्तु-शिल्प ग्रंथों के सुधी संपादक डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू' ने प्रासादमण्डनम् के उपलब्ध विभिन्न पाठों, मातृकाओं के आधार पर इसका सुंदर संपादन करते हुए स्तरीय, सुरुचिपूर्ण अनुवाद तो किया है ही, मंडन के पूर्ववर्ती और प्रमुख उपस्कारक ग्रंथों के उद्धरणों के आलोक में देवालयों के अङ्गों, रचनाओं की प्रामाणिक परंपरा को भी उकेरा है। विभिन्न स्थलों पर विषयों के स्पष्टार्थ तालिकाओं, रेखाङ्कनों, चित्रों आदि से इस ग्रंथ के प्रतिपाद्य को विवेचित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। साथ ही इसके लेखन, नामाभिधान के संदर्भ में नवीन स्थापनाएं भी दी हैं। जब तक आस्था एवं विश्वास के स्थलों के रूप में देवालयों का निर्माण होता रहेगा, यह ग्रंथ वास्तुविज्ञानियों के लिए उपादेय सिद्ध होता रहेगा।

डॉ. श्रीकृष्ण 'जुगनू'

राजस्थान के चित्तौड़ जिले के आकोला ग्राम में 2 अक्टूबर, 1964 को जन्म।

स्वशिक्षित- अधिस्नातक (प्राचीन भारतीय इतिहास, हिंदी एवं अंग्रेजी)

पी-एच.डी.- मेवाड़ प्रदेश का क्षीड़ साहित्य (राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

अन्य- पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा एवं शिक्षास्नातक (सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर)

इतिहास-पुरातत्त्व, शिल्प, कला, स्थापत्य, शिक्षा, धर्म व संस्कृति जैसे विषयों के अध्ययन-अध्यापन, अनुसंधान और लेखन में गहरी रुचि तथा एतद् विषयक स्थलों का यथा संभव टोही भ्रमण। इन्हीं विषयों पर वर्ष 1978 से अद्यावधि पांच हजार से अधिक आलेखों का देश के प्रतिष्ठित पत्रों-पत्रिकाओं में सचित्र प्रकाशन। दर्जनों शिलालेखों, सुरह लेखों, ताम्रपत्रों, पट्टों, पाण्डुलिपियों, लिपियों का अध्ययन और मूलपाठ का अक्षरान्तर, प्रकाशन और अनुवाद।

राकेट (बाल मासिक) रङ्गायन (लोक संस्कृति विषयक त्रैमासिक) सहित एक दर्जन स्मारिकाओं का संपादन। राजस्थान का लोक पहनावा (मानव संसाधन विकास मंत्रालय के लिए शोध सर्वेक्षण), भलाभाई बुराभाई (राजस्थानी लोककथाएं), मेवाड़ के लोक नृत्य, विवाह की बंदनवाल (मेवाड़ के विवाह गीत), चितचोरचित्तौड़; दर्शनीय उदयपुर व मेवाड़ के मन्दिर, मंदिर श्रीअंबामाताजी उदयपुर तथा लोकशक्तिपीठ आसावरा माता, मेवाड़ की जनजातीय व लोकसंस्कृति आदि कृतियां। महाराणा प्रताप के दरबारी पण्डित चक्रपाणि मिश्र कृत राज्याभिषेकपद्धति, मुहूर्तमाला एवं विश्ववल्लभ-वृक्षायुर्वेद का संपादन। श्रीपतिभट विरचित ज्योतिषरत्नमाला, सुरपालकृत वृक्षायुर्वेद का पहली बार संपादन।

वास्तु व शिल्पशास्त्रों में मनुष्यालयचन्द्रिका, वास्तुसारमण्डनम्, आयतत्त्वम्, वत्थुसारपयरणम्, वास्तु एवं शिलाचयन, राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् तथा देवतामूर्तिप्रकरणम्, वास्तुमण्डनम्, कलानिधि, वास्तुमञ्जरी का शोधपूर्ण भूमिका सहित अनुवाद। प्रस्तुत ग्रंथ देववास्तुविद्याविषयक प्रासादमण्डनम् का आलोचनापाठ, भूमिका सहित संपादन। मयमतम्, समराङ्गणसूत्रधार, विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्, काश्यपशिल्पम् के भाषानुवाद में संलग्न।

आकाशवाणी, दूरदर्शन से काव्यपाठ, कहानी, वार्ता, रूपकों का वर्ष 1983 से प्रसारण।